अनुक्रम

1. वह पूर्ण है 2
2. वह परम भोग है 18
3. वह निमित्त है 31
4. वह अतिक्रमण है 45
5. वह समत्व है 59
6. वह स्वयंभू है 72
7. वह अव्याख्य है 87
8. वह चैतन्य है 101
9. वह ज्योतिर्मय है 116
10. वह ब्रह्म है 127
11. वह शून्य है 141
12. असतो मा सद्गमय 154
13. ओम् शांतिः शांतिः शांतिः 166

ईशावास्य उपनिषद
पहला प्रवचन

वह पूर्ण है

ओम पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ओम शांतिः शांतिः शांतिः।

ओम वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है। तथा पूर्ण का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही बच रहता है।
ओम शांति, शांति, शांति।

यह महावाक्य कई अर्थों में अनूठा है। एक तो इस अर्थ में कि ईशावास्य उपनिषद इस महावाक्य पर शुरू भी होता है और पूरा भी। जो भी कहा जाने वाला है, जो भी कहा जा सकता है, वह इस सूत्र में पूरा आ गया है। जो समझ सकते हैं, उनके लिए ईशावास्य आगे पढ़ने की कोई भी जरूरत नहीं है। जो नहीं समझ सकते हैं, शेष पुस्तक उनके लिए ही कही गई है।
इसीलिए साधारणतः ओम शांतिः शांतिः शांतिः का पाठ, जो कि पुस्तक के अंत में होता है, इस पहले वचन के ही अंत में है। जो जानते हैं, उनके हिसाब से बात पूरी हो गई है। जो नहीं जानते हैं, उनके लिए सिर्फ शुरू होती है। इसलिए भी यह महावाक्य बहुत अदभुत है कि पूरब और पश्चिम के सोचने के ढंग का भेद इस महावाक्य से स्पष्ट होता है। दो तरह के तर्क, दो तरह की लाजिक सिस्टम्स विकसित हुई हैं दुनिया में-- एक यूनान में, एक भारत में। यूनान में जो तर्क की पद्धति विकसित हुई उससे पश्चिम के सारे विज्ञान
का जन्म हुआ और भारत में जो विचार की पद्धति विकसित हुई उससे धर्म का जन्म हुआ। दोनों में कुछ बुनियादी भेद हैं। और सबसे पहला भेद यह है कि पश्चिम में, यूनान ने जो तर्क की पद्धति विकसित की, उसकी समझ है कि निष्कर्ष, कनक्लूजन हमेशा अंत में मिलता है। साधारणतः ठीक मालूम होगी बात। हम खोजेंगे सत्य को, खोज पहले होगी, विधि पहले होगी, प्रक्रिया पहले होगी, निष्कर्ष तो अंत में हाथ आएगा। इसलिए यूनानी चिंतन पहले सोचेगा, खोजेगा, अंत में निष्कर्ष देगा।
भारत ठीक उलटा सोचता है। भारत कहता है, जिसे हम खोजने जा रहे हैं, वह सदा से मौजूद है। वह हमारी खोज के बाद में प्रगट नहीं होता, हमारे खोज के पहले भी मौजूद है। जिस सत्य का उदघाटन होगा वह सत्य, हम नहीं थे, तब भी था। हमने जब नहीं खोजा था, तब भी था। हम जब नहीं जानते थे, तब भी उतना ही था, जितना जब हम जान लेंगे, तब होगा। खोज से सत्य सिर्फ हमारे अनुभव में प्रगट होता है। सत्य निर्मित नहीं होता। सत्य हमसे पहले मौजूद है। इसलिए भारतीय तर्कणा पहले निष्कर्ष को बोल देती है फिर प्रक्रिया की बात करती है-- दि कनक्लूजन फर्स्ट, देन दि मैथडलाजी एंड दि प्रोसेस। पहले निष्कर्ष, फिर प्रक्रिया। यूनान में पहले प्रक्रिया, फिर खोज, फिर निष्कर्ष।
इससे एक बात और ख्याल में ले लेनी चाहिए। जो लोग सोच-विचार करके सत्य
को पाएंगे, उनके लिए यूनान की तर्क-पद्धति ठीक मालूम पड़ेगी। सोचना- विचारना ऐसे है जैसे मैं एक छोटे से दीए को लेकर महा अंधकार से घिरी हुई रात्रि में कुछ खोजने को निकलूं। रात है बड़ी, अंधेरा है बहुत, दीए की रोशनी बहुत कम, दो-चार कदमों तक पड़ती है। कुछ दिखाई पड़ता है, बहुत कुछ अनदिखा रह जाता है। जो दिखाई पड़ता है, उसके बाबत जो भी निष्कर्ष लिए जाते हैं, वे टेन्टेटिव, अस्थायी होंगे। क्योंकि थोड़ी देर बाद कुछ और भी दिखाई पड़ेगा, जिसके दिखाई पड़ने के बाद निष्कर्ष को बदलना जरूरी होगा। फिर थोड़ी देर बाद कुछ और दिखाई पड़ेगा, और निष्कर्ष को पुनः बदलना जरूरी होगा।
इसलिए पश्चिम का विज्ञान, चूंकि यूनान के तर्क को मानकर चलता है, उसका कोई भी निष्कर्ष अंतिम नहीं हो सकता। उसके सभी निष्कर्ष अस्थायी, कामचलाऊ, अभी जितना जानते हैं उस पर आधारित हैं। कल जो जाना जाएगा उससे बदलाहट हो जाएगी।

इसलिए पश्चिम का कोई भी सत्य निरपेक्ष, एब्सोल्यूट नहीं है, पूर्ण नहीं है। सभी सत्य अपूर्ण हैं। और यह बड़े मजे की बात है कि सत्य अपूर्ण हो नहीं सकता। जो भी अपूर्ण होगा वह असत्य ही होगा। और जिसे हमें कल बदलना पड़ेगा वह आज भी सत्य नहीं था, सिर्फ मालूम पड़ता था। जिसे हमें कभी भी नहीं बदलना पड़ेगा वही सत्य हो सकता है। इसलिए पश्चिम में जिसे वे सत्य कहते हैं, वह केवल आज जितना हम जानते हैं उस जानने पर निर्भर असत्य है, जो कि कल के जानने से रूपांतरित होगा, परिवर्तित होगा।
भारत की पद्धति सत्य को दीया लेकर खोजने की नहीं है। भारत की पद्धति ऐसी है जैसे अंधेरी रात हो, गहन अंधकार हो और बिजली कौंध जाए। बिजली कौंधे और सभी कुछ एक साथ, साइमलटेनियसली दिखाई पड़ जाए। थोड़ा पहले दिखाई पड़े, थोड़ा बाद में दिखाई पड़े, फिर थोड़ा बाद में दिखाई पड़े, ऐसा नहीं है-- रिविलेशन हो जाए, सब एकदम से उघड़ जाए। सब रास्ते-- दूर क्षितिज तक फैले हुए-- सभी कुछ जो है, बिजली की कौंध में इकट्ठा दिखाई पड़ जाए। फिर उसमें बदलने का कोई उपाय न रह जाए, पूरा ही जान लिया गया।
यूनान में जिसे वे तर्क कहते हैं, वह विचार के द्वारा सत्य की खोज है। भारत में हम जिसे अनुभूति कहते हैं, प्रज्ञा कहते हैं-- कहें पश्चिम में जिसे हम लाजिक कहते हैं और पूरब में जिसे इंट्यूशन कहते हैं-- यह प्रज्ञा बिजली की कौंध की तरह सारी चीजों को एक साथ प्रगट कर जाने वाली है। इसलिए सत्य पूरा का पूरा जैसा है वैसा ही प्रतिफलित होता है। फिर उसमें कुछ परिवर्तन करने का उपाय नहीं रह जाता।
इसलिए महावीर ने जो कहा है, उसमें बदलने की कोई जगह नहीं है। कृष्ण ने
जो कहा है, उसमें बदलने की कोई जगह नहीं है। बुद्ध ने जो कहा है, उसमें बदलने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए कभी-कभी पश्चिम के लोग चिंतित और विचार में पड़ जाते हैं कि महावीर को हुए पच्चीस सौ साल हुए, क्या उनकी बात अभी भी सही है? ठीक है उनका पूछना। क्योंकि पच्चीस सौ साल में अगर दीए से हम सत्य को खोजते हों, तो पच्चीस हजार बार बदलाहट हो जानी चाहिए। रोज नए तथ्य आविष्कृत होंगे और पुराने तथ्य को हमें रूपांतरित करना पड़ेगा।
लेकिन महावीर, बुद्ध या कृष्ण के सत्य रिविलेशन हैं। दीया लेकर खोजे
गए नहीं-- निर्विचार की कौंध, निर्विचार की बिजली की चमक में देखे गए और जाने गए, उघाड़े गए सत्य हैं। जो सत्य महावीर ने जाना उसमें महावीर एक-एक कदम सत्य को नहीं जान रहे हैं, अन्यथा पूर्ण सत्य कभी भी नहीं जाना जा सकेगा। महावीर पूरे के पूरे सत्य को एक साथ जान रहे हैं।
इस महावाक्य से मैं यह आपको कहना चाहता हूं कि इस छोटे से दो वचनों के महावाक्य में पूरब की प्रज्ञा ने जो भी खोजा है, वह सभी का सब इकट्ठा मौजूद है। वह पूरा का पूरा मौजूद है। इसलिए भारत में हम निष्कर्ष पहले, कनक्लूजन पहले, प्रक्रिया बाद में। पहले घोषणा कर देते हैं, सत्य क्या है, फिर वह सत्य कैसे जाना जा सकता है, वह सत्य कैसे जाना गया है, वह सत्य कैसे समझाया जा सकता है, उसके विवेचन में पड़ते हैं। यह घोषणा है। जो घोषणा से ही पूरी बात समझ ले, शेष किताब बेमानी है। पूरे उपनिषद में अब और कोई नई बात नहीं कही जाएगी। लेकिन बहुत-बहुत मार्गों से इसी बात को पुनः-पुनः कहा जाएगा। जिनके पास बिजली कौंधने का कोई उपाय नहीं है, जो कि जिद पकड़कर बैठे हैं कि दीए से ही सत्य को खोजेंगे, शेष उपनिषद उनके लिए है। अब दीए को पकड़कर, बाद की पंक्तियों में एक-एक टुकड़े के सत्य की बात की जाएगी। लेकिन पूरी बात इसी सूत्र पर हो जाती है। इसलिए मैंने कहा कि यह सूत्र अनूठा है। सब इसमें पूरा कह दिया गया है। उसे हम समझ लें, क्या कह दिया गया है!
कहा है कि पूर्ण से पूर्ण पैदा होता है, फिर भी पीछे सदा पूर्ण शेष रह जाता है। और अंत में, पूर्ण में पूर्ण लीन हो जाता है, फिर भी पूर्ण कुछ ज्यादा नहीं हो जाता है; उतना ही होता है, जितना था।
यह बहुत ही गणित-विरोधी वक्तव्य है, बहुत एंटी-मैथमेटिकल है। पीड़ी.आस्पेंस्की ने एक किताब लिखी है। किताब का नाम है, टर्शियम आर्गानम। किताब के शुरू में उसने एक छोटा सा वक्तव्य दिया है। पीड़ी.आस्पेंस्की रूस का एक बहुत बड़ा गणितज्ञ था। बाद में, पश्चिम के एक बहुत अदभुत फकीर गुरजिएफ के साथ वह एक रहस्यवादी संत हो गया। लेकिन उसकी समझ गणित की है-- गहरे गणित की। उसने अपनी इस अदभुत किताब के पहले ही एक

वक्तव्य दिया है, जिसमें उसने कहा है कि दुनिया में केवल तीन अदभुत किताबें हैं; एक किताब है अरिस्टोटल की-- पश्चिम में जो तर्क-शास्त्र का पिता है, उसकी-- उस किताब का नाम हैः आर्गानम। आर्गानम का अर्थ होता है, ज्ञान का सिद्धांत। फिर आस्पेंस्की ने कहा है कि दूसरी महत्वपूर्ण किताब है रोजर बैकन की, उस किताब का नाम हैः नोवम आर्गानम-- ज्ञान का नया सिद्धांत। और तीसरी किताब वह कहता है मेरी है, खुद उसकी, उसका नाम हैः टर्शियम आर्गानम-- ज्ञान का तीसरा सिद्धांत। और इस वक्तव्य को देने के बाद उसने एक छोटी सी पंक्ति लिखी है जो बहुत हैरानी की है। उसमें उसने लिखा है, बिफोर दि फर्स्ट एक्झिस्टेड, दि थर्ड वाज़। इसके पहले कि पहला सिद्धांत दुनिया में आया, उसके पहले भी तीसरा था।
पहली किताब लिखी है अरस्तू ने दो हजार साल पहले। दूसरी किताब लिखी है तीन सौ साल पहले बैकन ने। और तीसरी किताब अभी लिखी गई है कोई चालीस साल पहले। लेकिन आस्पेंस्की कहता है कि पहली किताब थी दुनिया में उसके पहले तीसरी किताब मौजूद थी। और तीसरी किताब उसने अभी चालीस साल पहले लिखी है! जब भी कोई उससे पूछता कि यह क्या पागलपन की बात है? तो आस्पेंस्की कहता कि यह जो मैंने लिखा है, यह मैंने नहीं लिखा, यह मौजूद था, मैंने सिर्फ उदघाटित किया है।
न्यूटन नहीं था, तब भी जमीन में ग्रेविटेशन था। तब भी जमीन पत्थर को ऐसे ही खींचती थी जैसे न्यूटन के बाद खींचती है। न्यूटन ने ग्रेविटेशन के सिद्धांत को रचा नहीं, उघाड़ा। जो ढंका था, उसे खोला। जो अनजाना था, उसे परिचित बनाया। लेकिन न्यूटन से बहुत पहले ग्रेविटेशन था, नहीं तो न्यूटन भी नहीं हो सकता था। ग्रेविटेशन के बिना तो न्यूटन भी नहीं हो सकता, न्यूटन के बिना ग्रेविटेशन हो सकता है। जमीन की कशिश न्यूटन के बिना हो सकती है, लेकिन न्यूटन जमीन की कशिश के बिना नहीं हो सकता। न्यूटन के पहले भी जमीन की कशिश थी, लेकिन जमीन की कशिश का पता नहीं था।
आस्पेंस्की कहता है कि उसका तीसरा सिद्धांत पहले सिद्धांत के भी पहले मौजूद था। पता नहीं था, यह दूसरी बात है। और पता नहीं था, यह कहना भी शायद ठीक नहीं। क्योंकि आस्पेंस्की ने अपनी पूरी किताब में जो कहा है, वह इस छोटे से सूत्र में आ गया है। आस्पेंस्की की टर्शियम आर्गानम जैसी बड़ी कीमती किताब-- .। मैं भी कहता हूं कि उसका दावा झूठा नहीं है। जब वह कहता है कि दुनिया में तीन महत्वपूर्ण किताबें हैं और तीसरी मेरी है, तो किसी अहंकार के कारण नहीं कहता। यह तथ्य है। उसकी किताब इतनी ही कीमती है। अगर वह न कहता, तो वह झूठी विनम्रता होती। वह सच कह रहा है। विनम्रतापूर्वक कह रहा है। यही बात ठीक है। उसकी किताब इतनी ही महत्वपूर्ण है। लेकिन उसने जो भी कहा है पूरी किताब में, वह इस छोटे से सूत्र में आ गया है।
उसने पूरी किताब में यह सिद्ध करने की कोशिश की कि दुनिया में दो तरह
के गणित हैं। एक गणित है, जो कहता है, दो और दो चार होते हैं। साधारण गणित है। हम सब जानते हैं। साधारण गणित कहता है कि अगर हम किसी चीज के अंशों को जोड़ें, तो वह उसके पूर्ण से ज्यादा कभी नहीं हो सकते। साधारण गणित कहता है, अगर हम किसी चीज को तोड़ लें और उसके टुकड़ों को जोड़ें, तो टुकड़ों का जोड़ कभी भी पूरे से ज्यादा नहीं हो सकता है। यह सीधी बात है। अगर हम एक रुपए को तोड़ लें सौ नए पैसे में, तो सौ नए पैसे का जोड़ रुपए से ज्यादा कभी नहीं हो सकता। या कि कभी हो सकता है? अंश का जोड़ कभी भी अंशी से ज्यादा नहीं हो सकता, यह सीधा सा गणित है।
लेकिन आस्पेंस्की कहता है, एक और गणित है, हायर मैथमेटिक्स। एक और ऊंचा गणित भी है और वही जीवन का गहरा गणित है। वहां दो और दो जरूरी नहीं है कि चार ही होते हों। कभी वहां दो और दो पांच भी हो जाते हैं। और कभी वहां दो और दो तीन भी रह जाते हैं। और वह कहता है कि कभी-कभी अंशों का जोड़ पूर्ण से ज्यादा भी हो जाता है।
इसे थोड़ा समझना पड़ेगा। और इसे हम न समझ पाएं, तो ईशावास्य के पहले और अंतिम सूत्र को भी नहीं समझ पाएंगे।
एक चित्रकार एक चित्र बनाता है। अगर हम हिसाब लगाने बैठें, तो रंगों
की कितनी कीमत होती है? कुछ ज्यादा नहीं। कैनवस की कितनी कीमत होती है?

कुछ ज्यादा नहीं। लेकिन कोई भी श्रेष्ठ कृति, कोई भी श्रेष्ठ चित्र, रंग और कैनवस का जोड़ नहीं है, जोड़ से कुछ ज्यादा है-- समथिंग मोर।
एक कवि एक गीत लिखता है। उसके गीत में जो भी शब्द होते हैं, वे सभी शब्द सामान्य होते हैं। उन शब्दों को हम रोज बोलते हैं। शायद ही उस कविता में एकाध ऐसा शब्द मिल जाए जो हम न बोलते हों। न भी बोलते हों, तो परिचित तो होते हैं। फिर भी कोई कविता शब्दों का सिर्फ जोड़ नहीं है। शब्दों के जोड़ से कुछ ज्यादा है-- समथिंग मोर।
एक व्यक्ति सितार बजाता है। सितार को सुनकर हृदय पर जो परिणाम होते हैं, वे केवल ध्वनि के आघात नहीं हैं। ध्वनि के आघात से कुछ ज्यादा हम तक पहुंच जाता है।
इसे ऐसा समझें-- एक व्यक्ति आंख बंद करके आपके हाथ को प्रेम से छूता है, स्पर्श वही होता है; वही व्यक्ति क्रोध से भरकर आपके हाथ को छूता है, स्पर्श वही होता है। जहां तक स्पर्श के शारीरिक मूल्यांकन का सवाल है, दोनों स्पर्श में कोई बुनियादी फर्क नहीं होता। फिर भी जब कोई प्रेम से भरकर हृदय को छूता है, तो उसी छूने में से कुछ निकलता है जो बहुत भिन्न है। और जब कोई क्रोध से छूता है, तो कुछ निकलता है जो बिल्कुल और है। और कोई अगर बिल्कुल निष्पक्षता से, तटस्थता से छूता है, तो कुछ भी नहीं निकलता है। छूना एक सा है, स्पर्श एक सा है।
अगर हम भौतिकशास्त्री से पूछने जाएंगे, तो वह कहेगा कि हाथ पर एक आदमी
ने हाथ को छुआ, कितना दबाव पड़ा, दबाव नापा जा सकता है। हाथ पर कितना विद्युत का आघात पड़ा, वह भी नापा जा सकता है। एक हाथ से दूसरे हाथ में कितनी ऊष्मा, कितनी गर्मी गई, वह भी नापी जा सकती है। लेकिन वह ऊष्मा, वह हाथ का दबाव, किसी भी रास्ते से बता न सकेगा कि जिस आदमी ने छुआ उसने क्रोध से छुआ था कि प्रेम से छुआ था। फिर भी स्पर्श के भेद हम अनुभव करते हैं। निश्चित ही स्पर्श, केवल हाथ की गर्मी, हाथ का दबाव, विद्युत के प्रभाव का जोड़ नहीं है, कुछ ज्यादा है।
जीवन कुछ श्रेष्ठतर गणित पर निर्भर है। यहां जिन चीजों को हमने जोड़ा था, उनसे नई चीज पैदा हो जाती है, उनसे श्रेष्ठतर का जन्म हो जाता है, उनसे महत्वपूर्ण पैदा हो जाता है। क्षुद्रतम से भी महत्वपूर्ण पैदा हो जाता है।
जिंदगी साधारण गणित नहीं है। बहुत श्रेष्ठतर, गहरा, सूक्ष्म गणित है। ऐसा गणित है जहां आंकड़े बेकार हो जाते हैं। जहां गणित के जोड़ और घटाने के नियम बेकार हो जाते हैं। और जिस आदमी को गणित के पार, जिंदगी के रहस्य का पता नहीं है, उस आदमी को जिंदगी का कोई भी पता नहीं है।
इस महावाक्य में बड़ी अजीब बातें कही गई हैं, हायर मैथमेटिक्स की। कहा
है कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, फिर भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। साधारण गणित के हिसाब से बिल्कुल गलत बात है। अगर हम किसी भी चीज में से कुछ निकाल लेंगे, तो उतना ही शेष नहीं रह सकता जितना था। कुछ कम हो जाएगा। हो ही जाना चाहिए; अन्यथा हमारे निकाले हुए का क्या हुआ? अगर मैं एक तिजोरी में से दस रुपए निकाल लूं, उसमें अरबों रुपए भरे हों, तो भी कम हो गए। दस पैसे भी निकाल लूं, तो भी कम हो गए। उतना ही शेष नहीं रह सकता जितना पहले था। कितनी ही बड़ी तिजोरी हो-- कुबेर का खजाना हो कि सोलोमन का-- अगर दस नए पैसे भी हमने उसमें से निकाले, तो अब तिजोरी उतनी ही नहीं है जितनी थी, कुछ कम हो गई। और कितना ही बड़ा खजाना हो, अगर हम दस कौड़ी भी उसमें डाल दें, तो अब उतनी ही नहीं रही जितनी थी। कुछ जुड़ गई और ज्यादा हो गई।
लेकिन यह सूत्र कहता है कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, थोड़ा भी नहीं--
दस पैसे नहीं निकालते, पूरी तिजोरी ही बाहर निकाल लेते हैं-- पूर्ण से पूर्ण ही बाहर निकाल लेते हैं, फिर भी पीछे पूर्ण ही शेष रह जाता है। या तो किसी पागल ने कहा है, जिसे गणित का कोई भी पता नहीं। पहली कक्षा का विद्यार्थी भी जानता है कि हम कुछ निकालेंगे, तो पीछे कमी हो जाएगी। और थोड़ा निकालेंगे, तो भी कमी हो जाएगी। अगर पूरा निकाल लेंगे, तब तो पीछे कुछ भी नहीं बचना चाहिए। पर यह सूत्र कहता है कि कुछ नहीं, पूरा ही बच जाता है। तब निश्चित ही, तिजोरी को ही जो समझते हैं, वे इसे नहीं समझ पाएंगे। तब किसी और दिशा से समझना पड़ेगा।

जब आप किसी को प्रेम देते हैं, तो आपके पास प्रेम कम होता है? आप पूरा
ही प्रेम दे डालते हैं, तब भी आपके पास कुछ कमी हो जाती है? नहीं। आदमी के पास इस सूत्र को समझने के लिए जो निकटतम शब्द है वह प्रेम है। उससे ही हमें पकड़ना पड़ेगा। सच तो यह है कि प्रेम आप कितना ही दे डालें, उतना ही बच रहता है जितना था। उसमें कोई भी कमी नहीं आती। बल्कि कुछ तो कहते हैं कि वह और बढ़ जाता है। जितना आप देते हैं, उतना बढ़ जाता है। जितना आप बांटते हैं, उतना गहन होता चला जाता है। जितना लुटाते हैं, उतना ही पाते हैं कि और-और उपलब्ध होता चला जा रहा है। जो अपने सारे प्रेम को फेंक दे बाहर, वह अनंत प्रेम का मालिक हो जाता है।
पूर्ण से पूर्ण निकल आए और पीछे पूर्ण ही शेष रह जाए, तो इसका अर्थ हुआ
कि यह गणित से नहीं समझाया जा सकेगा, प्रेम से समझना पड़ेगा। इसलिए जो आइंस्टीन के पास समझने जाएंगे, वे नहीं समझ पाएंगे। मीरा के पास समझने जाएं, तो शायद समझ में आ जाए। चैतन्य के पास समझने जाएं, तो शायद समझ में आ जाए। क्योंकि यह किसी और ही आयाम, किसी और ही डायमेंशन की बात है, जहां देने से घटता नहीं।
आपके पास सिवाय प्रेम के और कोई ऐसा अनुभव नहीं है जिससे समझने की पहली चोट हो सके। पता नहीं, प्रेम का अनुभव भी है या नहीं, क्योंकि सौ में से निन्यानबे को वह भी नहीं है। अगर आपको प्रेम दे देने से कुछ कमी मालूम पड़ती हो, तो आप समझ लेना कि आपको प्रेम का कोई अनुभव नहीं है। अगर आप प्रेम किसी को देते हों और भीतर लगता हो कि कुछ खाली हुआ, तो आप समझ लेना कि जो आपने दिया है वह कुछ और होगा, प्रेम नहीं हो सकता। वह फिर तिजोरी की ही दुनिया की कोई चीज होगी। वह पैसे लगते में तुलने वाली चीज होगी। आंकड़ों में आंकी जा सके, तराजू में तौली जा सके, गजों से नापी जा सके, ऐसी कोई चीज-- मेजरेबल-- .।
क्योंकि ध्यान रहे, जो मेजरेबल है वह घट जाएगा। जो भी नापा जा सकता है, उसमें से कुछ भी निकालिएगा, तो घट जाएगा। जो इम्मेजरेबल है, जो नहीं नापा जा सकता, अमाप है, वही केवल कितना ही निकाल लीजिए, तो पीछे उतना ही बचेगा जितना था।
अगर आपको ऐसा कभी भी लगा हो कि आपके प्रेम के देने से कुछ प्रेम कम हो जाता है-- और आप सबको लगा होगा, करीब-करीब सबको। इसीलिए तो हम प्रेम पर मालकियत करते हैं। अगर मुझे कोई प्रेम करता है, तो मैं चाहता हूं कि वह किसी और को प्रेम न करे। क्योंकि बंट जाएगा, कम हो जाएगा-- पजेशन। इसलिए मैं चाहता हूं कि जो मुझे प्रेम करता है वह दूसरे की तरफ प्रेम की नजर से भी न देखे। उसकी प्रेम की नजर किसी को मेरे लिए जहर बन जाती है। क्योंकि मैं जानता हूं कि घटा जाता है, कम हुआ जाता है। और अगर घट रहा हो, कम हो रहा हो, तो समझना कि प्रेम का कोई पता ही नहीं है। अगर मुझे प्रेम का पता हो, तो जिसे मैं प्रेम करता हूं उससे मैं चाहूंगा कि वह जाए और लुटाए सारी दुनिया को। क्योंकि जितना वह लुटाएगा, उतना ही गहन उसको प्रगट होगा। जितना गहन उसे प्रगट होगा, उतना ही वह मेरे प्रति भी प्रेम से गहन और भरपूर हो जाएगा। लेकिन नहीं, हम हायर मैथमेटिक्स को नहीं जानते। हम एक लोअर मैथमेटिक्स में हैं। एक बहुत ही साधारण गणित की दुनिया में जीते हैं, जहां देने से सब चीजें कम हो जाती हैं। इसलिए डर स्वाभाविक है। पत्नी डरती है कि पति किसी को प्रेम न दे दे। पति डरता है कि पत्नी किसी को प्रेम न दे दे। किसी और की तो दूर है बात, घर में बच्चा भी पैदा होता है, तो भी पति और पत्नी में कलह शुरू हो जाती है। बेटा भी प्रेम बांटता है अगर मां का, तो पति को अड़चन होती है। अगर बेटी बाप के प्रेम को बांटती है, तो मां को तकलीफ होती है। क्योंकि जिस प्रेम को हम जानते हैं, वह प्रेम नहीं है। उसकी कसौटी यह है कि जो बांटने से घटता है, उसे आप भूलकर भी प्रेम मत जानना।
और कठिनाई यह है कि प्रेम के अलावा और कोई अनुभव नहीं है जो इम्मेजरेबल है। और तो सब मेजरेबल है, जो भी हमारे पास है सब नापा जा सकता है। हमारा क्रोध नापा जा सकता है, हमारी घृणा नापी जा सकती है, हमारा सब नापा जा सकता है। सिर्फ एक अनुभव है प्रेम का, जो कि अमाप है। वह भी हम सबके पास नहीं है। इसीलिए तो हम परमात्मा को समझने में बड़ी कठिनाई अनुभव करते हैं।

जो आदमी प्रेम को समझ लेगा, वह परमात्मा को समझने की फिक्र ही छोड़ देगा। क्योंकि जिसने समझा प्रेम को, उसने समझा परमात्मा को। वे एक ही गणित के हिस्से हैं। वे एक ही डायमेंशन, एक ही आयाम की चीजें हैं।
जिसने पहचाना प्रेम को, वह कहेगा, परमात्मा न भी मिले तो चलेगा। क्योंकि प्रेम मिल गया, तो काफी है। बात हो गई। परिचित हो गए हम उस श्रेष्ठतर जगत से, जहां ऐसी चीजें होती हैं जो बांटने से घटती नहीं, बढ़ती हैं। कितना ही दे डालो, उतनी ही शेष रह जाती हैं, जितनी थीं।
और ध्यान रहे, जिस दिन ऐसा अनुभव होता है कि मेरे पास ऐसा प्रेम है, जो मैं दे डालूं, तो भी उतना ही बचता है जितना था, उसी दिन दूसरे से प्रेम की मांग क्षीण हो जाती है। क्योंकि कितना ही प्रेम मिल जाए, मेरा बढ़ नहीं सकता। ध्यान रहे, जिस चीज को देने से घट नहीं सकता, उस चीज को लेने से बढ़ाया नहीं जा सकता। यह एक ही साथ होगा।
जब तक मैं दूसरे से प्रेम मांगता हूं-- और हम सब मांगते हैं, बच्चे ही नहीं बूढ़े भी मांगते हैं। हम सब प्रेम मांगे चले जाते हैं। हमारी पूरी जिंदगी प्रेम की भिक्षा है।
मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं कि हमारी सारी तकलीफ एक है, हमारा सारा तनाव, हमारी सारी एंग्जाइटी, हमारी सारी चिंता एक है। और वह चिंता इतनी है कि प्रेम कैसे मिले! और जब प्रेम नहीं मिलता तो हम सब्स्टीट्यूट खोजते हैं प्रेम के, हम फिर प्रेम के ही परिपूरक खोजते रहते हैं। लेकिन हम जिंदगीभर प्रेम खोज रहे हैं, मांग रहे हैं।
क्यों मांग रहे हैं? आशा से कि मिल जाएगा, तो बढ़ जाएगा। इसका मतलब फिर
यह हुआ कि हमें फिर प्रेम का पता नहीं था। क्योंकि जो चीज मिलने से बढ़ जाए, वह प्रेम नहीं है। कितना ही प्रेम मिल जाए, उतना ही रहेगा जितना था।
जिस आदमी को प्रेम के इस सूत्र का पता चल जाए, उसे दोहरी बातों का पता
चल जाता है। उसे दोहरी बातों का पता चल जाता है। एक, कितना ही मैं दूं, घटेगा नहीं। कितना ही मुझे मिले, बढ़ेगा नहीं। कितना ही! पूरा सागर मेरे ऊपर टूट जाए प्रेम का, तो भी रत्तीभर बढ़ती नहीं होगी। और पूरा सागर मैं लुटा दूं, तो भी रत्तीभर कमी नहीं होगी।
पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, फिर भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। परमात्मा से यह पूरा संसार निकल आता है। छोटा नहीं-- अनंत, असीम। छोर नहीं, ओर नहीं, आदि नहीं, अंत नहीं-- इतना विराट सब निकल आता है। फिर भी परमात्मा पूर्ण ही रह जाता है पीछे। और कल यह सब कुछ उस परम अस्तित्व में वापस गिर जाएगा, वापस लीन हो जाएगा, तो भी वह पूर्ण ही होगा। नहीं कोई घटती होगी, नहीं कोई बढ़ती होगी।
इसे एक दिशा से और समझने की कोशिश करें।
सागर हमारे अनुभव में-- दिखाई पड़ने वाले अनुभव में, आंखों, इंद्रियों
के जगत में-- घटता-बढ़ता मालूम नहीं पड़ता। घटता-बढ़ता है। बहुत बड़ा है। अनंत नहीं, विराट है। नदियां गिरती रहती हैं सागर में, बाहर नहीं आतीं। आकाश से बादल पानी को भरते रहते हैं, उलीचते रहते हैं सागर को। कमी नहीं आती, अभाव नहीं हो जाता। फिर भी घटता है। विराट है-- अनंत नहीं है, असीम नहीं है। विराट है सागर, इतनी नदियां गिरती हैं, कोई इंचभर फर्क मालूम नहीं पड़ता। ब्रह्मपुत्र, और गंगाएं, और ह्वांगहो, और अमेजान, कितना पानी डालती रहती हैं प्रतिपल! सागर वैसा का वैसा रहता है। हर रोज सूरज उलीचता रहता है किरणों से पानी को। आकाश में जितने बादल भर जाते हैं, वे सब सागर से आते हैं। फिर भी सागर जैसा था वैसा रहता है। फिर भी मैं कहता हूं कि सागर का अनुभव सच में ही घटने-बढ़ने का नहीं है। घटता-बढ़ता है, लेकिन इतना बड़ा है कि हमें पता नहीं चलता।
आकाश हमारे अनुभव में एक दूसरी स्थिति है। सब कुछ आकाश में है। आकाश
का अर्थ है, जिसमें सब कुछ है। अवकाश, स्पेस, जिसमें सारी चीजें हैं। ध्यान रहे, इसलिए आकाश किसी में नहीं हो सकता। और अगर हम सोचते हों कि आकाश को भी होने के लिए किसी में होना पड़े, तो फिर हमें एक और महत आकाश की कल्पना करनी पड़े। और फिर हम मुश्किल में पड़ेंगे। फिर जिसको तार्किक कहते हैं, इनफिनिट रिग्रेस, फिर हम अंतहीन नासमझी में पड़ जाएंगे। क्योंकि फिर वह जो महत आकाश

है, वह किस में होगा? फिर इसका कोई अंत नहीं होगा। फिर और महत आकाश-- फिर-फिर वही सवाल होगा।
नहीं, इसलिए आकाश में सब है और आकाश किसी में नहीं है। आकाश सबको घेरे हुए है और आकाश अनघिरा है। आकाश का अर्थ हैः जिसमें सब हैं और जो किसी में नहीं है। इसलिए आकाश के भीतर सब कुछ निर्मित होता रहता है, आकाश उससे बड़ा नहीं हो जाता। और आकाश के भीतर सब कुछ विसर्जित होता रहता है, आकाश उससे छोटा नहीं हो जाता। आकाश जैसा है वैसा है.ज़स का तस-- ऐज़ इट इज़। आकाश अपनी सचनेस में, अपनी तथाता में रहता है।
आप मकान बना लेते हैं, आप महल खड़ा कर लेते हैं। आपका महल गिर जाएगा, कल खंडहर हो जाएगा, मिट्टी होकर नीचे गिर जाएगा। आकाश चूमने वाले महल जमीन पर खो जाएंगे वापस, आकाश को पता भी नहीं चलेगा। आपने जब महल बनाया था, तब आकाश छोटा नहीं हो गया था। आपका जब महल गिर जाएगा, तो आकाश बड़ा नहीं हो जाएगा। आकाश में ही बनता है महल और आकाश में ही खो जाता है। आकाश में कोई अंतर पैदा इससे नहीं होता है। शायद, आकाश और भी निकटतर-- जिस बात को मैं आपको समझाना चाहता हूं, उसके और निकटतर है।
फिर भी, आकाश कितना ही अछूता मालूम पड़ता हो, कितना ही अस्पर्शित मालूम पड़ता हो हमारे निर्माण से, फिर भी हमारे साधारण अनुभव में ऐसा आता है कि आकाश कम-ज्यादा होता होगा। क्योंकि जहां मैं बैठा हूं, अगर आप वहीं बैठना चाहें, तो नहीं बैठ सकेंगे। इसका मतलब यह हुआ कि जिस आकाश को मैंने घेर लिया-- .अन्यथा आप भी मेरी जगह बैठ सकते हैं। एक जगह हम एक ही मकान बना सकते हैं, उसी जगह दूसरा मकान न बना सकेंगे, उसी जगह तीसरा तो बिल्कुल न बना सकेंगे। क्यों? क्योंकि जो एक मकान हमने बनाया उसने आकाश को घेर लिया। अगर आकाश को उसने घेर लिया, तो आकाश किसी खास अर्थ में कम हो गया।
इसीलिए तो मकान हमें ऊपर उठाने पड़ रहे हैं। मकान इसीलिए ऊपर उठाने पड़ रहे हैं कि जमीन की सतह पर जो आकाश है वह कम पड़ता जा रहा है। जमीन के दाम बढ़ते चले जाते हैं, तो मकान ऊपर उठने शुरू हो जाते हैं। क्योंकि नीचे दाम बढ़ने लगते हैं, नीचे का आकाश महंगा होने लगा, भरने लगा, ज्यादा भरने लगा, अब वहां जगह कम रह गई, तो मकान को ऊपर उठाना पड़ता है। जल्दी ही हम मकान को जमीन के नीचे भी ले जाना शुरू करेंगे। क्योंकि ऊपर उठाने की भी सीमा है। ऊपर का आकाश भी भरा जाता है।
आकाश भी भरता मालूम पड़ता है। और जब भरता है, तो उसका अर्थ है कि उतनी जगह कम हो गई। उतना रिक्त स्थान कम हो गया। उतनी एम्पटी स्पेस कम हो गई। जिस जमीन पर हम बैठे हैं, इस जगह पर अब दूसरी जमीन पैदा नहीं हो सकती। माना कि अनंत आकाश चारों तरफ शून्य की तरह फैला हुआ है, कोई कमी नहीं है, लेकिन इतनी जगह पर तो रुकावट हो गई। इतना आकाश तो कम हुआ, भर गया।
नहीं, परमात्मा इतना भी नहीं भरता। सागर मैंने कहा कि बहुत छोटा है-- परमात्मा के हिसाब से। हमारे हिसाब से बहुत बड़ा है। गंगाओं और ब्रह्मपुत्रों के हिसाब से बहुत बड़ा है। कोई अंतर नहीं पड़ता उनके गिरने से। फिर भी अंतर पड़ता है। नाप-तौल में नहीं आता, लेकिन अंतर पड़ता है। आकाश और भी बड़ा है-- हमारे सागरों-महासागरों से बहुत बड़ा है। फिर भी, आकाश भी भर जाता मालूम होता है।
परमात्मा पर एक छलांग और लगानी पड़ेगी, वहां तर्क सारा तोड़ देना पड़ेगा। परमात्मा यानी अस्तित्व, जो है। सिर्फ है। इज़नेस, होना जिसका गुण है। हम कुछ भी करें, उसके होने में कोई अंतर नहीं पड़ता।
इसे वैज्ञानिक किसी और ढंग से कहते हैं। वे कहते हैं, हम किसी चीज को नष्ट नहीं कर सकते। इसका मतलब हुआ कि हम किसी चीज को है-पन के बाहर नहीं निकाल सकते। अगर हम एक कोयले के टुकड़े को मिटाना चाहें, तो हम राख बना लेंगे। लेकिन राख रहेगी। हम उसे चाहे सागर में फेंक दें-- वह पानी में घुलकर डूब जाएगी, दिखाई नहीं पड़ेगी, लेकिन रहेगी। हम सब कुछ मिटा सकते हैं, लेकिन उसकी इज़नेस, उसके होने को नहीं मिटा सकते। उसका होना कायम रहेगा। हम कुछ भी करते चले जाएं, उसके होने में कोई अंतर नहीं पड़ेगा। होना बाकी रहेगा। हां, होने को हम शकल दे सकते हैं। हम हजार शकलें दे सकते हैं। हम नए-नए रूप और आकार दे सकते हैं। हम आकार बदल सकते हैं, लेकिन जो है उसके भीतर, उसे हम नहीं बदल सकते। वह रहेगा। कल मिट्टी थी, आज राख है। कल लकड़ी थी, आज

कोयला है। कल कोयला था, आज हीरा है। लेकिन है में कोई फर्क नहीं पड़ता। ‘है’ कायम रहता है।
परमात्मा का अर्थ हैः सारी चीजों के भीतर जो है-पन, वह जो इज़नेस, जो एक्झिस्टेंस है, जो अस्तित्व है, होना है-- वही। कितनी ही चीजें बनती चली जाएं, उस होने में कुछ जुड़ता नहीं। और कितनी ही चीजें मिटती चली जाएं, उस होने में कुछ कम होता नहीं। वह उतना का ही उतना, वही का वही-- अलिप्त और असंग, अस्पर्शित।
नहीं, पानी पर भी हम रेखा खींचते हैं तो कुछ बनता है, मिट जाता है बनते ही। लेकिन परमात्मा पर इस सारे अस्तित्व से इतनी भी रेखा नहीं खिंचती। इतना भी नहीं बनता है।
इसलिए उपनिषद का यह वचन कहता है कि पूर्ण से, उस पूर्ण से यह पूर्ण निकला। उस पूर्ण से यह पूर्ण निकला। वह अज्ञात है, यह ज्ञात है। जो हमें दिखाई पड़ रहा है, वह उससे निकला, जो नहीं दिखाई पड़ रहा है। जिसे हम जानते हैं, वह उससे निकला, जिसे हम नहीं जानते हैं। जो हमारे अनुभव में आता है, वह उससे निकला, जो हमारे अनुभव में नहीं आता है।
इस बात को भी ठीक से ख्याल में ले लेना चाहिए।
जो भी हमारे अनुभव में आता है, वह सदा उससे निकलता है, जो हमारे अनुभव में नहीं आता। और जो हमें दिखाई पड़ता है, वह उससे निकलता है, जो अदृश्य है। और जो हमें ज्ञात है, वह अज्ञात से निकलता है। और जो हमें परिचित है, वह अपरिचित से आता है।
एक बीज हम बो देते हैं और बीज से एक वृक्ष निकल आता है। और बीज को हम तोड़ें और तोड़ें और खंड-खंड कर डालें, और कहीं भी वृक्ष का कोई पता नहीं चलता। कहीं कोई पता नहीं चलता। कहीं वे फूल नहीं मिलते जो कल निकल आएंगे। कहीं वे पत्ते नहीं दिखाई पड़ते जो कल निकल आएंगे। वे कहां से आते हैं? वे अदृश्य से आते हैं। वे अदृश्य से निर्मित हो जाते हैं।
प्रतिपल अदृश्य दृश्य में रूपांतरित होता रहता है और दृश्य अदृश्य में खोता चला जाता है। प्रतिपल सीमाओं में असीम आता है और प्रतिपल सीमाओं से असीम वापस लौटता है। ठीक ऐसे ही जैसे हमारी श्वास भीतर गई और बाहर गई। पूरा अस्तित्व ऐसे ही श्वास ले रहा है। इस अस्तित्व की श्वास को जो जानते हैं, वे कहते हैं, सृष्टि और प्रलय। वे कहते हैं कि अस्तित्व की एक श्वास जब भीतर आती है, तो सृष्टि का निर्माण होता है, दि क्रिएशन। और जब अस्तित्व की श्वास बाहर जाती है, तो प्रलय होती है, दि अनाइलेशन। और अस्तित्व की एक श्वास हमारे लिए तो अनंत अस्तित्व है। उस बीच तो हम अनंत जन्म लेते हैं, आते हैं और जाते हैं।
इस सूत्र में दोनों बातें कही हैं, पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, फिर भी पीछे पूर्ण ही शेष रहता है। पूर्ण में पूर्ण लीन हो जाता है, फिर भी पूर्ण पूर्ण ही रहता है। वह पूर्ण अछूता, क्वांरा का क्वांरा ही रह जाता है। उसके क्वांरेपन में कुछ भी फर्क नहीं पड़ता, उसकी वर्जिनिटी में कोई फर्क नहीं पड़ता।
बड़ी मुश्किल बात है। मां से बेटा पैदा हो जाए और वह क्वांरी रह जाए! सिर्फ जीसस की मां के बाबत ऐसी बात कही जाती है कि जीसस पैदा हुए और मरियम क्वांरी रह गई। वह इसीलिए कही जाती है, वह इसीलिए कही जाती है कि जीसस और मरियम को जिन्होंने जाना और पहचाना जीसस को, उन्होंने कहा, यह तो ठीक वैसा ही अस्तित्व का जन्म है जैसे कि पूर्ण से पूर्ण आता है। इसलिए ईसाई नहीं समझा पाते। ईसाई बड़ी मुश्किल में पड़ते हैं इस बात को पकड़कर कि मरियम क्वांरी कैसे रह गई! उन्हें पता ही नहीं है उस गणित का जहां कि मां से बच्चा भी पैदा हो जाए और मां क्वांरी रह जाए। उस गणित का उन्हें कोई पता नहीं है। हायर मैथमेटिक्स का उन्हें कोई पता नहीं है। बड़ी कठिनाई में है ईसाइयत, क्योंकि वे कहते हैं कि इसे कैसे समझाएं! यह हो नहीं सकता, इसलिए मिरेकल है, चमत्कार है। यह हो तो नहीं सकता, लेकिन भगवान ने कोई चमत्कार दिखाया है।
लेकिन इस जगत में भगवान जो भी चमत्कार दिखाता है वह हर क्षण दिखा रहा है। इस जगत में कोई चमत्कार नहीं होते और या फिर हर क्षण जो हो रहा है वह सब

चमत्कार है, सब मिरेकल है। जब भी एक बीज से वृक्ष पैदा होता है, तब चमत्कार होता है। और जब भी एक मां से बेटा पैदा होता है, तब चमत्कार होता है।
नहीं, कठिनाई नहीं है। अगर कोई मां अपने को इस सूत्र में लीन कर ले कि पूर्ण से जब इतना बड़ा संसार निकल आता है और पीछे पूर्ण अछूता रह जाता है, तो कौन सी कठिनाई है? अगर मां इस सूत्र के साथ अपने को एक कर ले, तो मां बन सकती है, बेटे को जन्म दे सकती है और क्वांरी बच सकती है।
इस सूत्र को ठीक से कोई साधक समझ ले-- .और मैं तो आपको इसीलिए कह रहा हूं कि आपको साधना की दृष्टि से ख्याल में आ जाए। अगर साधना की दृष्टि से ख्याल में आ जाए, तो आप सब करके भी अकर्ता रह जाते हैं। आपने जो भी किया, अगर परमात्मा इतना करके और पीछे अछूता रह जाता है, तो आप भी सब करके पीछे अछूते रह जाते हैं। लेकिन इस सत्य को जानने की बात है, इसको पहचानने की बात है।
अगर इतना बड़ा संसार बनाकर परमात्मा पीछे गृहस्थ नहीं बन जाता, तो एक छोटा सा घर बनाकर एक आदमी गृहस्थ बन जाए, पागलपन है! इतने विराट संसार के जाल को खड़ा करके अगर परमात्मा वैसे का वैसा रह जाता है जैसा था, तो आप एक दुकान छोटी सी चलाकर और नष्ट हो जाते हैं? कहीं कुछ भूल हो रही है। कहीं कुछ भूल हो रही है। कहीं अनजाने में आप अपने कर्मों के साथ अपने को एक आइडेंटिटी कर रहे हैं, एक मान रहे हैं, तादात्म्य कर रहे हैं। आप जो कर रहे हैं, समझ रहे हैं कि मैं कर रहा हूं, बस कठिनाई में पड़ रहे हैं। जिस दिन आप इतना जान लेंगे कि जो हो रहा है वह हो रहा है, मैं नहीं कर रहा हूं, उसी दिन आप संन्यासी हो जाते हैं।
गृहस्थ मैं उसे कहता हूं, जो सोचता है, मैं कर रहा हूं। संन्यासी मैं उसे कहता हूं, जो कहता है, हो रहा है। कहता ही नहीं, क्योंकि कहने से क्या होगा? जानता है। जानता ही नहीं, क्योंकि अकेले जानने से क्या होगा? जीता है।
इसे देखें। मेरे समझाने से शायद उतना आसानी से दिखाई न पड़े जितना प्रयोग करने से दिखाई पड़ जाए। कोई एक छोटा सा काम करके देखें और पूरे वक्त जानते रहें कि हो रहा है, मैं नहीं कर रहा हूं। कोई भी काम करके देखें। खाना खाकर देखें। रास्ते पर चलकर देखें। किसी पर क्रोध करके देखें। और जानें कि हो रहा है। और पीछे खड़े देखते रहें कि हो रहा है। और तब आपको इस सूत्र का राज मिल जाएगा। इसकी सीक्रेट-की, इसकी कुंजी आपके हाथ में आ जाएगी। तब आप पाएंगे कि बाहर कुछ हो रहा है और आप पीछे अछूते वही के वही हैं जो करने के पहले थे, और जो करने के बाद भी रह जाएंगे। तब बीच की घटना सपने की जैसी आएगी और खो जाएगी।
संसार परमात्मा के लिए एक स्वप्न से ज्यादा नहीं है। आपके लिए भी संसार एक स्वप्न हो जाए, तो आप भी परमात्मा से भिन्न नहीं रह जाते। फिर दोहराता हूं-- संसार परमात्मा के लिए एक स्वप्न से ज्यादा नहीं है, और जब तक आपके लिए संसार एक स्वप्न से ज्यादा है, तब तक आप परमात्मा से कम होंगे। जिस दिन आपको भी संसार एक स्वप्न जैसा हो जाएगा, उस दिन आप परमात्मा हैं। उस दिन आप कह सकते हैं, अहं ब्रह्मास्मि! मैं ब्रह्म हूं।
यह बड़े मजे का सूत्र है। इस सूत्र में न मालूम कितनी बातें कही गई हैं। इस सूत्र में यह कहा गया है कि वह पूर्ण आ जाता है निकलकर पूरा का पूरा। ध्यान रहे, पीछे पूरा रह जाता है, यह तो कहा ही है, साथ में यह भी कहा है कि वह पूरा का पूरा बाहर आ जाता है। इसका क्या मतलब हुआ? इसका यह मतलब हुआ कि एक-एक व्यक्ति भी पूरा का पूरा परमात्मा है। एक-एक व्यक्ति भी, एक-एक अणु भी पूरा का पूरा परमात्मा है। ऐसा नहीं कि अणु आंशिक परमात्मा है-- पूरा का पूरा।
थोड़ा कठिन है, क्योंकि हमारे गणित के लिए अपरिचित है। अगर यह समझ में आया कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है और पीछे पूर्ण रह जाता है, तो मैं और एक बात कहता हूं कि पूर्ण से अनंत पूर्ण निकल आते हैं, तो भी पीछे पूर्ण रह जाता है। एक पूर्ण निकलकर अगर दूसरा पूर्ण न निकल सके, तो उसका मतलब हुआ कि एक के निकलने के बाद पीछे कुछ कम हो गया है। एक पूर्ण के बाद दूसरा पूर्ण निकले, तीसरा पूर्ण निकले और पूर्ण निकलते चले जाएं और पीछे सदा ही पूर्ण निकलने की उतनी ही क्षमता बनी रहे, तभी पीछे पूर्ण शेष रहा।

इसलिए ऐसा नहीं है कि आप परमात्मा के एक हिस्से हैं। जो ऐसा कहता है,
वह गलत कहता है। जो ऐसा कहता है कि आप एक अंश हैं परमात्मा के, वह गलत कहता है। वह फिर लोअर मैथमेटिक्स की बात कर रहा है। वह वही दुनिया की बात कर रहा है जहां दो और दो चार होते हैं। वह नापी-जोखी जाने वाली दुनिया की बात कर रहा है। मैं आपसे कहता हूं और उपनिषद आपसे यह कहते हैं, और जिन्होंने भी कभी जाना है वह यही कहते हैं कि तुम पूरे के पूरे परमात्मा हो।
इसका यह अर्थ नहीं कि पड़ोसी पूरा परमात्मा नहीं है। नहीं, इससे कोई अंतर ही नहीं पड़ता है। इससे कोई अंतर ही नहीं पड़ता है। एक वृक्ष पर गुलाब खिला है, पूरा खिल गया है। पड़ोस में एक दूसरी कली पूरी खिल गई है। इस गुलाब के पूरे खिल जाने से बगल की कली के पूरे खिलने में कोई बाधा नहीं पड़ती। सहयोग भला मिलता हो, बाधा कोई नहीं पड़ती। हजार फूल खिल सकते हैं, पूरे के पूरे खिल सकते हैं।
परमात्मा की पूर्णता अनंत पूर्णता है। अनंत पूर्णता का अर्थ है कि उसमें से अनंत पूर्ण प्रगट हो सकते हैं। एक-एक व्यक्ति पूरा का पूरा परमात्मा है। एक-एक अणु पूरा का पूरा विराट है। पूर्ण में और उसमें रत्ती मात्र का भी कोई फर्क नहीं है। अगर फर्क है तो फिर कभी पूरा न हो सकेगा। फिर पूरा करने का कोई उपाय नहीं। और अगर कभी पूरा हो जाता है तो वह अभी ही पूरा है, सिर्फ हमें पता नहीं है। सिर्फ हमारे बोध की कमी है।
इस सूत्र को इन साधना के आने वाले दिनों में सदा स्मरण रखना। दोहराते रहना मन में कि पूर्ण से पूर्ण आ जाता है, पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। पूर्ण में पूर्ण लीन हो जाता है, फिर भी पूर्ण पूर्ण का पूर्ण ही होता है, कहीं कोई अंतर नहीं पड़ता है। इसे स्मरण रखना, इसे श्वास-श्वास में भीतर घूमने देना। रोज हम इसकी अलग-अलग व्याख्याएं, अलग-अलग रूपों में, अलग-अलग मार्गों से करेंगे। आप इसका स्मरण रखना। यहां हम व्याख्या करेंगे, वहां आप स्मरण को गहरा करते चले जाना। ये दोनों चोटें भीतर इकट्ठी होती चली जाएंगी। और किसी क्षण-- इन्हीं सात दिन में वह घटना घट सकती है-- कि किसी क्षण अचानक यह सूत्र आपके मुंह से निकलेगा। और आपको लगेगा कि पूर्ण से पूर्ण निकल आता है और पीछे पूर्ण शेष रह जाता है, पूर्ण पूर्ण में लीन हो जाता है और फिर भी पूर्ण पूर्ण का पूर्ण ही होता है, कहीं कोई अंतर नहीं पड़ता। स्वप्न की भांति सब हो जाता है, फिर भी कुछ होता नहीं। अभिनय की भांति सब घटित हो जाता है, फिर भी पीछे सब क्वांरा और अछूता रह जाता है। इसे स्मरण-- जितना ज्यादा स्मरण रख सकें, उतना उपयोगी होगा। चौबीस घंटे इसकी स्मृति में जीने की कोशिश करें। उपनिषदों में जो है, वह सिर्फ समझने से समझ में आने वाला नहीं है। उसे जीने से ही समझ में आने वाला है। ये सूत्र किन्हीं सिद्धांतों की घोषणा नहीं करते, किन्हीं साधनाओं की घोषणा करते हैं। ये सूत्र सिर्फ निष्पत्तियां नहीं हैं ज्ञान की, अनुभूतियां हैं। और इन्हें जब कोई अपने भीतर जीए, इन्हें अपने भीतर जन्म दे, इन्हें अपने भीतर खून, हड्डी, मांस, मज्जा में प्रवेश करने दे, इन्हें श्वासों में समा जाने दे; इन्हें जागते, उठते, बैठते, सोते इनकी सुरति, इनकी स्मृति में, इनकी गूंज में जीए; तब, तब कहीं इनका राज, इनका रहस्य, इनका द्वार खुलना शुरू होता है।
यह सूत्रों में प्राथमिक वक्तव्य आपको दिया। अदभुत लोग रहे होंगे। पहले ही सूत्र पर खतम कर दी है सारी बात। कहा है कि तीनों ताप की शांति हो जाए।
इस सूत्र से त्रिताप की शांति का क्या संबंध हो सकता है? किन्हीं सिद्धांतों से किन्हीं के दुखों का कोई अंत हुआ है? नहीं, लेकिन ऋषि कहता है, ओम्-- बात पूरी हो गई। तुम्हारे सब दुख शांत हो जाएं, तुम्हारे सब दुखों से मुक्ति हो जाए। क्या इस सूत्र को पढ़ने से यह हो सकता है?
सच में जो पढ़ ले, तो हो सकता है। किताब से जो पढ़े, तो कभी नहीं हो सकता।
वह तो पढ़ लिया हमने। वह तो सुन लिया हमने। लेकिन जिन्होंने इतनी हिम्मत और साहस से कहा है कि बस ओम्, हो गई बात समाप्त। इतनी बात जिसने जान ली, उसके सब दुखों का अंत हो जाता है। उसके शरीर के, उसके मन के, उसके आत्मा के सब ताप नष्ट हो जाते हैं। वह समस्त संतापों के बाहर हो जाता है। इतने आश्वासन से, इतने भरोसे से जो आदमी कह रहा है, तो मतलब कुछ है।

मतलब है कि इसे जो जीएगा, इसे जो अपने भीतर जन्म देगा, वह पाएगा कि सारे दुखों के बाहर हो गया। क्योंकि दुख एक ही बात का है, चाहे किसी तल पर हो-- चाहे शरीर के तल पर, चाहे मन के तल पर और चाहे आत्मा के तल पर, दुख एक ही है-- वह दुख अहंकार है। वह दुख यह है कि मैं कर रहा हूं, यह मुझ पर हो रहा है। यह मुझसे किया जा रहा है। यह गाली मुझे दी गई, यह गाली मैंने दी है। बस वह सारी चीजें मेरे मैं पर आकर इकट्ठी हो जाती हैं।
लेकिन जब परमात्मा पर कोई अंतर नहीं पड़ता है इतने विराट से, तो इन सब छोटी-छोटी बातों से मुझ पर अंतर क्यों पड़े! मैं भी अछूता रह जाऊं, मैं भी दूर खड़ा रह जाऊं। मैं कहूं कि गाली दी गई, मुझे नहीं दी गई है। मैंने जो किया वह किया गया, मैंने नहीं किया है। अगर मैं मुझ पर आते कर्म और मुझ से जाते कर्मों के प्रति साक्षी रह जाऊं, विटनेस रह जाऊं, कर्ता न रह जाऊं, तो बड़े जल्दी ही अदभुत रहस्य खुलने शुरू हो जाते हैं।
इन सात दिन इस सूत्र में जीने की कोशिश करें। इसी सूत्र के अलग-अलग आयामों में ईशावास्य उपनिषद में हम व्याख्या करेंगे। यहां जो मैं व्याख्या करूं, अगर आप उसे जीएंगे भी, तो ही समझ में आएगी, अन्यथा समझ में नहीं आएगी बात।
इस सूत्र के संबंध में इतना ही।
ध्यान के संबंध में कुछ सूचनाएं आपको दे दूं। क्योंकि कल सुबह से हम ध्यान में प्रवेश करेंगे।
पहली बात, पूरे समय आने वाले दिनों में जितनी तीव्र श्वास ले सकें दिनभर, चौबीस घंटे, जब तक होश रहे, जितनी गहरी श्वास ले सकें उतनी गहरी श्वास लें। हाइपर आक्सीजनेशन! जितनी ज्यादा प्राणवायु भीतर जा सके उतना आपकी साधना के लिए ऊर्जा उपलब्ध होगी, एनर्जी उपलब्ध होगी। आपके शरीर में बहुत सी ऊर्जाएं छिपी पड़ी हैं। पर उन्हें जगाने की और ध्यान की दिशा में सक्रिय करने की, चैनेलाइज करने की जरूरत है।
तो पहला सूत्र आपको देता हूं कि उस शक्ति को जगाने का जो निकटतम और सरलतम उपाय आदमी के पास उपलब्ध है, वह श्वास है। सुबह उठते ही जैसे ही होश आए बिस्तर पर, गहरी श्वास लेनी शुरू कर दें। रास्ते पर चलते हों तो गहरी श्वास लें, जितनी गहरी-- .। आहिस्ता लें, परेशान नहीं हो जाना है, गहरी लेनी है। शांति से लेनी है, आनंद से लेनी है, पर लेनी गहरी है। और पूरे वक्त ख्याल रखना है कि जितनी ज्यादा प्राणवायु भीतर जा सके-- आपके खून में, आपकी श्वास में, आपके हृदय में जितनी प्राणवायु जा सके-- और जितनी कार्बन डाइआक्साइड बाहर फेंकी जा सके, उतना ही, जो ध्यान हम करने जा रहे हैं, उसमें सरलता हो जाएगी।
जितनी ज्यादा प्राणवायु भीतर होती है, उतनी ही शारीरिक अशुद्धि कम हो जाती है। और बड़े मजे की बात है कि शारीरिक अशुद्धि का आधार अगर छूट जाए, तो मन को अशुद्ध होने में कठिनाई पड़नी शुरू हो जाती है। जितनी ताजी हवा भीतर होगी, उतने आपके मन के दूषित विचार को पनपने की संभावना कम हो जाएगी। और जैसा मैंने कहा, यह पूर्णमिदं ऐसे सूत्रों के भीतर खिलने की, इनके फूल बनने की संभावना ज्यादा हो जाएगी।
तो पहला, हाइपर आक्सीजनेशन-- प्राणवायु आधिक्य-- इस पर ख्याल रखें, सात दिन पूरे।
इसमें दो-तीन बातें होंगी, उनसे घबराएं न। अगर गहरी श्वास लेंगे तो नींद कम हो जाएगी। उससे जरा भी चिंता न लेंगे। नींद कम हो जाती है, जब भी नींद गहरी हो जाती है। तो जितनी गहरी श्वास लेंगे, श्वास की गहराई के साथ नींद की गहराई बढ़ती है। इसीलिए तो जो लोग मेहनत करते हैं, वे रात गहरी नींद सोते हैं। जो मेहनत नहीं कर पाते, वे रात गहरी नींद नहीं सो पाते। जितनी श्वास की गहराई होगी भीतर, उतनी नींद की गहराई बढ़ जाएगी। लेकिन नींद की अगर गइराई बढ़ेगी, इंटेंसिटी बढ़ेगी तो इक्सटेंशन कम हो जाएगा, लंबाई कम हो जाएगी। उसकी चिंता नहीं लेंगे। अगर आप सात घंटे सोते हैं, तो चार घंटे में पूरी हो जाएगी, पांच घंटे में पूरी हो जाएगी। उसकी कोई फिक्र नहीं। लेकिन पांच घंटे में आप आठ घंटे की बजाय ज्यादा ताजे और ज्यादा आनंदित और ज्यादा स्वस्थ सुबह उठेंगे।

इसलिए जब सुबह नींद टूट जाए-- और जल्दी नींद टूटने लगेगी, अगर आपने गहरी श्वास ली तो जल्दी नींद टूटने लगेगी-- तो जब नींद टूट जाए, उठ आएं।
सुबह के उस आनंदपूर्ण क्षण को न खोएं। उसका ध्यान के लिए उपयोग कर लेंगे। पहली बात।
दूसरी बातः जितना कम भोजन ले सकें और जितना हल्का ले सकें, उतना हितकर है। जितना अल्प ले सकें और जितना हल्का ले सकें। जो जितना कर सके, जिसको जितनी सुविधा हो, वह उतना कम कर ले। जितना कम कर लेंगे, उतना ध्यान की गति तीव्र, सुगम हो जाएगी। क्यों? कुछ गहरे कारण हैं।
हमारे शरीर की कुछ सुनिश्चित आदतें हैं। ध्यान हमारे शरीर की आदत नहीं है। ध्यान हमारे लिए नया काम है। शरीर के बंधे हुए एसोसिएशन हैं। शरीर की बंधी हुई आदतों को अगर कहीं से तोड़ दिया जाए, तो शरीर और मन नई आदत को पकड़ने में आसानी पाते हैं। कई दफे तो आप हैरान होंगे कि अगर आप चिंतित होते हैं और सिर खुजलाने लगते हैं, अगर आपका हाथ नीचे बांध दिया जाए और आप सिर न खुजला पाएं, तो आप चिंतित न हो सकेंगे। आप कहेंगे कि सिर खुजलाने से चिंता का क्या संबंध है? एसोसिएशन है। शरीर की निश्चित आदत हो गई है। वह अपनी पूरी की पूरी अपनी आदत को, अपनी व्यवस्था को पकड़कर पूरा कर लेता है। शरीर की जो सबसे गहरी आदत है, वह भोजन है-- सबसे गहरी, क्योंकि उसके बिना तो जीवन नहीं हो सकता है। तो डीप मोस्ट, डीपेस्ट। ध्यान रहे, सेक्स से भी ज्यादा गहरी। जीवन में जितनी भी गहराइयां हैं हमारे, उनमें सबसे ज्यादा गहरी आदत भोजन है। जन्म के पहले दिन से शुरू होती है और मरने के आखिरी दिन तक चलती है। जीवन का अस्तित्व उस पर खड़ा है, शरीर उस पर खड़ा है। इसलिए अगर आपको अपने मन और शरीर की आदतें बदलनी हैं, तो उसकी गहरी आदत को एकदम शिथिल कर दें। उसके शिथिल होते से ही शरीर का जो कल तक का इंतजाम था, वह सब अस्तव्यस्त हो जाएगा। और उसकी अस्तव्यस्त हालत में आप नई दिशा में प्रवेश करने में आसानी पाएंगे, अन्यथा आप आसानी नहीं पाएंगे।
तो जितना कम बन सके! किसी को उपवास करना हो, उपवास कर सकता है। किसी को
एक बार भोजन लेना हो, एक बार ले सकता है। आपकी मर्जी पर है, नियम बनाने की जरूरत नहीं है। अपनी मर्जी से चुपचाप जितना कम से कम-- न्यूनतम, मिनिमम-- इसका ख्याल रखें। तो दूसरी बात, स्वल्प-आहार।
तीसरी बातः एकाग्रता। चौबीस घंटे में आप गहरी श्वास लेंगे ही, साथ ही श्वास पर ध्यान भी रखें, तो एकाग्रता सहज फलित हो जाएगी। रास्ते पर चल रहे हैं, श्वास ले रहे हैं, श्वास बाहर से भीतर गई, तो देखते रहें, बी अटेंटिव। देखते रहें कि श्वास भीतर गई। फिर श्वास बाहर जा रही है, तो बाहर गई। भीतर गई, फिर बाहर गई। ध्यान रखेंगे तो गहरा भी ले पाएंगे। नहीं तो जैसे ही भूलेंगे वैसे ही श्वास धीमी हो जाएगी। और गहरा लेते रहेंगे तो ध्यान भी रख पाएंगे, क्योंकि गहरा लेने के लिए ध्यान रखना ही पड़ेगा। तो ध्यान को श्वास के साथ जोड़ लें।
कुछ काम करते वक्त अगर ऐसा लगे कि अभी ध्यान श्वास पर नहीं रखा जा सकता है, तो जिन कामों को करते वक्त ऐसा लगे कि अभी ध्यान श्वास पर नहीं रखा जा सकता, तब उन कामों पर कनसनट्रेशन रखें, उन कामों पर एकाग्र रहें। खाना खा रहे हैं तो खाने को पूरी एकाग्रता से खाएं। एक-एक कौर पूरे ध्यानपूर्वक उठाएं। स्नान कर रहे हैं, तो पानी का एक-एक कतरा भी ऊपर पड़े तो पूरे ध्यानपूर्वक। रास्ते पर चल रहे हैं, तो पैर एक-एक उठे तो ध्यानपूर्वक।
ये सात दिन आप चौबीस घंटे ध्यान में लीन हो जाएं। तो यहां तो हम ध्यान करेंगे वह अलग, यह मैं आपको बाकी समय पूरी पृष्ठभूमि आपकी बनाने के लिए कह रहा हूं।
तो तीसरी बात, जो भी करें, बहुत ध्यानपूर्वक, बहुत एकाग्रचित्त से करें। और ज्यादातर तो श्वास पर ही एकाग्रता रखें, क्योंकि वह चौबीस घंटे चलने वाली चीज है। न तो चौबीस घंटे खाना खा सकते हैं, न स्नान कर सकते हैं, न चल सकते हैं। श्वास चौबीस घंटे चलेगी। उस पर चौबीस घंटे ध्यान रखा जा सकता है। उस पर ध्यान रखें। भूल जाएं दुनिया में कुछ और हो रहा है। बस एक ही काम हो रहा है कि श्वास भीतर आ रही है और श्वास बाहर जा रही है। बस, इस

श्वास का बाहर और भीतर आना आपके लिए माला की गुरिया बन जाए, इस पर ही ध्यान को ले जाएं। तीसरा सूत्र।
चौथा सूत्रः इंद्रिय-उपवास, सेंस डिप्राइवेशन। वह तीन बातें इसमें करनी हैं। एक तो जो लोग पूरे दिन मौन रख सकें, वे पूरे दिन के लिए मौन हो जाएं। जिनको कठिनाई मालूम पड़े, वे भी टेलीग्रैफिक हो जाएं। जो भी बोलें, तो समझें कि एक-एक शब्द की कीमत चुकानी पड़ रही है। तो दिन में दस-बीस शब्द से ज्यादा नहीं। बहुत जरूरी मालूम पड़े, जान पर ही आ बने, तो ही बोलें। जो पूरा मौन रख सकें, उनके फायदे का तो कोई हिसाब नहीं। पूरा मौन रख सकें, कोई कठिनाई नहीं है। एक कागज-पेंसिल रख लें, जरूरत पड़े तो लिखकर बता दें-- कुछ जरूरत पड़े तो। पूरे मौन हो जाएं। मौन से आपकी सारी शक्ति भीतर इकट्ठी हो जाएगी, जिसे हमें ध्यान में आगे ले जाना है।
आदमी की कोई आधे से ज्यादा शक्ति उसके शब्द ले जाते हैं। शब्द को तो बिल्कुल छोड़ दें। तो ख्याल कर लें, जिसकी जितनी सामर्थ्य हो उतना मौन हो जाए। और इतना तो ध्यान ही रखें कि आपके द्वारा किसी का मौन न टूटे। आपका टूटे, आपकी किस्मत, आप जिम्मेवार। लेकिन आपके द्वारा किसी का न टूटे। अकारण बातें किसी से न पूछें। अकारण जिज्ञासाएं न करें, व्यर्थ के सवाल न उठाएं। किसी को बातचीत में डालने की आप कोशिश न करें। सहयोगी बनें दूसरे को मौन करवाने में। कोई पूछे तो उसको भी मौन करने का इशारा दे दें। उसे भी याद दिला दें कि मौन रहना है।
बातचीत छोड़ दें बिल्कुल सात दिन। फिर बाद में करिए, पीछे तो आपने की
है बहुत। सात दिन बिल्कुल छोड़ दें। जिससे जितना बन सके। पूरा बन सके, बहुत ही हितकर होगा। फिर आपको कहने को नहीं बचेगा कि ध्यान नहीं होता है। मैं जो पांच बातें आपसे कहने जा रहा हूं, वे आप पूरी कर लेते हैं, तो आपको कहने का कारण नहीं आएगा कि ध्यान नहीं होता है। और आए कारण, तो आप जानना आपके सिवाय और कोई जिम्मेवार नहीं है। फिर मुझे आकर आप मत कहना।
मौन रखें। न्यूनतम। जिनसे न बन सके, कमजोर हों, संकल्पहीन हों, मन दुर्बल हो, बुद्धि कमजोर हो, वे थोड़ा-थोड़ा बोलकर चलाएं। जिनमें थोड़ी भी बुद्धिमत्ता हो, संकल्प हो, शक्ति हो, थोड़ा भी अपने पर भरोसा हो, वे बिल्कुल चुप हो जाएं।
इंद्रिय-उपवास में पहला मौन। दूसरा, आपकी आंख के लिए विशेष पट्टियां बनाई हैं। वे पट्टियां आप ले लेंगे और कल सुबह से उनका प्रयोग शुरू करें। पूरी आंख को बांध लेना है। आंख ही आपको बाहर ले जाने का द्वार है। जितनी ज्यादा देर बांध रख सकें उतना अच्छा है। जब भी खाली बैठे हैं आंख पर पट्टी बंधी रहने दें। उससे दूसरे दिखाई भी नहीं पड़ेंगे, बातचीत का भी मौका नहीं आएगा। और आपको अंधा मानकर दूसरे भी छोड़ देंगे कि ठीक है, जाने दें, व्यर्थ उनको परेशान न करें। अंधे हो जाएं। मौन होना तो आपने सुना ही है न, तो अंधे भी हो जाएं।
मौन होना भी एक तरह की मुक्ति है और अंधा होना और भी गहरी। क्योंकि आंख ही हमें चौबीस घंटे बाहर दौड़ा रही है। आंख के बंद होते से ही आप पाएंगे, बाहर जाने का उपाय न रहा। भीतर चेतना वर्तुलाकार घूमने लगेगी। तो आंख पर पट्टी बांध लें। चलते वक्त थोड़ा सा ऊपर सरका लें, नीचे देखें, बस। चलते वक्त थोड़ा ऊपर सरका लें और नीचे देखें, एक चार फीट आपको दिखाई पड़ता रहे रास्ता, उतना काफी है। उसे बांधकर ही पूरा वक्त गुजार दें। जो रात उसको बांधकर ही सो सकें, वे बांधकर ही सोएं। जिनको अड़चन मालूम हो, वे निकाल दें। बांधकर सोएंगे, नींद की गहराई में फर्क पड़ेगा।
यह जो पट्टी है, वह आप बाकी समय तो बांधे ही रखेंगे। सुबह यहां जब ध्यान होगा, तब पट्टी बंधी रहेगी सुबह के ध्यान में। दोपहर के मौन में पट्टी खुली रहेगी, लेकिन आप वहां से पट्टी बांधकर ही आएंगे। यहां चुपचाप पट्टी खोलकर रख लेंगे। दोपहर के घंटेभर के मौन में पट्टी खुली रहेगी। रात भी आप पट्टी बांधकर ही आएंगे। फिर रात के ध्यान में भी पट्टी खुली रहेगी। सुबह जब मैं बोलूंगा तब आपकी पट्टी खुली रहेगी, दोपहर मौन में खुली रहेगी, रात के ध्यान में खुली रहेगी। इतना आपकी आंख के लिए मौका दूंगा। यह भी मौका इसलिए दूंगा कि यह भी आपको भीतर ले जाने में सहयोगी बन सके तभी आपकी आंख को बाहर देखने का मौका देना है, अन्यथा आपकी आंख को बंद ही रखना है। और

सात दिन में आप हैरान हो जाएंगे कि मन के कितने तनाव आंख के बंद रहने से विदा हो जाते हैं, जिसकी आप अभी कल्पना नहीं कर सकते।
मन के अधिकतम तनाव आंख से प्रवेश करते हैं और आंख का तनाव ही मन के स्नायुओं के लिए सबसे बड़े तनाव का कारण है। अगर आंख शांत और शिथिल और रिलैक्स हो जाए, तो मस्तिष्क के निन्यानबे प्रतिशत रोग विदा हो जाते हैं। तो इसका आप पूरे ध्यानपूर्वक इसका उपयोग करना है। और ऐसा नहीं कि उसमें बचाव करें। बचाव करें तो मेरा कोई हर्जा नहीं है, बचाव से आपका हर्जा होगा। ध्यान यही रखना है कि अधिकतम आपको बिल्कुल ब्लाइंड हो जाना है, आप बिल्कुल अंधे हो गए हैं। आंख है ही नहीं। सात दिन के लिए उसे छुट्टी दे देना है। सात दिन के बाद आप पाएंगे कि आंख ऐसी शीतल हो सकती है और आंख की शीतलता के पीछे इतने आनंद के रस झरने बह सकते हैं, यह आपकी कल्पना में अभी नहीं हो सकता। लेकिन अगर आपने बीच-बीच में अपने साथ बेईमानी की तो मेरा जिम्मा नहीं है। वह आप पर निर्भर है। यहां कोई भी किसी दूसरे के लिए जिम्मेवार नहीं है। आप अपने को धोखा दे सकते हैं। चाहें तो अपने को धोखा देने से बच सकते हैं।
आंख की पट्टी के साथ ही आपके कान के लिए भी कपास मिलेगा। वह दोनों कान
पर लगा देना है। कान को भी छुट्टी दे देनी है। आंख, कान और मुंह तीनों को छुट्टी मिल जाए, तो आपकी इंद्रियों का उपवास हो जाता है। उसी पट्टी के नीचे कान को भी बंद करके ऊपर से बांध लेना है। तो दूसरे आपके मौन में भी बाधा नहीं दे सकेंगे, देना भी चाहें तो भी नहीं दे सकेंगे। आप भी देना चाहें तो नहीं दे सकेंगे। क्योंकि दूसरे को अवसर देने का पाप भी नहीं देना चाहिए। आपके कान खुले हैं, तो किसी को बोलने का टेंप्टेशन होता है। कान ही बंद हैं, वह बोले भी तो भी नहीं सुन सकते, तो टेंप्टेशन नहीं होता। तो कान भी बंद रखने हैं।
यह इंद्रिय-उपवास। मौन, आंख और कान, ये तो पूरे समय। सिर्फ सुबह यहां
जब मैं बोलूंगा तब आपको कान और आंख खुली रखनी हैं। दोपहर के ध्यान में आपको कान बंद रखना है, आंख खुली रखनी है। रात के ध्यान में आपको आंख खुली रखनी है, कान बंद रखने हैं।
और पांचवीं बात। ये चार और पांचवीं अंतिम और सर्वाधिक जरूरी है।
ध्यान रहे, परमात्मा के मंदिर में केवल वे ही लोग प्रवेश करते हैं, जो नाचते हुए प्रवेश करते हैं, जो हंसते हुए प्रवेश करते हैं, जो आनंदित प्रवेश करते हैं। रोते हुए लोगों ने परमात्मा के द्वार पर कभी भी मार्ग नहीं पाया है। इसलिए उदासी सात दिन के लिए छोड़ दें। प्रसन्न रहें, हंसें, नाचें, आह्लादित रहें। चियरफुलनेस पूरे वक्त आपके साथ हो। उठते-बैठते एक मगन, एक धुन में मस्त, एक हर्षोन्माद, एक एक्सटेसी, चढ़ा है एक नशा। चल रहे हैं, तो ऐसे नहीं कि जैसे हर कोई चलता है। चल रहे हैं, तो ऐसे जैसे कि फकीर को, साधक को चलना चाहिए-- नाचते हुए आनंद में। दूसरे की फिक्र छोड़ दें यहां। यहां हम आए ही इसलिए हैं ताकि हम दूसरे की फिक्र छोड़ सकें। कोई आपको पागल समझेगा, बस। आप पहले ही समझ लें कि इतना ही समझेगा, इससे ज्यादा कोई और हर्जा नहीं है।
तो इस पूरे शिविर को एक आनंदमग्न-- मौन, लेकिन आनंद से उबलता हुआ; चुप, लेकिन आह्लाद से नाचता हुआ; शांत, लेकिन भीतर ऊर्जा नृत्य करती हुई-- आह्लाद से भरे हुए रहें, नाचें, हंसें।
यहां ध्यान में भी, सुबह का जो ध्यान है, उसमें भी पूरे आनंद से भरे हुए रहें। जब नाचने का मन आए ध्यान में तो नाचें, कूदें, हंसें। रोएं, तो वह रोना भी आपके आनंद से ही आए। आपके आंसू भी आपकी खुशी को ही लाते हों। इसे ध्यान में रखें। दोपहर के मौन में भी आपको नाचने का मन है, नाचें। डोलने का मन है, डोलें। रात के ध्यान में भी नाचना चाहते हैं, नाचें। डोलना है, डोलें। हंसना है, हंसें। लेकिन आनंद की किरन आपके साथ बनी रहे।
ये पांच बातें कल सुबह से शुरू कर देनी हैं। इसलिए आज रात ही आप आंख की पट्टी, कान के लिए, वह सारा इंतजाम आप कर लेंगे। कल सुबह सूरज उगने के साथ आप वह नहीं हैं जो आए थे। फिर आपसे वह अपेक्षा नहीं है। फिर आपसे अपेक्षा जो मैंने कही वह है। और अगर आप अपनी अपेक्षा पूरी करते हैं, तो कोई कारण नहीं है-- कोई कारण नहीं है-- कि यहां से जाते वक्त आप न कह सकें, ओम शांतिः

शांतिः शांतिः। आप यह कहते हुए, आपका हृदय यह कहता हुआ जाए, इसमें कुछ भी कठिनाई नहीं है।
तो आज तो ये सूचनाएं ही आपको देनी थीं।
कल सुबह पहले हम घंटेभर ईशावास्य पर चर्चा करेंगे, फिर घंटेभर ध्यान करेंगे। फिर दोपहर घंटेभर मौन। फिर रात घंटेभर तीसरे प्रकार का ध्यान। और बाकी समय तो आपको ध्यान में लीन रहना ही है।
रात की बैठक पूरी हुई।
शायद एक-दो सूचनाएं कुछ होंगी, तो वह मित्र आपको दे देंगे, फिर हम विदा होंगे।

ईशावास्य उपनिषद
दूसरा प्रवचन

वह परम भोग है

हरिः ओम्
ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।। 1।।

जगत में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है। उसके त्याग-भाव से तू अपना पालन कर; किसी के धन की इच्छा न कर।। 1।।

ईशावास्य उपनिषद की आधारभूत घोषणाः सब कुछ परमात्मा का है। इसीलिए ईशावास्य नाम है--ईश्वर का है सब कुछ।
मन करता है मानने का कि हमारा है। पूरे जीवन इसी भ्रांति में हम जीते हैं। कुछ हमारा है--मालकियत, स्वामित्व--मेरा है। ईश्वर का है सब कुछ, तो फिर मेरे मैं को खड़े होने की कोई जगह नहीं रह जाती।
ध्यान रहे, अहंकार भी निर्मित होने के लिए आधार चाहता है। मैं को भी खड़ा होने के लिए मेरे का सहारा चाहिए। मेरे का सहारा न हो तो मैं को निर्मित करना असंभव है।
साधारणतः देखने पर लगता है कि मैं पहले है, मेरा बाद में है। असलियत उलटी है। मेरा पहले निर्मित करना होता है, तब उसके बीच में मैं का भवन निर्मित होता है।
सोचें, आपके पास जो-जो भी ऐसा है, जिसे आप कहते हैं मेरा, वह छीन लिया जाए सब, तो आपके पास मैं भी बच नहीं रहेगा। मेरे का जोड़ है मैं। मेरा धन, मेरा मकान, मेरा धर्म, मेरा मंदिर, मेरी मस्जिद, मेरा पद, मेरा नाम, मेरा कुल, मेरा वंश। इन सारे लाखों मेरे के बीच में मैं निर्मित होता है। एक-एक मेरे को हम गिराते चले जाएं, तो मैं की भूमि छिनती चली जाती है। अगर एक भी मेरा न बचे, तो मैं के बचने की कोई जगह नहीं रह जाती।
मैं के लिए मेरे का नीड़ चाहिए, निवास चाहिए, घर चाहिए। मैं के लिए मेरे
के बुनियादी पत्थर चाहिए, अन्यथा मैं का पूरा मकान गिर जाता है। ईशावास्य की पहली घोषणा उस पूरे मकान को गिरा देने वाली है। कहता है ऋषिः सब कुछ परमात्मा का है। मेरे का कोई उपाय नहीं। मैं भी अपने को मेरा कह सकूं, इसका भी उपाय नहीं। कहता हूं अगर, तो नाजायज। अगर कहता ही चला जाता हूं, तो विक्षिप्त। मैं भी मेरा नहीं हूं। और तो सब ठीक ही है।
इसे दो-तीन दिशाओं से समझने की कोशिश करनी जरूरी है।
पहला तो, आप जन्मते हैं, मैं जन्मता हूं, लेकिन मुझसे कोई पूछता नहीं। मेरी इच्छा कभी जानी नहीं जाती कि मैं जन्मना चाहता हूं! जन्म मेरी इच्छा, मेरी स्वीकृति पर निर्भर नहीं है। मैं जब भी अपने को पाता हूं जन्मा हुआ पाता हूं। जन्मने के पहले मेरा कोई होना नहीं है।
इसे ऐसा सोचें, आप एक मकान बनाते हैं। मकान से पूछते नहीं कि तू बनना
भी चाहता है या नहीं बनना चाहता है। मकान की कोई मर्जी नहीं। आप बनाते हैं, मकान बन जाता है। कभी आपने सोचा कि आपसे भी तो आपकी मर्जी कभी नहीं पूछी गई है। ईश्वर जन्माता है, आप जन्म जाते हैं। ईश्वर बनाता है, आप बन जाते हैं। मकान को भी होश आ जाए तो वह कहे, मैं। मकान को भी होश आ जाए तो वह बनाने वाले को मालिक नहीं मानेगा। मकान भी कहेगा कि बनाने वाला मेरा नौकर है, मुझे बनाया है इसने। मेरा साधन है, मेरी सेवा की है, मैं बनना चाहता था।
लेकिन मकान को होश नहीं है। आदमी को होश है। और कौन जाने कि मकान को होश नहीं है, हो भी सकता है। होश के भी हजार तल हैं।
आदमी का होश का एक ढंग है, एक तरह की कांशसनेस है। जरूरी नहीं है वैसी
ही कांशसनेस सबकी हो। मकान की और तरह की हो सकती है। पत्थर की और तरह की हो सकती है। पौधे की और तरह की हो सकती है। वे भी, हो सकता है, अपने-अपने मैं में जीते हों। और माली जब पौधे में पानी डालता हो तो पौधा यह न सोचता हो कि

माली मुझे जन्मा रहा है, पौधा यही सोचता हो कि मैं माली की सेवाएं लेने का अनुग्रह कर रहा हूं। कृपा है मेरी कि सेवाएं ले लेता हूं! यद्यपि पौधे से कोई कभी पूछने नहीं गया कि तुझे जन्मना भी है!
जो जन्म हमारी इच्छा के बिना है, उसे मेरा कहना एकदम नासमझी है। जिस जन्म के पहले मुझसे पूछा ही नहीं जाता कभी, उसे मेरे कहने का क्या अर्थ है? न ही मौत आएगी तो पूछकर आएगी। न ही मौत पूछेगी कि क्या इरादे हैं? चलते हैं, नहीं चलते हैं? आएगी और बस आ जाएगी। ऐसे ही अनजानी जैसा जन्म आता है। ऐसे ही बिना पूछे, द्वार पर दस्तक दिए बिना, बिना किसी पूर्व-सूचना के, बिना आगाह किए, बस चुपचाप खड़ी हो जाएगी। और कोई विकल्प नहीं छोड़ती--कोई आल्टरनेटिव नहीं, कोई चुनाव नहीं, कोई च्वायस नहीं। यह भी नहीं कि क्षणभर रुक जाना चाहूं तो रुक सकूं।
तो जिस मौत में मेरी इतनी भी मर्जी नहीं है, उसे मेरी मौत कहना बिल्कुल पागलपन है। जिस जन्म में मेरी मर्जी नहीं है, वह जन्म मेरा नहीं है। जिस मौत में मेरी मर्जी नहीं है, वह मौत मेरी नहीं है। और उन दोनों के बीच में जो जीवन है, वह मेरा कैसे हो सकता है? उन दोनों के बीच में जिस जीवन को हम भरते हैं, जब उसके दोनों छोर मेरे नहीं हैं--दोनों बुनियादी छोर मेरे नहीं हैं, दोनों अनिवार्य छोर मेरे नहीं हैं, जिनके बिना मैं हो भी नहीं सकता--तो बीच का जो भराव है, वह भी धोखा है, डिसेप्शन है। और उसे हम भरते हैं, और हम मौत और जन्म को बिल्कुल भूल जाते हैं।
अगर हम मनस्विद से पूछें तो वह कहेगा, हम जानकर भूल जाते हैं। क्योंकि बड़े दुखद स्मरण हैं ये। मेरा जन्म भी मेरा नहीं है तो कितना दीन हो जाता हूं। मेरी मृत्यु भी मेरी नहीं है तो छिन गया सब, कुछ बचा नहीं, मेरे हाथ रिक्त और खाली हो गए। राख बची। और इन दोनों के बीच में जिस जीवन के लंबे सेतु को मैं निर्मित करूंगा... एक नदी पर हम पुल बनाते हैं, ब्रिज बनाते हैं। न यह किनारा हमारा है, न वह किनारा हमारा है। न इस किनारे पर रखे हुए ब्रिज के, सेतु की बुनियाद हमारी है, न उस तरफ की बुनियाद हमारी है। तो यह बीच की नदी पर जो फैला हुआ पुल है, वह भी हमारा कैसे हो सकता है? आधार जिसके हमारे नहीं हैं, वह हमारा नहीं हो सकता है। इसलिए हम जानकर भुला देते हैं। आदमी बहुत सी बातें जानकर भुलाए हुए है। कुछ बातों को वह स्मरण ही नहीं करता। क्योंकि वह स्मरण उसके अहंकार की सारी की सारी अकड़ खींच लेगा, बाहर कर देगा। फिर क्या है हमारा? छोड़ें जन्म और मृत्यु को। जीवन में ऐसा भ्रम होता है कि बहुत कुछ हमारा है। लेकिन जितना ही खोजने जाते हैं, पाया जाता है कि नहीं वह भी हमारा नहीं है।
आप कहते हैं, किसी से मेरा प्रेम हो गया, बिना यह सोचे हुए कि प्रेम आपका निर्णय है, योर डिसीजन? नहीं, लेकिन प्रेमी कहते हैं कि हमें पता ही नहीं चला, कब हो गया! इट हैपेन्ड, हो गया, हमने किया नहीं। तो जो हो गया, वह हमारा कैसे हो सकता है? नहीं होता तो नहीं होता। हो गया तो हो गया। बड़े परवश हैं, बड़ी नियति है। सब जैसे कहीं बंधा है।
लेकिन बंधान कुछ ऐसा है कि जैसे हम एक जानवर को एक रस्सी में बांध दें,
एक खूंटी में बांध दें और जानवर रस्सी की खूंटी में चारों तरफ घूमता रहे। घूमने से भ्रम पैदा हो कि मैं स्वतंत्र हूं, क्योंकि घूमता हूं। और रस्सी को भुला दे, क्योंकि रस्सी दुखद है। वह जो खूंटी से बंधी हुई रस्सी है, वह बड़ी दुखद है, वह परतंत्रता की खबर लाती है। सच तो यह है कि वह स्वयं के न होने की खबर लाती है। परतंत्र होने योग्य भी हम नहीं हैं, स्वतंत्र होने की तो बात बहुत दूर है। परतंत्र होने के लिए भी तो हमें होना चाहिए, वह भी हम नहीं हैं। वह जो खूंटी बंधी है, चारों तरफ घूम लेता है जानवर, चूंकि घूम लेता है, कभी बाएं चला जाता है, कभी दाएं चला जाता है, तो सोचता है, स्वतंत्र हूं। और जब स्वतंत्र हूं, तो मैं हूं। फिर धीरे-धीरे अपने को समझा लेता होगा कि खूंटी से बंधा हूं, यह भी मेरी मर्जी है। जब चाहूं तब तोड़ दूं। राजी हो गया हूं, यह भी मेरे हित के लिए है।
जीवन में हम बहुत सा भ्रम पैदा करते हैं। कहते हैं क्रोध, कहते हैं प्रेम, कहते हैं घृणा, मित्रता, शत्रुता--लेकिन कुछ भी तो हमारा निर्णय नहीं है। कभी आपने ऐसा क्रोध किया है, जो आपने किया हो? कभी नहीं किया। जब क्रोध होता है तब आप होते ही नहीं। कभी आपने प्रेम किया है, जो आपने किया

हो? अगर आप प्रेम कर सकते तब तो किसी को भी कर सकते थे, लेकिन किसी को कर पाते हैं और किसी को नहीं कर पाते। और किसी को कर पाते हैं, तो नहीं चाहते तो भी करते हैं। और किसी को नहीं कर पाते हैं, तो चाहें तो भी नहीं कर पाते। जिंदगी की सारी भावनाएं किसी अज्ञात छोर से आती हैं--जहां से जन्म आता
है वहीं से। आप नाहक ही बीच में मालिक बन जाते हैं। और आपने क्या किया है? क्या है जो आपका किया हुआ है? भूख लगती है, नींद आती है, सुबह नींद टूट जाती है, सांझ फिर आंखें बंद होने लगती हैं। बचपन आता है, फिर कब चला जाता है? फिर कैसे चला जाता है? न पूछता, न विचार-विमर्श लेता, न हम कहें तो क्षणभर ठहरता। फिर जवानी चली आती है, फिर जवानी विदा हो जाती है। फिर बुढ़ापा आ जाता है। आप कहां हैं?
नहीं, लेकिन आप कहे चले जाते हैं कि मैं जवान हूं, मैं बूढ़ा हूं। जैसे
कि जवानी कुछ आप पर निर्भर हो। फिर जवानी के अपने-अपने फूल हैं। बुढ़ापे के अपने फूल हैं जो खिलते हैं। वैसे ही खिलते हैं जैसे वृक्षों पर फूल खिलते हैं। गुलाब का पौधा नहीं कह सकता कि मैं गुलाब के फूल खिलाता हूं। क्योंकि यह तभी कह सकता था जब चमेली के खिला सकता होता। लेकिन चमेली के तो खिला नहीं पाता। चंपा के तो खिला नहीं पाता। मधुकामिनी तो नहीं लगती उस पर। गुलाब ही लगता है। फिर नाहक ही अकड़ है। गुलाब लगता है। चमेली पर चमेली लगती है।
बचपन में बचपन के फूल खिलते हैं, आप नहीं खिलाते। और अगर बचपन में निर्दोष होते हैं, तो होते हैं। कुछ गुण नहीं। कुछ गौरव नहीं। कुछ यश मत ले लेना उससे। बचपन में सरलता होती है, तो होती है। और जवानी में अगर काम और वासना पकड़ लेती है, तो वैसे ही पकड़ लेती है जैसे बचपन में निर्दोषता पकड़ लेती है। न उसके आप मालिक होते हैं, न जवानी में कामवासना के आप मालिक होते हैं। और अगर बुढ़ापे में मन ब्रह्मचर्य की तरफ झुकने लगता है, तो कुछ अपना गौरव मत समझ लेना। वैसे ही, ठीक वैसे ही, जैसे जवानी में काम पकड़ लेता है, बुढ़ापे में काम से विरक्ति पकड़ लेती है। और जिसको नहीं पकड़ती है, उसका भी कुछ वश नहीं है। और जिसको पकड़ लेती है, वह भी नाहक का गौरव न ले।
मैं को खड़े होने की जगह नहीं है। अगर जीवन को एक-एक कण-कण सोचेंगे, तो पाएंगे, मैं को खड़े होने की जगह नहीं है। लेकिन भ्रम पैदा हम क्यों कर लेते हैं? कैसे यह इलूजन पैदा होता है? यह डिसेप्शन, यह प्रवंचना आती कहां से है?
यह आती इसलिए है कि हमें पूरे वक्त ऐसा लगता है कि विकल्प हैं, आल्टरनेटिव हैं। जैसे आपने मुझे गाली दी, तो मेरे सामने दो विकल्प हैं कि चाहूं तो मैं गाली का जवाब दूं और चाहूं तो न दूं--ऐसा मुझे लगता है, है नहीं। ऐसा मुझे लगता है कि चाहूं तो जवाब दूं और चाहूं तो जवाब न दूं! लेकिन क्या सच में ही विकल्प होते हैं? क्या जो आदमी गाली के उत्तर में गाली देता है, वह चाहता तो न देता? आप कहेंगे कि चाहता तो नहीं दे सकता था। लेकिन थोड़ा और गहरे जाना पड़ेगा। वह चाह भी आप में होती है कि आप ले आते हैं? गाली देने की चाह, या न देने की चाह, वह भी आपके वश में है? नहीं, जो बहुत गहरे खोजते हैं, वे कहते हैं कि कहीं तो हमें पता चलता है कि चीजें हमारे वश के बाहर हो जाती हैं। एक आदमी को ख्याल आता है कि गाली दूं, गाली देता है। एक आदमी को ख्याल आता है, नहीं दूं, नहीं देता है। लेकिन यह ख्याल कि दूं या नहीं दूं, यह ख्याल कहां से आता है? यह ख्याल आपका है? यह वहीं से आता है, जहां से जन्म। यह वहीं से आता है, जहां से प्रेम। यह वहीं से आता है, जहां से प्राण। यह वहीं खो जाता है, जहां मौत। यह वहीं लीन हो जाता है, जहां जाती हुई श्वास। लेकिन धोखा देने की सुविधा हो जाती है कि मेरे हाथ में है। चाहता तो गाली न देता। लेकिन किसने कहा था कि आप दें?
नहीं, आप कहेंगे, बुद्ध हैं, महावीर हैं, वे गाली नहीं देते।
क्या आप समझते हैं कि वे चाहें तो गाली दे सकते हैं? नहीं, जैसे आप गाली देने में बंधा हुआ अनुभव करते हैं, उससे कम बंधा हुआ बुद्ध और महावीर अनुभव नहीं करते हैं न गाली देने में। चाहें तो भी दे नहीं सकते। नहीं, वह चाह पैदा ही नहीं होती।
एक झेन फकीर के पास सुबह-सुबह एक आदमी आया और कहने लगा कि आप इतने शांत क्यों हैं? और मैं इतना अशांत क्यों हूं? उस फकीर ने कहा कि बस मैं शांत

हूं और तुम अशांत हो। तुम अशांत हो, बात खतम हो गई। अब इसमें कुछ और आगे कहने को नहीं है। उस आदमी ने कहा कि नहीं, लेकिन आप शांत कैसे हुए? उस फकीर ने पूछा कि मैं तुमसे पूछना चाहूंगा कि तुम अशांत कैसे होते हो? वह आदमी कहने लगा, अशांति आ जाती है। उस फकीर ने कहा, बस ऐसा ही हुआ है, शांति आ गई। और मेरा कोई गौरव नहीं है। जब तक अशांति आती थी, आती थी। मैं कुछ भी कर न सका। और जब शांति आ गई, तो अब मैं अगर अशांति लाना चाहूं तो उतना ही बंध गया हूं, अब भी कुछ नहीं कर पाता हूं।
उस आदमी ने कहा, नहीं, लेकिन मुझे भी रास्ता बताएं शांत होने का। उस फकीर ने कहा, मैं तो एक ही रास्ता जानता हूं कि तुम यह भ्रम छोड़ दो कि तुम कुछ कर सकते हो। अशांत हो तो अशांत हो जाओ। जानो कि अशांत हूं, मेरे हाथ में नहीं। और तब तुम पाओगे कि पीछे से शांति आने लगी। वह भी तुम्हारे हाथ में नहीं है। शांत होने की कृपा करके कोशिश मत करो। जो लोग भी शांत होने की कोशिश करते हैं और अशांत हो जाते हैं। अशांत तो होते ही हैं, अब यह शांत होने की कोशिश और नई अशांति को जन्म दे जाती है।
पर उस आदमी ने कहा कि नहीं, मुझे बात कुछ जमती नहीं, मुझे शांत होना है। उस फकीर ने कहा, तुम अशांत रहोगे। क्योंकि तुम्हें कुछ होना है। तुम छोड़ नहीं सकते परमात्मा पर। जबकि सब उस पर है। तुम्हारे हाथ में कुछ है नहीं। जिस दिन से हम राजी हो गए, जो था उसी के लिए, उसी दिन से हम शांत हुए। जब तक हम कुछ होना चाहते थे, तब तक हम कुछ हो न सके।
पर नहीं, वह आदमी नहीं माना। उसने कहा कि तुम्हारी शांति से ईर्ष्या पैदा होती है। और हम ऐसे मानकर चले न जाएंगे। तब उस फकीर ने कहा, रुको। जब कोई न रहे यहां, तब पूछ लेना। फिर दिन में कई मौके आए, कोई न था। उस आदमी ने फिर कहा कि अब कुछ बता दें, अब कोई भी नहीं है। उस फकीर ने ओंठ पर उंगली रखी और कहा कि चुप। वह आदमी बड़ा परेशान हुआ। उसने कहा कि जब लोग आ जाते हैं तब मैं पूछता हूं, तो आप कहते हैं, जब कोई न रहे। और जब कोई नहीं रहता है और मैं पूछता हूं, तो आप कहते हैं, चुप! यह हल कैसे होगा?
फिर सांझ हो गई, सूरज ढल गया, सब लोग चले गए। झोपड़ा खाली हो गया। उसने कहा कि अब तो बताएं! तो फकीर ने कहा, बाहर आ। बाहर गए, पूर्णिमा का चांद निकला था। फकीर ने कहा, देखता है ये पौधे?
सामने ही छोटे-छोटे पौधे लगे थे।
उसने कहा, देखता हूं।
फकीर ने कहा, देखता है वे दूर खड़े वृक्ष आकाश को छूते?
उसने कहा, देखता हूं।
उस फकीर ने कहा, वे बड़े हैं और ये छोटे हैं। और झगड़ा कुछ भी नहीं। इनमें मैंने कभी विवाद नहीं सुना। इस छोटे पौधे ने कभी बड़े पौधे से नहीं पूछा कि तू बड़ा क्यों है? छोटा अपने छोटे होने में शांत है। बड़े ने कभी छोटे से नहीं पूछा कि तू छोटा क्यों है? बड़े की अपनी मुसीबतें हैं। जब तूफान आते हैं तब पता चलता है। छोटे की अपनी तकलीफें हैं। पर छोटा छोटा होने को राजी है, बड़ा बड़ा होने को राजी है। और उन दोनों के बीच मैंने कभी संवाद नहीं सुना। और मैंने दोनों को शांत पाया है। तू भी कृपा कर और मुझे छोड़। मैं जैसा हूं वैसा हूं। तू जैसा है वैसा है।
पर वह आदमी कैसे माने! हम भी कैसे मानें! मन करता है कुछ होने को। क्यों करता है? हमने मान रखा है कि हम कुछ कर सकते हैं। नहीं, ईशावास्य कहता है, नहीं कर सकते। कर्ता नहीं बन सकते।
भाग्य की जो अदभुत कल्पना है, उसके पीछे यह रहस्य था। नियति की, डेस्टिनी की जो अदभुत धारणा है, उसके पीछे यह राज है। नियति और भाग्य का यह मतलब नहीं है कि आप कुछ न करें, बैठ जाएं। क्योंकि भाग्य तो कहता है, बैठ भी नहीं सकते तुम। वह बिठाए तो बैठ सकते हैं। भाग्य तो कहता है, कुछ न करें हम फिर, यह भी तुम नहीं कर सकते। वह न कराए तो नहीं करना आ जाएगा।
ध्यान रखें, भाग्यवादी जो लोग दिखाई पड़ते हैं उनमें एक भी भाग्यवादी नहीं है। वे कहते हैं, सब भाग्य कर रहा है, हम क्या करें। तो हम कुछ नहीं करते। हम कुछ नहीं करते, इतना भी ख्याल शेष रह गया तो करने का भाव शेष है। पूर्ण नियति की धारणा यह है कि हम हैं ही नहीं। करने का उपाय नहीं है। वही है--परमात्मा ही है।

और जब हम कर न सकते हों, कर्ता न हो सकते हों, तो फिर ममत्व, मेरा क्या होगा? किसे हम कहें, मेरा है? बेटे को कहें, मेरा है? लगता है, क्योंकि मैंने जन्म दिया मालूम पड़ता है। ऐसा भ्रम होता है। हालांकि किसी ने कभी किसी बेटे को जन्म नहीं दिया। बेटे जन्मते हैं। आपसे रास्ता खोज लेते हैं।
कामवासना को आप जन्म नहीं देते। आपसे रास्ता बना लेती है। एक स्त्री
को आप प्रेम करने लगते हैं। वह प्रेम आपसे नहीं आता, वह प्रेम आपसे रास्ता बना लेता है। वह दोनों की वासना, दोनों का प्रेम, दोनों के शरीर मिलने को आतुर हो जाते हैं। वह आतुरता आपकी नहीं है। वह आतुरता आपके रोएं-रोएं में छिपी है। वह दबी है कण-कण में, वह धक्के देती है। फिर एक बच्चे का जन्म हो जाता है। कोई मां बन जाती है, कोई बाप बन जाता है। जैसे हमने जन्म दिया हो! नियति हंसती है। नियति बिल्कुल हंसती है। आपसे जन्म लिया गया है, आपने दिया नहीं। यू हैव बीन जस्ट ए पैसेज, एक यात्रा-पथ मात्र, जिससे नियति ने जन्म लिया है। आपने कुछ किया नहीं।
एक मकान आप बना लेते हैं, तो कहते हैं, मेरा है। लेकिन देखते हैं, चिड़ियां भी घोंसला बना लेती हैं। इस जगत में छोटे से छोटा प्राणी भी रहने की जगह बनाता है। और ऐसी चिड़ियां भी हैं जो कभी किसी से सीखती नहीं। कुछ ऐसी चिड़ियां हैं, जिनको जन्म देने के बाद, जिनके अंडा देने के बाद मां तो उड़ जाती है। अंडा जब फूटता है, तो चिड़िया सीधी बाहर निकल आती है। उसे मां की शिक्षा नहीं मिल पाती, पिता का संरक्षण नहीं मिल पाता। कोई स्कूलिंग, कोई स्कूल में उसको भर्ती नहीं किया जाता। बड़े आश्चर्य की बात है, वह चिड़िया फिर वैसा ही घोंसला बनाती है जैसा उसकी मां ने बनाया था, और उसकी मां की मां ने बनाया था, और उसकी मां की मां ने बनाया था। और वह घोंसला साधारण नहीं होता, बहुत टेक्नीकल, बड़े तकनीक का, बड़ा आर्किटेक्चर का होता है। कि आदमी को भी बनाना पड़े तो सीखना पड़े, फिर भी पूरी कुशलता से बना ले तो कठिन है।
यह घोंसला कैसे बन जाता है? वैज्ञानिक कहते हैं, बिल्ट-इन प्रोग्राम।
वे कहते हैं, चिड़िया के भीतर उसके रोएं-रोएं में बिल्ट-इन प्रोग्राम है। उसके जन्म के साथ ही उसकी हड्डी-मांस-मज्जा में उस घोंसला बनाने की पूरी की पूरी नियमावली छिपी है। वह बनाएगी ही। वह वही घास-पत्ते खोज लाएगी जो उसकी मां ने खोजे थे। किसी ने सिखाया नहीं है। मां उसे मिली नहीं है। कोई स्कूल में उसे भर्ती नहीं किया गया। वह वही पत्ते चुन लाएगी, वह वही घास के तिनके उठा लाएगी, फिर वही ढांचा, फिर वही घोंसला बन जाएगा।
आदमी भी बनाता है। सभी बनाते हैं। मेरे के कहने का कोई कारण नहीं है। मेरे के कहने का कोई भी कारण नहीं है।
किस चीज में हम कहें मेरा है? क्योंकि धन इकट्ठा कर लेते हैं? संग्रह सारे प्राणी करते हैं। अनेक-अनेक रूपों में करते हैं। और ऐसा नहीं है कि आदमी उनमें सर्वाधिक कुशल है। ऐसा भी नहीं है। आदमी से भी ज्यादा कुशल संग्रह करने वाले प्राणी हैं।
साइबेरिया में सफेद भालू होता है। छह महीने बर्फ पड़ती है। उस छह महीने में आदमी का बचना मुश्किल है, लेकिन भालू बच जाता है। उसके संग्रह करने का ढंग बहुत अदभुत है। उसका परिग्रह करने का ढंग बहुत कुशल है। वह चीजें इकट्ठी नहीं करता, वह छह महीने चर्बी इकट्ठी करता है शरीर के भीतर। चर्बी बढ़ाए चला जाता है। चर्बी इतनी इकट्ठी कर लेता है वह कि छह महीने जब बर्फ पड़ती है और बर्फ में दबकर नीचे दब जाता है, तो अपनी ही चर्बी खाता रहता है छह महीने तक बर्फ में दबा हुआ।
आपकी तिजोरी इतने भीतर नहीं है। चोर उठा ले जा सकते हैं। और तिजोरी बहुत सी चीजों पर निर्भर है, तभी काम कर पाएगी। धन पास में हो, बाजार खो जाए, तो काम नहीं कर पाएगा। वह सफेद भालू ज्यादा कुशल है। वह सीधा भोजन ही इकट्ठा करता है। और चूंकि बर्फ में इतना दब जाएगा कि चबाने, श्वास लेने, मांस-मज्जा बनाने की सुविधा नहीं रह जाएगी, इसलिए तैयार भोजन भीतर चर्बी की तरह इकट्ठा करता है, उसको चुपचाप पचा लेगा।
सारा जगत संग्रह करता है। तो संग्रह करने में कुछ यह मत सोच लें कि हम
ही करते हैं। कोई मां अगर अपने बेटे को दूध पिलाती है, तो किसी बहुत गौरव

से न भर जाए। दूध भर आता है, बेटे के आने के साथ ही शरीर दूध बनाना शुरू कर देता है। बेटा दूध पीने से इनकार कर दे तब मां को तकलीफ हो, तब उसे पता चले कि आब्लिगेटरी... । बच्चा दूध पी लेता है, बड़ी कृपा है। न पीए तो बेचैनी पैदा हो जाएगी। मां ने कभी जानकर दूध नहीं बनाया। जैसे बच्चा अनजाना पैदा होता है, ऐसा ही बच्चे के साथ दूध पैदा हो जाता है। बच्चा बड़ा हुआ कि दूध खोना शुरू हो जाता है। जैसे ही बच्चे की दूध की जरूरत पूरी हो गई, दूध विदा हो जाता है। यह सब निसर्गगत है। संग्रह की वृत्ति निसर्गगत है।
इसलिए ईशावास्य का यह सूत्र कहता हैः सब परमात्मा का है। निसर्ग का कहें, नियति का कहें, प्रकृति का कहें, लेकिन ईशावास्य कहता है, परमात्मा का है। क्योंकि निसर्ग, नियति और प्रकृति मेकेनिकल शब्द हैं, यांत्रिक शब्द हैं। यह इतना विराट, यह इतना रहस्यपूर्ण, यांत्रिक नहीं हो सकता-- जीवंत है, चेतन है।
विज्ञान भी यही कहता है कि सब प्रकृति कर रही है, सब प्रकृति कर रही है। लेकिन जब हम कहते हैं विज्ञान की भाषा में कि सब प्रकृति कर रही है, तो हम दीन तो हो जाते हैं, हीन तो हो जाते हैं, यंत्रवत हो जाते हैं। लेकिन जब ईशावास्य कहता है, सब परमात्मा कर रहा है, तो एक तरफ हमारा अहंकार भी छिन जाता है, लेकिन दूसरी तरफ हम परमात्मा हो जाते हैं। वही महत्वपूर्ण है। वही समझ लेने जैसा है।
इसलिए विज्ञान जितना विकसित होता जाता है... विज्ञान का भी जोर यही है
कि आदमी यह भ्रम छोड़ दे कि मैं कर रहा हूं, सब हो रहा है। लेकिन उसका जोर इस बात पर है कि सब मेकेनिकल हो रहा है, सब यंत्रवत हो रहा है। मशीन की तरह सब होता है। सारा जगत यंत्रवत चल रहा है। अगर सब यंत्रवत हो रहा है, तो आदमी दीन तो हो जाता है, उसका अहंकार तो खंडित हो जाता है, लेकिन किसी दूसरे मार्ग से उसकी गरिमा वापस नहीं लौटती। उसका गौरव, जो अहंकार से मिलता था, बड़ा क्षुद्र था। छोटे से मिट्टी के तेल में जलते हुए दीए की तरह था। वह तो बुझ जाता है--गहन अंधकार छा जाता है--सूरज कहीं से वापस नहीं लौटता।
इसलिए विज्ञान की बजाय ईशावास्य की घोषणा ज्यादा कीमती है। इधर आपकी टिमटिमाती छोटी सी ज्योति को बुझाता है ईशावास्य कि बुझो तुम, तुम नहीं हो। तुम नाहक परेशान हो। दूसरी तरफ महासूर्य को जन्म दे जाता है। परमात्मा है। एक तरफ कहता है, तुम नहीं हो और दूसरी तरफ से तत्काल तुम्हें परमात्मा की स्थिति में स्थापित कर जाता है। एक तरफ से तुम्हें छीन लेता है, मिटा देता है और दूसरी तरफ से तुम्हें पूर्ण को दे जाता है। इसलिए अहंकार के मिट्टी के दीए और मिट्टी के तेल में जलती हुई धुंधियारी ज्योति को तो बुझा देता है--धुआं भी था, बास भी थी--और सूरज के आलोक को दे जाता है। मिटाता है मैं को, लेकिन परम मैं को प्रतिष्ठा दे जाता है।
धर्म और विज्ञान के मूल आयाम में यही भेद है। विज्ञान भी उन्हीं बातों को कह रहा है जिन्हें धर्म कहता है। उसकी एम्फेसिस मेकेनिकल है, उसका जोर यंत्र पर है। धर्म भी वही कह रहा है, लेकिन उसका जोर चेतना पर, प्रज्ञा पर, जीवंत पर है। और वह जोर कीमती है। अगर पश्चिम का विज्ञान सफल हो गया, तो अंततः आदमी मशीन हो जाएगा। अगर पूरब का धर्म जीत गया, तो अंततः मनुष्य परमात्मा हो जाता है। दोनों ही अहंकार छीन लेते हैं। लेकिन एक से अहंकार छिनता है तो आदमी नीचे गिरता है।
आज से डेढ़ सौ, दो सौ वर्ष पहले जब विज्ञान ने पहली बार यह बात करनी शुरू की कि आदमी परवश है। जब डार्विन ने कहा कि तुम यह भूल जाओ कि तुम्हें परमात्मा ने निर्मित किया है, तुम पशुओं से आए हो। तब आदमी का पहला अहंकार टूटा। बड़े जोर से टूटा। सोचता था, ईश्वर-पुत्र हैं। पता चला, नहीं। पिता ईश्वर नहीं मालूम पड़ता। वानर जाति का एक चिंपांजी, बबून, कोई बंदर पिता मालूम पड़ता है। निश्चित, धक्के की बात थी। कहां परमात्मा था सिंहासन पर, जिसके हम बेटे थे, और कहां बंदर के बेटे होना पड़ा। बहुत दुखद था। बहुत पीड़ादाई था।
तो पहले विज्ञान ने कहा कि आदमी आदमी है, यह भूले; एक प्रकार का पशु है। सारी अहंकार की, सारी ईगो की व्यवस्था टूट गई। लेकिन यात्रा जब भी किसी तरफ शुरू हो जाए तो जल्दी रुकती नहीं, अंत तक पहुंचती है। जानवर पर रुकना मुश्किल था। पहले विज्ञान ने कहा कि आदमी एक तरह का पशु है। फिर

विज्ञान ने पशुओं की खोजबीन की और पाया कि पशु एक तरह का यंत्र है। पाया कि पशु एक तरह का यंत्र है।
अब आप देखते हैं, कछुआ सरक रहा है। आप देखते हैं, धूप घनी हो गई, तो कछुआ छाया में चला गया। आप कहेंगे, कछुआ सोचकर गया। विज्ञान कहता है, नहीं। विज्ञान ने मेकेनिकल कछुए बना लिए, यंत्र के कछुए बना लिए। उनको छोड़ दें। जब तक धूप कम तेज रहती है, तब तक वे धूप में रहे आते हैं। जैसे ही धूप घनी हुई कि वे सरके। वे झाड़ी में चले गए। यंत्र है! क्या हो गया उसको? विज्ञान कहता है कि थर्मोस्टेट है। इतने से ज्यादा गर्मी जैसे ही भीतर पहुंची कि बस छाया की तरफ सरकना शुरू हो जाता है। इसमें कुछ चेतना नहीं है। यंत्र भी यह कर लेगा। यह आटोमेटिक यंत्र भी कर लेगा।
आप देखते हैं, एक पतिंगा उड़ता है दीए की ज्योति की तरफ। कवि कहते हैं
कि दीवाना है, ज्योति का प्रेमी है, इसलिए जान गंवा देता है। वैज्ञानिक नहीं कहते हैं। वे कहते हैं, दीवाना वगैरह कुछ भी नहीं है, मेकेनिकल है। जैसे ही उस पतिंगे को ज्योति दिखाई पड़ती है, उसका पंख ज्योति की तरफ झुकना शुरू हो जाता है। उन्होंने यांत्रिक पतिंगे बना लिए हैं। उनको छोड़ दें, अंधेरे में घूमते रहेंगे। फिर दीया जलाएं, फौरन दीए की तरफ चले जाएंगे। पीछे विज्ञान ने सिद्ध किया कि जानवर यंत्र है। अंतिम नतीजा बड़ा अजीब हुआ। आदमी था जानवर, फिर जानवर हुआ यंत्र। अंततः निष्कर्ष हुआ कि आदमी यंत्र है। स्वभावतः इसमें सच्चाई है। इसमें थोड़ी सच्चाई है। अहंकार तोड़ते हैं, यह तो ठीक है। लेकिन अहंकार तोड़कर आदमी नीचे गिरता है, यंत्रवत हो जाता है। परिणाम खतरनाक होंगे। परिणाम खतरनाक हुए हैं।
स्टैलिन और हिटलर करोड़ों लोगों की हत्या कर सके। क्योंकि अगर आदमी यंत्र है, तो हत्या से कोई फर्क नहीं पड़ता। देखें, मजे की बात। कृष्ण भी गीता में कह सके कि आदमी की आत्मा अमर है, मरती नहीं, हत्या से कोई फर्क नहीं पड़ता। और स्टैलिन भी कह सकता है कि आदमी यंत्र है, आत्मा है ही नहीं, हत्या से कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन कृष्ण जब कहते हैं कि आत्मा अमर है अर्जुन, तू कितना ही मार, मरती नहीं। तब नतीजा तो वही दिखाई पड़ता है कि अर्जुन भी मारने को उत्सुक हो जाता है। लेकिन परिणाम बड़े भिन्न हैं। आत्मा की अमरता की घोषणा, मृत्यु बेमानी हो जाती है। यहां स्टैलिन भी राजी हो जाता है मारने को लाखों-करोड़ों लोगों को। लेकिन इसलिए कि आत्मा तो है ही नहीं, मारने में हर्ज क्या है?
एक मशीन को मारने में कोई भी हर्ज तो नहीं है। अगर आप एक मशीन को डंडा मार दें, तो कोई अहिंसक भी तो आपसे नहीं कह सकेगा कि हिंसा की। एक मशीन को तोड़कर दो टुकड़े कर दें, तो अदालत में मुकदमा तो नहीं चलाया जा सकता। परिणाम एक से मालूम पड़ते हैं। नहीं, लेकिन एक से नहीं हैं, क्योंकि परिणाम की आभा बहुत भिन्न है। अर्थ बहुत भिन्न हैं। सारी बात ही बदल जाती है। विज्ञान भी कहता है कि प्रकृति कर रही है सब, मनुष्य नहीं। धर्म भी कहता है, लेकिन धर्म कहता है, परमात्मा कर रहा है, मनुष्य नहीं। विज्ञान अहंकार को तोड़कर मनुष्य को नीचे गिरा देता है। धर्म अहंकार को तोड़कर मनुष्य को ऊपर की यात्रा पर भेज देता है।
ईशावास्य का यह सूत्र कहता हैः न मानना किसी चीज को अपना, तो मैं मिट जाएगा। मानना परमात्मा का। किसी के धन की वांछा न करना। क्यों? यह भी बहुत मजे की बात है। जब मेरा कुछ भी नहीं है, तो तेरा भी कुछ नहीं हो सकता। ध्यान रखें, इस सूत्र के बड़े गलत अर्थ किए गए हैं। किसी के धन की वांछा
मत करना। इतने गलत अर्थ किए गए हैं कि कभी-कभी हैरानी होती है कि जिन लोगों ने उस तरह के अर्थ किए हैं... समस्त, अधिकतर व्याख्याकारों ने इसका अर्थ किया है कि दूसरे के धन की वांछा पाप है, दूसरे के धन की वांछा मत करना। लेकिन पागल मालूम पड़ते हैं। क्योंकि पहले सूत्र कहता है कि धन किसी का है ही नहीं, परमात्मा का है। तो जब पहले ही यह सूत्र कहता है कि धन मेरा नहीं, तो तेरा कैसे हो सकता है?
नहीं, दूसरे के धन की वांछा इसलिए मत करना कि जो धन मेरा नहीं है वह तेरा भी नहीं है। वांछा का उपाय तभी है जब वह तेरा और मेरा हो सके। नहीं तो वांछा का उपाय नहीं है। लेकिन नीतिशास्त्रियों ने इसका जो उपयोग किया है,

इस सूत्र का, वह यह किया है कि दूसरे के धन को सोचना भी पाप है! लेकिन जब मेरा ही धन नहीं है, तो दूसरे का कैसे हो सकता है?
इस सूत्र का अर्थ नीतिवादी नहीं निकाल पाएगा। यह सूत्र गहन है, गंभीर है। नीतिवादी तो इसी फिक्र में होता हैः किसी के धन की चोरी मत कर लेना, किसी के धन को अपना मत मान लेना। लेकिन किसी का है, इस पर उसका जोर है। और ध्यान रहे, जो आदमी कहता है कि वह चीज आपकी है, वह आदमी, मेरी हैं चीजें, इस भावना से कभी मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि ये दोनों संयुक्त भावनाएं हैं। जब तक मकान मेरा है, तभी तक मकान तेरा है। लेकिन जिस दिन मेरा नहीं रहा मकान, तो आपका कैसे रह जाएगा?
दूसरे के धन की वांछा मत करना, इसका यह अर्थ नहीं है कि दूसरे का धन है
और उसकी वांछा करना पाप है। इसका यह अर्थ है कि धन किसी का भी नहीं है, इसलिए वांछा पाप है। धन किसी का भी नहीं है, परमात्मा का है। उसे मेरा भी मत जानना और तेरा भी मत जानना। उसे मेरा बनाकर मालिक भी मत बन जाना और दूसरे की मालकियत समझकर उसे छीनने की कोशिश में भी मत पड़ जाना। न उसे हम छीन पाएंगे, न हम उसे बचा पाएंगे। वह परमात्मा का है, जिससे छीनने का कोई उपाय नहीं है, जिससे बचाने का कोई उपाय नहीं है।
कैसा मजेदार है! एक जमीन के टुकड़े पर मैं तख्ती लगा देता हूं, मेरी है। मैं नहीं था तब भी जमीन का टुकड़ा था। जमीन का टुकड़ा बहुत हंसता होगा। क्योंकि मुझसे पहले भी बहुत लोग तख्ती लगा चुके उस टुकड़े पर कि मेरी है। और उस जमीन के टुकड़े ने उन सबको दफना दिया। उसी टुकड़े में दफना दिया। जहां आप बैठे हैं, एक-एक आदमी जहां बैठा है, वहां कम से कम दस-दस आदमियों की कब्र बन चुकी है। जमीन पर एक इंच जगह नहीं है जहां दस आदमियों की कब्र न बन चुकी हो। क्योंकि इतने आदमी हो चुके हैं कि एक-एक इंच जमीन पर दस-दस आदमी मर चुके हैं। वह जमीन को पूरी तरह पता है कि और भी दावेदार पहले तख्ती लगाकर जा चुके हैं। मगर नहीं, आदमी है कि फिर तख्ती लगाएगा। और यह भी नहीं देखता कि पुरानी तख्ती पर वार्निश करके अपना नाम लिख रहा है। वह यह भी नहीं देखता कि कल किसी को फिर वार्निश करने की तकलीफ उठानी पड़ जाएगी। यह नाहक मेहनत हो रही है। वह जमीन भी हंसती होगी।
नहीं, दूसरे के धन की वांछा मत करना, क्योंकि धन किसी का भी नहीं है। ध्यान रहे, मेरा जोर बहुत अलग है। मैं यह नहीं कहता हूं कि दूसरे के धन को अपना बना लेना पाप है। दूसरे के धन को दूसरा या अपना मानना पाप है। किसी का भी मानना पाप है। परमात्मा के अतिरिक्त मालकियत किसी की भी है तो पाप है।
अगर इसे समझेंगे, तो ईशावास्य का जो गहरा आयाम है, वह ख्याल में आएगा। नहीं तो, नहीं तो इतना ही मतलब होता है, इन सूत्रों से यही मतलब निकल आता है कि हरेक अपनी-अपनी संपत्ति पर कब्जा रखे और दूसरे से सुरक्षा के लिए शिक्षा देता रहे चारों तरफ कि दूसरे की धन की वांछा मत करना।
इसलिए अगर मार्क्स जैसे लोगों को यह लगा कि यह सब धर्मों ने धनपतियों
को सुरक्षा दी है, तो गलत नहीं लगा। क्योंकि ऐसे सूत्रों की जो व्याख्याएं की गई हैं, वे व्याख्याएं गलत हैं। इससे ऐसा लगता है कि जो जिसका है वह उसका है, तुम मत छीनने की कोशिश करना। इसका मतलब साफ हुआ, इसका मतलब साफ हुआ कि यह पुलिस को ही सहारा देने वाला है। व्यवस्था को, स्थिति-स्थापकता को, मालकियत को सहारा देने वाला सूत्र है।
लेकिन यह सूत्र हो नहीं सकता। क्योंकि यह सूत्र पहले ही घोषणा करता है, ईशावास्य की, सब कुछ परमात्मा के होने की। परमात्मा ही मालिक है, तो दूसरा फिर और कौन है? परमात्मा के अलावा कोई दूसरा परमात्मा है? कोई दूसरा परमात्मा भी नहीं। न मैं मालिक हूं, न तू मालिक है, मालकियत भ्रम है। मालिक तो सिर्फ वही है जिसने कभी आकर घोषणा नहीं की कि मैं मालिक हूं। क्योंकि वह घोषणा किसके सामने करे? वह किसको कहे कि जमीन मेरी है? कहने के लिए कम से कम एक दूसरे की जरूरत पड़ती है। जब आप तख्ती लगाते हैं जमीन पर कि मेरी है, तो ध्यान रखें, किसी के लिए लगाते हैं--कोई पढ़े, कोई जाने कि मेरी है। जंगल में नहीं लगाते हैं। अगर बिल्कुल अकेले रह जाएं जमीन पर, तो मैं नहीं मानता हूं कि ऐसे आप पागल होंगे कि तख्तियां लगाते फिरेंगे कि मेरी है।
अगर आप अकेले जमीन पर बचें तो जमीन आपकी है। कहने को भी उपाय नहीं।

परमात्मा घोषणा नहीं करता, लेकिन वही मालिक है। ध्यान रहे, ईशावास्य
के इस वचन का यह भी अर्थ है कि जो भी घोषणाएं करते हैं, वे मालिक नहीं हो सकते। मालिक को घोषणा करने की जरूरत नहीं होनी चाहिए। मालिक अघोषित मालिक है। घोषणा सिर्फ नौकर करते हैं। जितने जोर से कोई घोषणा करता है, समझना कि उतना ही शक है। कोई जोर से कहे कि नहीं, मेरी है, तब आप पक्का समझ लेना कि इसकी नहीं हो सकती। घोषणा क्यों इतने जोर से की जा रही है?
घोषणा हम सदा ही, जो नहीं है हमारा, उसे सिद्ध करने के लिए करते हैं। परमात्मा घोषणा नहीं करता। किसके लिए घोषणा करे? क्यों घोषणा करे? व्यर्थ होगी घोषणा। घोषणा बताएगी कि नहीं है उसकी। नहीं, उसका ही है सब, जिसने कभी नहीं कहा। जिन-जिनने कहा है, उन-उन का बिल्कुल नहीं है।
दूसरे के धन की वांछा मत करना, क्योंकि धन किसी का भी नहीं है, परमात्मा का है। न अपना मानना उसे, न दूसरे का मानना उसे। उसे जानना प्रभु का। और दूसरे भी उतने ही प्रभु के हैं जितने हम प्रभु के हैं। इसलिए छीन-झपट बेकार है। इसलिए छीन-झपट बेमानी है, अर्थहीन है, असंगत है। उसमें कोई युक्ति नहीं है। व्यर्थ की हम मेहनत कर रहे हैं। ऐसा श्रम उठा रहे हैं जो पानी में खींची गई लकीरों जैसा खो जाएगा।
और भी एक बातः तेन त्यक्तेन भुंजीथाः। कहा कि जो छोड़ते हैं, वे ही भोग पाते हैं।
नहीं, ऐसा हमारा जानना नहीं है। हम तो जानते हैं कि जो पकड़ते हैं, वे
ही भोग पाते हैं। यह ऋषि उलटी बात कहता है। कहता है, जो छोड़ते हैं--तेन त्यक्तेन--वे ही भोग पाते हैं। बड़ी उलटी बात है। जो छोड़ देते हैं, वे ही भोग पाते हैं। जो नहीं मालिक बनते, वे ही मालिक बन जाते हैं। जिनकी कोई पकड़ नहीं, उनके हाथ में सब आ जाता है।
कुछ-कुछ ऐसा है जैसे कोई हवा को मुट्ठी में पकड़े। हवा को मुट्ठी में पकड़िए तब ख्याल आएगा--तेन त्यक्तेन भुंजीथाः। पकड़िए मुट्ठी में जोर से, बांधिए मुट्ठी को--और हवा बाहर निकली। बांधते चले जाइए, आखिर में मुट्ठी ही रह जाएगी, हवा उसमें नहीं बचेगी। खोल दें मुट्ठी को, मत बांधें। और हवा बड़ी प्रगाढ़ होकर बहती है। खुली मुट्ठी में हवा होती है, बंद मुट्ठी में हवा खो जाती है। जिसने जितने जोर से बांधा, उतनी ही खाली हो जाती है। जिसने पूरी खोल दी, कभी खाली नहीं होती, सदा भरी होती है। और प्रतिपल ताजी हवाएं, प्रतिपल ताजी हवाएं भरती चली जाती हैं। कभी देखा, खुली मुट्ठी कभी खाली नहीं होती। बंधी मुट्ठी सदा खाली हो जाती है। कुछ थोड़ा-बहुत बच भी जाए तो गंदा और बासा और पुराना और जरा-जीर्ण हो जाता है। सड़ जाता है।
वे ही भोग पाते हैं, जो त्याग पाते हैं!
इस जगत में, इस जीवन में छोड़ने के लिए जो जितना राजी है, उतना ही उसे मिलता है। पैराडाक्सिकल है। लेकिन जीवन के सभी नियम पैराडाक्सिकल हैं। जीवन के सभी नियम बड़े विरोधाभासी हैं। विरोधी नहीं हैं, विरोधाभासी हैं। दिखाई पड़ते हैं कि विपरीत हैं। यहां जिस आदमी ने चाहा कि सम्मान मिले, उसे अपमान सुनिश्चित है। जिस आदमी ने चाहा कि मैं धनी हो जाऊं, जितना धन मिलता जाता है, वह आदमी भीतर उतना ही निर्धन होता चला जाता है। जिस आदमी ने सोचा कि मैं कभी न मरूं, वह चौबीस घंटे मौत में घिरा रहता है। मौत का भय पकड़े रहता है। जिस आदमी ने कहा कि हम अभी मरने को राजी हैं, उसके दरवाजे पर मौत कभी नहीं आती। जो मरने को राजी हुआ, उसे अमृत का पता चल जाता है। और जो मौत से भयभीत हुआ, वह चौबीस घंटे मरता है। वह मरता ही है, जीने का उसे पता ही नहीं चलता। जिसने भी कहा कि मैं मालिक बनूंगा, वह गुलाम बन जाता है। और जिसने कहा कि हम गुलाम होने को भी राजी हैं, उसकी मालकियत का कोई हिसाब नहीं।
मगर ये उलटी बातें हैं। और इसलिए बड़ी कठिन हो जाती हैं। और इनके अर्थ
जब हम निकालते हैं, तो हम आमतौर से जो अर्थ निकाल लेते हैं--वह इस विरोधाभास को बचाने के लिए जो हम अर्थ निकालते हैं--वे गलत होते हैं। इसका भी वैसा ही अर्थ लोगों ने निकाला है। लोगों ने निकाला--तेन त्यक्तेन भुंजीथाः--तो निकाला कि दान करो तो स्वर्ग में मिलेगा। गंगा के तट पर एक पैसा दो तो एक करोड़ गुना मोक्ष में मिलने वाला है!

असल में महावाक्यों की जितनी दुर्दशा होती है जगत में, उतनी और किसी चीज की नहीं होती। और ऋषियों के साथ जितना अन्याय होता है, उतना किसी और के साथ नहीं होता। क्योंकि उन्हें समझना कठिन हो जाता है। हम उनसे जो अर्थ निकालते हैं, वे अर्थ हमारे होते हैं। हमने सोचा कि यह बात बिल्कुल ठीक है। कुछ दान करोगे तो परलोक में पाओगे। लेकिन पाने के लिए करना दान। दान करना पाने के लिए।
और ध्यान रखना, सूत्र कहता है कि जो छोड़ता है, उसे मिलता है; लेकिन जो मिलने के लिए छोड़ता है, उसको मिलता है, ऐसा नहीं कहता है। जो मिलने के लिए ही छोड़ता है, वह तो छोड़ता ही नहीं। वह तो सिर्फ मिलने का इंतजार कर रहा है। जो आदमी कहता है कि मैं दान कर रहा हूं यहां, ताकि मुझे स्वर्ग में मिल जाए, वह छोड़ ही नहीं रहा। वह सिर्फ मुट्ठी आगे तक कस रहा है। अगर ठीक से समझें, तो वह इस लोक में ही कस नहीं रहा है मुट्ठी, परलोक में भी मुट्ठी कस रहा है। वह कह रहा है कि यहां तो ठीक, वहां भी! वहां भी हम छोड़ेंगे नहीं। वहां भी चाहिए। और अगर वहां मिलने का कोई पक्का भरोसा होता हो, तो हम यहां कुछ इनवेस्टमेंट, कुछ इनवेस्टमेंट कर सकते हैं। हम कुछ लगा सकते हैं पूंजी यहां, अगर परलोक में कुछ मिलने का पक्का हो।
नहीं, वह समझा ही नहीं। यह सूत्र यह नहीं कहता। यह सूत्र तो यह कहता है, जो छोड़ता है, उसे मिलता है। यह यह नहीं कहता कि तुम इसलिए छोड़ना ताकि तुम्हें मिले। क्योंकि मिलने की जिसकी दृष्टि है, वह तो छोड़ ही नहीं सकता। वह तो सिर्फ इनवेस्ट करता है, वह छोड़ता कभी नहीं। वह तो सिर्फ पूंजी नियोजित करता है ताकि और मिल जाए।
एक आदमी एक लाख रुपया कारखाने में लगाता है, तो दान कर रहा है? नहीं।
वह डेढ़ लाख मिल सकेगा इसलिए लगा रहा है। फिर वह डेढ़ लाख भी लगा देता है, तो दान कर रहा है? वह तीन लाख मिल सके इसलिए लगा रहा है। वह लगाए चला जाता है, वह लगाए चला जाता है, इसलिए कि मुट्ठी को और कसना है। और पकड़ लेना है। जो आदमी भी दान करता है पाने के लिए, उसने दान के राज को नहीं समझा। वह दान का ख्याल ही उसको पता नहीं चला कि क्या है।
यह सूत्र यह कहता है, इतना ही कहता है, सीधी-सीधी बात कि जो छोड़ता है वह भोगता है। यह यह नहीं कहता कि तुम्हें भोगना हो तो तुम छोड़ना। यह यह कहता है कि अगर तुम छोड़ सके, तो तुम भोग सकोगे। लेकिन तुम भोगने का ख्याल अगर रखे, तो तुम छोड़ ही नहीं सकोगे।
अदभुत है सूत्र। पहले कहा, सब परमात्मा का है। उसमें ही छोड़ना आ गया। जिसने जाना, सब परमात्मा का है, फिर पकड़ने को क्या रहा? पकड़ने को कुछ भी न बचा। छूट गया। और जिसने जाना कि सब परमात्मा का है और जिसका सब छूट गया और जिसका मैं गिर गया, वह परमात्मा हो गया। और जो परमात्मा हो गया, वह भोगने लगा, वह रसलीन होने लगा, वह आनंद में डूबने लगा। उसको पल-पल रस का बोध होने लगा। उसके प्राण का रोआं-रोआं नाचने लगा। जो परमात्मा हो गया, उसको भोगने को क्या बचा? सब भोगने लगा वह। आकाश उसका भोग्य हो गया। फूल खिले तो उसने भोगे। सूरज निकला तो उसने भोगा। रात तारे आए तो उसने भोगे। कोई मुस्कुराया तो उसने भोगा। सब तरफ उसके लिए भोग फैल गया। कुछ नहीं है उसका अब, लेकिन चारों तरफ भोग का विस्तार है। वह चारों तरफ से रस को पीने लगा। धर्म भोग है। और जब मैं ऐसा कहता हूं, धर्म भोग है, तो अनेकों को बड़ी घबराहट होती है। क्योंकि उनको ख्याल है कि धर्म त्याग है। ध्यान रहे, जिसने सोचा कि धर्म त्याग है, वह उसी गलती में पड़ेगा--वह इनवेस्टमेंट की गलती में पड़ जाएगा। त्याग जीवन का तथ्य है। इस जीवन में पकड़ना नासमझी है। पकड़ रहा है, वह गलती कर रहा है--सिर्फ गलती कर रहा है। जो उसे मिल सकता था, वह खो रहा है, पकड़कर खो रहा है। जो उसका ही था, उसने घोषणा करके कि मेरा है, छा.ेड दिया। लेकिन जिसने जाना कि सब परमात्मा का है, सब छूट गया। फिर त्याग करने को भी नहीं बचता कुछ। ध्यान रखना, त्याग करने को भी उसी के लिए बचता है, जो कहता है, मेरा है।
एक आदमी कहता है कि मैं यह त्याग कर रहा हूं, तो उसका मतलब हुआ कि वह मानता था कि मेरा है। सच में जो कहता है, मैं त्याग कर रहा हूं, उससे त्याग नहीं हो सकता है। क्योंकि उसे मेरे का ख्याल है। त्याग तो उसी से हो सकता है जो कहता है, मेरा कुछ है नहीं, मैं त्याग भी क्या करूं। त्याग करने के

लिए पहले मेरा होना चाहिए। अगर मैं कुछ कह दूं कि यह मैंने आपको त्याग किया--कह दूं कि यह आकाश मैंने आपको दिया, तो आप हंसेंगे। आप कहेंगे, कम से कम पहले यह पक्का तो हो जाए कि आकाश आपका है! आप दिए दे रहे हैं! मैं कह दूं कि दे दिया मंगल ग्रह आपको, दान कर दिया। तो पहले मेरा होना चाहिए। त्याग का भ्रम उसी को होता है जिसे ममत्व का ख्याल है।
नहीं, त्याग छोड़ने से नहीं होता। त्याग इस सत्य के अनुभव से होता है
कि सब परमात्मा का है। त्याग हो गया। अब करना नहीं पड़ेगा। घटित हो गया। इस तथ्य की प्रतीति है कि सब परमात्मा का है, अब त्याग को कुछ बचा नहीं। अब आप ही नहीं बचे जो त्याग करे। अब कोई दावा नहीं बचा जिसका त्याग किया जा सके। और जो ऐसे त्याग की घड़ी में आ जाता है, सारा भोग उसका है। सारा भोग उसका है। जीवन के सब रस, जीवन का सब सौंदर्य, जीवन का सब आनंद, जीवन का सब अमृत उसका है।
इसलिए यह सूत्र कहता है, तेन त्यक्तेन भुंजीथाः, जिसने छोड़ा उसने पाया। जिसने खोल दी मुट्ठी, भर गई। जो बन गया झील की तरह, वह भर गया। जो हो गया खाली, वह अनंत संपदा का मालिक है।
यह एक सूत्र आज सुबह के लिए। फिर शेष बात रात करेंगे।
अब सुबह के ध्यान के संबंध में दो-तीन बातें समझ लें। फिर हम ध्यान के लिए... । थोड़ी सी बात, क्योंकि करने का है। और जो मैंने समझाया वह सब ध्यान है। वह सब ध्यान है। मुट्ठी खोलनी है थोड़ी सी और हवा से भर जाएंगे। थोड़ा सा जानना है कि सब परमात्मा का है और नृत्य भीतर जग जाएगा।
चालीस मिनट का ध्यान होगा। आंख और कान तो हमें बंद कर लेने हैं पूरी तरह। जरा भी रोशनी न रह जाए। और सबको थोड़े दूर-दूर खड़े हो जाना है। जो बीमार हों, वृद्ध हों, बैठना चाहते हों, वे फिर बहुत पीछे जाकर बैठ जाएं, अन्यथा कोई उनके ऊपर गिर जाएगा। और खड़े रहें पहले तो, जब गिरने की हालत आ जाए तब गिरें, तो मजा और है। पहले खड़े रहें।
तो दूर हट जाएं। ध्यान रखें, चारों तरफ जगह बना लें, क्योंकि बहुत जोर
से कुंडलिनी का जागरण होगा। बहुत लोग बहुत चीखेंगे, चिल्लाएंगे, कूदेंगे, नाचेंगे, इसलिए काफी जगह पर फैल जाएं।
फैल जाएं! इस पूरी जगह का उपयोग कर लें! हां, बातचीत न करें। बातचीत बिल्कुल न करें। बातचीत की कोई जरूरत ही नहीं है। आप चुपचाप फैल जाएं। फिर मैं चारों सूत्र आपसे कह दूं। फैल जाएं। अभी पट्टी न बांधें। पहले मेरी पूरी बात सुन लें, फिर बांध लें।
पहले दस मिनट तो गहरी श्वास लेनी है पूरी शक्ति लगाकर। ताकि सारी शक्ति कुंडलिनी की भीतर जग जाए। साथ में ही शरीर नाचने-डोलने लगे, कूदने लगे, तो कूदने देना है, नाचने देना है, डोलने देना है। चिंता नहीं करनी है। दूसरे दस मिनट में शरीर को बिल्कुल छोड़ देना है आनंद-मग्न भाव से। कूदेगा, नाचेगा, हंसेगा, चिल्लाएगा, गाएगा, जो भी करना चाहे करेगा, उसे पूरी शक्ति से करना है। तीसरे दस मिनट में नाचते रहते, कूदते रहते पूछना है--मैं कौन हूं? यह भी बड़े आनंद से मंत्र की तरह पूछना है--मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? यह पूछते चले जाना है। चौथे दस मिनट में कोई खड़ा रहेगा, कोई गिर जाएगा, कोई लेट जाएगा। दस मिनट मौन प्रतीक्षा करनी है कि परमात्मा हममें उतरे। हमने मुट्ठी खुली छोड़ दी, अब वह हममें उतर आए। हमने छोड़ा, अब जरा भोग का क्षण, रस हममें उतर आए। उसकी प्रतीक्षा करनी है।
सबसे पहले जैसे ही हम प्रयोग शुरू करेंगे, संकल्प कर लेना है। हाथ जोड़कर परमात्मा के सामने संकल्प कर लेना है। पहले संकल्प कर लें, फिर आप अपनी पट्टियां बांधेंगे। हाथ जोड़ लें, आंख बंद कर लें। परमात्मा को साक्षी रखकर हृदय में तीन बार संकल्प कर लें--मैं प्रभु को साक्षी रखकर संकल्प करता हूं कि ध्यान में अपनी पूरी शक्ति लगा दूंगा। मैं प्रभु को साक्षी रखकर संकल्प करता हूं कि ध्यान में अपनी पूरी शक्ति लगा दूंगा। मैं प्रभु को साक्षी रखकर संकल्प करता हूं कि ध्यान में अपनी पूरी शक्ति लगा दूंगा।
अब आंख पर पट्टियां बांध लें और कान में कपास डाल दें। कान और आंख पूरी तरह बंद कर लें। दूर-दूर फैल जाएं, दूर-दूर फैल जाएं, ताकि किसी को बाधा न रहे। पट्टियां बांध लें। और शुरू करें!

नोट- नीचे वाला हिस्सा आडियो में है, किताब में नहीं है।
सक्रिय ध्यान का प्रयोग कराने के बाद ओशो ने समझाया-

अब उठ आएं और अपनी अपनी जगह शांति से बैठ जाएं। दो बातें आपसे दोपहर
के मौन के लिए कह दूं। अपनी जगह शांति से बैठ जाएं। बैठ जाएं अपनी-अपनी जगह शांति से। बैठ जाएं, अपनी जगह बैठ जाएं।
इसके बाद की बैठक दोपहर में होगी, साढ़े-तीन से साढ़े-चार। साढ़े-तीन से साढ़े-चार मौन बैठक है। मैं आपके बीच में मौन चुपचाप बैठा रहूंगा। आप भी मौन में आकर चुपचाप बैठ जाएंगे।
दोपहर की बैठक तक जितनी ज्यादा आंख बंद रख सकें, कान बंद रख सकें, बंद रखें। जितने मौन और चुप रह सकें, मौन और चुप रहें। ज्यादा समय बंद आंख बिताएं। तो दोपहर के मौन में बहुत गति बढ़ जाएगी। जितनी गति अभी हुई, दोपहर के मौन में उससे भी ज्यादा गति हो जाएगी।
दोपहर के मौन में तो सिर्फ मेरे पास घंटे भर बैठे रहना है- मौन। नाचने
का मन हो मौन में तो नाचें, हंसने का मन हो हंसें, रोने का मन हो रोएं, डोलने का मन हो डोलें, कूदने का मन हो कूदें; लेकिन अपनी जगह चुपचाप। दोपहर को मैं बोलूंगा नहीं, सिर्फ आपके पास चुपचाप बैठा रहूंगा। मेरे पास कोई नहीं आएगा, अपनी जगह ही बैठकर चुपचाप। अपनी आंख पर पट्टी रखें, कान बंद रखें, चुपचाप बैठे रहें।
सुबह की बैठक हमारी पूरी हुई। यहां से जाएंगे तो भी आंख की पट्टी थोड़ी
सी ऊपर कर लें, ताकि थोड़ा सा आपको नीचे दिखाई दे। कम से कम आंख का उपयोग करना पड़े। इस तरह जाएं। इसी तरह बाकी काम करें। इसी तरह दोपहर को आएं तब भी पट्टी थोड़ी सी ऊपर उठाकर आएं।
पट्टी ज्यादातर बांधे ही रखें। जब भी फुरसत मिले, पट्टी बांधकर रखें।
प्रभु का स्मरण करें और शांत बैठें।
सुबह की बैठक हमारी पूरी हुई।

ईशावास्य उपनिषद
तीसरा प्रवचन

वह निमित्त है

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं शताः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। 2।।

इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्यत्व का अभिमान रखने वाले तेरे लिए इसके सिवाय और कोई मार्ग नहीं है, जिससे तुझे कर्म का लेप न हो।। 2।।

संसार में कोई ऐसा दूसरा मार्ग नहीं है जिससे चलकर कर्म का लेप न हो। जिस मार्ग की ईशावास्य ने चर्चा की है वह मार्ग है--सब प्रभु को अर्पित करके जीना। सब उसके ही चरणों में छोड़ देना। सब उसको ही समर्पित कर देना।
स्वयं के कर्ता का समस्त भाव छोड़कर कर्मों से जो गुजरने को राजी है, उसे इस संसार में कर्म का कोई लेप नहीं होता है। एक ही मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है।
दो-तीन बातें समझ लेनी उपयोगी हैं।
एक तो संसार में जीना और कर्म से लिप्त न होना बड़ी ही कीमिया, बड़ी बुद्धिमत्ता, बड़ी वि.जडम की बात है। करीब-करीब ऐसे ही है, जैसे कोई काजल की कोठरी से निकले और उसे काजल न लगे। फिर घड़ी दो घड़ी की बात नहीं है, अगर एक जीवन को भी पूरा लें, तो कम से कम सौ वर्ष। और अगर अनेक जीवन को स्मरण करें, तो अनेक सौ वर्ष। लाखों वर्ष की यात्रा है।
एक ही जीवन की बात की है इस सूत्र में कि जहां कम से कम सौ वर्ष जीवन है, सौ वर्ष काजल की कोठरी से कोई गुजरे निरंतर--जागे, सोए, उठे, बैठे, जीए-- और काजल से अछूता रह जाए, बड़ी ही बुद्धिमत्ता, बड़े योग की बात है। अन्यथा यही आसान और सहज है कि काजल पकड़ ले। इतना ही नहीं कि काजल छू जाए, बल्कि व्यक्ति काजल ही हो जाए, यही साधारणतः संभव है। छूना तो स्वाभाविक मालूम होता है, लेकिन सौ वर्ष काजल के साथ रहना पड़े, तो कठिन लगती है यह बात कि व्यक्ति ही काजल न हो जाए, काला न हो जाए।
जो भी हमें करना पड़े उससे हम अछूते गुजर कैसे पाएंगे? करते हैं तभी, तभी हम उससे जुड़ जाते हैं। क्रोध करते हैं तो क्रोध से जुड़ जाते हैं। प्रेम करते हैं तो प्रेम से जुड़ जाते हैं। लड़ते हैं तो लड़ने से जुड़ जाते हैं। भागते हैं तो भागने से जुड़ जाते हैं। भोग करते हैं तो भोग पकड़ लेता है। और मजा तो ऐसा है जकड़न का कि त्याग करते हैं तो त्याग भी पकड़ लेता है। वह उससे भी काजल ही हाथ में आता है।
भोग की तो अकड़ होती ही है कि मेरे पास इतना धन है, त्याग की भी अकड़ होती
है कि मैंने इतना धन त्यागा! वह अकड़ काजल बन जाती है, वह अकड़ अहंकार है। आदमी एक जीवन के सौ वर्ष भी कैसे भी गुजारे, कुछ तो करेगा। जो भी करेगा, वही उसके काले होने का रास्ता बन जाएगा।
ईशावास्य का यह सूत्र कहता है, लेकिन एक मार्ग है। उसी मार्ग की बात
की जा रही है। जिस मार्ग से सौ वर्ष इस काली कोठरी से गुजरकर भी व्यक्ति अपनी शुभ्रता को लेशमात्र भी नहीं खोता और व्यक्ति को कर्मों का कोई लेप नहीं होता है।
असंभव लगती है बात। लेकिन इस जगत में, जिस सूत्र की ईशावास्य बात कर रहा है, अगर हम ठीक से समझ लें तो असंभव नहीं रह जाएगी बात। सूत्र यह कह रहा है कि व्यक्ति कुछ भी करे तो काजल तो लग जाएगा--कर्ता हुआ कि काला हुआ। एक ही रास्ता रह जाता है कि व्यक्ति कर्ता ही न बने। कर्म से तो बचा नहीं जा सकता। जीएंगे तो कर्म तो होगा ही। इसलिए अगर कोई कहता है, कर्म को छोड़ दें, तो फिर तो कोई लेप नहीं होगा! लेकिन जीना है, तो कर्म तो होगा ही। श्वास भी लेनी है तो कर्म हो जाएगा।
दुकान जो करता है वही कर्म करता है, ऐसा नहीं, जो भिक्षा मांगता है वह
भी कर्म करता है। और जो घर बसाता है वही कर्म करता है, ऐसा नहीं है, जो घर

छोड़कर वन में चला जाता है वह भी कर्म करता है। उनके कर्म भिन्न हो सकते हैं, लेकिन एक कर्म और दूसरा अकर्म है, ऐसा नहीं, दोनों ही कर्म हैं।
यहां तो जीना ही जहां कर्म है, छोड़ना भी जहां कर्म बन जाएगा, वहां कर्म
को छोड़कर अगर कोई सोचता हो कि हम काले काजल से बच जाएंगे, तो व्यर्थ सोचता है। उस सोचने से कभी भी कोई घटना घटने वाली नहीं है। कर्मों को छोड़कर कोई भाग सकता है, और तब पलायन ही उसका कर्म बन जाता है। भागना ही उसका कर्म बन जाता है। वह भी पकड़ लेता है।
एक ही रास्ता दिखाई पड़ता है, वह यह कि कर्म से तो छूटने का उपाय नहीं है, लेकिन कर्ता से छूटा जा सकता है। लेकिन अगर कर्म जारी रहेंगे तो कर्ता से कोई छूटेगा कैसे? जब मैं कर्म करूंगा, तो कर्ता तो हो ही जाऊंगा!
लेकिन ईशावास्य कहता है, कर्म तो कर सकते हो, कर्ता से छूट सकते हो। साधारणतः हमें दिखाई पड़ता है कि कर्म से छूट जाऊं तो शायद कर्ता से छूट जाएं हम। न करूंगा कर्म, न बनूंगा कर्ता। लेकिन ईशावास्य कहता है, यह संभव नहीं है। संभव इससे उलटी बात है। और वह यह है कि कर्म तो तुम करते रहो और कर्ता से छूट जाओ। यह कैसे होगा?
ऐसे कर्म से हम थोड़ा-बहुत परिचित हैं। जब भी हम अभिनय करते हैं तब हमें ख्याल में आती है बात कि कर्म हो सकता है और कर्ता नहीं हो। राम की सीता खो जाए तो राम रोते हैं वन में; वृक्षों को पकड़-पकड़कर चिल्लाते हैं; पूछते हैं, सीता कहां है? रामलीला के मंच पर भी किसी राम की सीता खो जाती है। वह भी रोता है। वह भी वृक्षों से पूछता है, सीता कहां है? और शायद राम से कहीं ज्यादा ही जोर से चिल्लाकर पूछता है। शायद राम से ज्यादा कुशलता से भी पूछता है। क्योंकि राम को रिहर्सल का कोई मौका मिला नहीं। उसने काफी अभ्यास किया होता है। कर्म तो करता है वही जो राम ने किया--पूछता है, सीता कहां है? लेकिन पीछे कोई कर्ता नहीं होता, अभिनेता होता है।
ध्यान रहे, कर्म दो तरह से हो सकता है--कर्ता होते हुए भी हो सकता है, अभिनेता होते हुए भी हो सकता है। कर्ता की जगह अभिनेता आ जाए तो कर्म तो बाहर जारी रहेगा, लेकिन भीतर कर्ता की जगह अभिनेता हो जाए तो समस्त रूपांतरण हो जाता है। अभिनय बांधता नहीं है। अभिनय बाहर ही बाहर रह जाता है, भीतर उसका प्रवेश नहीं होता। अभिनय गहरे में नहीं उतरता, सतह पर घूमता है और विदा हो जाता है। कितना ही रोता हो अभिनेता राम, और कितना ही आंसू टपकाता हो, उसके आंसू प्राणों से नहीं आते। अक्सर तो उसे आंखों में अंजन लगाना पड़ता है कि आंसू आ जाएं। अंजन न भी लगाए, अभ्यास से भी ले आता हो, तो भी आंसू सतह से आते हैं, गहराई से नहीं आते। चिल्लाता है। आवाज आती है, पर कंठ से ही आती है, हृदय से नहीं आती। भीतर सब अछूता रह जाता है। भीतर कुछ भी छूता नहीं। भीतर अस्पर्शित रह जाता है। निकलता है काजल की कोठरी से, लेकिन भीतर कर्ता नहीं है, अभिनेता है।
ध्यान रहे, कर्ता पकड़ता है काजल को, कर्म नहीं पकड़ता। अगर कर्म ही पकड़ता है काजल को, तब तो फिर ईशावास्य जो कहता है वह नहीं हो सकता। गीता जो कहती है वह नहीं हो सकता। फिर तो कर्म करते हुए कर्म से कोई छुटकारा नहीं है। फिर तो जीते जी कर्म से कोई छुटकारा नहीं है। फिर तो मरने पर ही कर्म से छुटकारा हो सकता है। फिर तो जीवित मुक्ति नहीं मालूम होती। और जो जीते जी मुक्त नहीं हो सका, वह मरकर कैसे मुक्त हो सकेगा? जो जीते जी नहीं मुक्त हो सका, वह मरकर तो हो नहीं सकता है।
कर्म को अगर पकड़ता हो वह जो काजल है जीवन का, अगर कर्म पर लेप चढ़ जाता
हो उसका, तब तो असंभव है। लेकिन जो गहरे खोजते हैं, वे कहते हैं, कर्म को नहीं कर्ता को पकड़ता है। जब भी कोई कहता है, मैं कर्ता हूं, बस तभी। जब कर्म और मैं का जोड़ होता है, तभी। जब मैं और कर्म की आइडेंटिटी, तादात्म्य होता है, तभी। जब मैं कर्म के साथ अपने को एक कर लेता हूं और कहता हूं, मैं कर्ता हूं, बस तभी; तभी वह काजल पकड़ लेता है। और तभी जीवन अंधेरे से और कालिमा से भर जाता है।
अगर भीतर कोई कहने वाला न हो कि मैं कर्ता हूं, और भीतर अगर कोई जानने वाला हो कि अभिनय हो रहा है, कि मंच पर नाटक के इकट्ठे हुए हैं--होगी, बड़ी मंच होगी, पूरी पृथ्वी मंच हो सकती है, मंच के बड़े होने से कोई अंतर नहीं पड़ता; और पर्दा एक ही बार उठता होगा जन्म के वक्त और मृत्यु के वक्त गिरता

होगा, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है; एकांकी है, लंबा है, एक ही बार पर्दा गिरता है, इससे अंतर नहीं पड़ता--लेकिन अगर भीतर अभिनय का ख्याल है, ऐक्टिंग का ख्याल है, ऐक्टर का नहीं; भीतर करने वाले का ख्याल नहीं है, अभिनय का ख्याल है, तो सारा जगत एक लीला, एक नाटक, जीवन एक मंच, एक कथा, एक कहानी हो गयी। फिर हम पात्र हैं और पात्रों को कुछ भी नहीं छूता है।
ईशावास्य के इस सूत्र में कहा है, एक ही मार्ग है कि मनुष्य जीते जी कर्म से गुजरते हुए भी कर्म में लिप्त न हो। वह मार्ग है, जीवन को एक अभिनय में रूपांतरित कर लेना।
लेकिन हम बहुत अदभुत लोग हैं। हम अभिनय को तो जीवन में रूपांतरित कर लेते हैं, लेकिन जीवन को अभिनय में रूपांतरित नहीं कर पाते। अभिनय को जरूर हम बहुत बार जीवन बना लेते हैं। बहुत बार तो हमारा जीवन, हमारे सीखे हुए अभिनय का बहुत मजबूती से हमारे ऊपर लद जाना होता है।
अगर हम मनस्विद से पूछें तो मनस्विद कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति का जो
भी हमें आचरण दिखाई पड़ता है, वह सब सिखाया हुआ आचरण है। सब कल्टीवेटेड, कंडीशनिंग है। जिसे हम मनुष्य का स्वभाव कहते हैं; कहते हैं, इस आदमी का यह स्वभाव है; मनस्विद कहता है, आदमी का कोई भी स्वभाव नहीं। अगर आदमी का कोई भी स्वभाव है, तो वह इनफिनिट लिक्विडिटी है, वह अंतहीन तरलता है। मनुष्य ऐसा है, जैसे हम पानी को एक गिलास में भर दें तो वह गिलास जैसा हो जाए। और एक लोटे में भर दें तो वह लोटे जैसा हो जाए। और एक गागर में डाल दें तो वह गागर जैसा हो जाए। और जैसा हो बर्तन का आकार, वैसा ही पानी आकार ले ले। पानी का कौन सा स्वाभाविक आकार है? पानी का कोई स्वाभाविक आकार नहीं है। पानी का स्वभाव अनंत आकार लेने की क्षमता है। इसलिए जो भी रूप होगा, पानी तत्काल वही आकार ले लेगा। पानी जिद्दी नहीं है। पानी हठी नहीं है। वह यह नहीं कहता है कि मैं इसी आकार में रहूंगा। वह कहता है, कोई भी आकार हो, हम राजी हैं।
मनुष्य का भी कोई स्वभाव नहीं है। जिसे भी हम स्वभाव कहते हैं वह भी सिखाई गई व्यवस्था, सीखे हुए वर्तन में, संस्कार के ढांचे में किया गया आचरण है। इसलिए एक व्यक्ति मांसाहारी के घर में पैदा होता है तो मांसाहार करने लगता है। स्वभाव नहीं है। उसे ही हम शाकाहारी के घर में पालें, वह शाकाहार करेगा और मांस देखकर उसे उल्टी हो जाएगी, वमन हो जाएगा, घबराहट हो जाएगी। नहीं, ऐसा मत समझ लेना कि शाकाहारी के घर में जो बड़ा हुआ तो बड़ा गुणी है। और मांसाहारी के घर में बड़ा हुआ तो बड़ा दुर्गुणी है। नहीं, बड़े होने के भेद हैं। बर्तन का आकार है, वह पकड़ लिया गया है।
बचपन से हम हर एक व्यक्ति को कुछ सिखा रहे हैं। वह सिखावन अगर ठीक से समझें तो जीवन में जो अभिनय उसे करना है, उसकी तैयारी है। जिन्हें हम शिक्षालय कहते हैं, वह हमारे रिहर्सल के, जहां हम जीवन के अभिनय की तैयारी करते हैं, उसके प्रशिक्षण के स्थल हैं। परिवार, समाज, स्कूल, विश्वविद्यालय--वहां हम तैयार करते हैं एक व्यक्ति को एक ढंग से ऐक्ट करने के लिए।
एक व्यक्ति को हम हिंदू की तरह तैयार करते हैं। एक व्यक्ति को हम अमरीकन की तरह तैयार करते हैं। एक व्यक्ति को हम ईसाई की तरह तैयार करते हैं। एक को हम चीनी की तरह तैयार करते हैं। और फिर वे तैयार हो जाते हैं, और कल, कल जब ढांचे उनके मजबूत हो जाते हैं, तो ऐसा लगता है कि यह उनका स्वभाव है। ये सब सिखाए गए अभिनय हैं, जो इतने मजबूती से पकड़ लिए गए कि उनको करते वक्त व्यक्ति को ख्याल नहीं आता कि मैं अभिनय कर रहा हूं।
कभी आपको ख्याल आया कि आप जैन, हिंदू, मुसलमान, ईसाई, ये आपके सिखाए गए अभिनय हैं! जो आपको न सिखाए गए होते तो आपने कभी न सीखे होते। लेकिन जब आप कहते हैं, मैं हिंदू हूं, तब आप कर्ता बन जाते हैं। तब तलवारें चल सकती हैं। तब जान ली और दी जा सकती है। और अगर कोई कह दे कि हिंदू नहीं हैं आप, तो उपद्रव हो सकता है।
मनस्विद कहते हैं कि वह जो आदत है वह दूसरा स्वभाव है, ऐसा पुराने मनस्विद कहते थे। हैबिट इ.ज दि सेकेंड नेचर। ऐसा पुराने मनस्विद कहते थे। नए मनस्विद कहते हैं, नेचर इ.ज दि फर्स्ट हैबिट। वह जो स्वभाव है पहली आदत है। सुना है हमने निरंतर कि आदत जो है वह दूसरा स्वभाव है। लेकिन जितनी

ज्यादा खोज होती है आदमी के स्वभाव की उतना ही पता चलता है कि जिसे हम स्वभाव कहते हैं वह पहली आदत है--बहुत गहरे में बैठ गई। फिर इतनी मजबूत हो गई कि व्यक्ति भूल गया कि मैं अभिनय कर रहा हूं।
अगर आपको याद रहे कि आप अभिनय कर रहे हैं तो छुरेबाजी नहीं होगी। क्योंकि आप कहेंगे, क्या पागलपन है! मैं हिंदू होने का खेल खेल रहा हूं, आप मुसलमान होने का खेल खेल रहे हैं, इसमें झगड़ा कहां है? नहीं, झगड़ा वहां आ जाता है, क्योंकि यह खेल नहीं है, ये गंभीर बातें हैं। यह मामला खेल का नहीं है।
एरिक बर्न ने एक किताब लिखी है--गेम्स दैट पीपुल प्ले, खेल जो लोग खेलते हैं। उसमें उसने फुटबाल और हाकी और ताश और कैरम और शतरंज ही नहीं गिनाए, उसमें उसने हिंदू, मुसलमान, ईसाई भी गिनाए हैं। ये भी खेल हैं जो लोग खेलते हैं--महंगे पड़ जाते हैं। कभी-कभी शतरंज में भी तलवार चल जाती है, तो अगर हिंदू-मुस्लिम में चल जाती है तो कोई बहुत हैरानी की बात नहीं है। गंभीरता से पकड़ लिए अभिनय लगते हैं कि जीवन हो गए। और जो-जो सिखा दिया जाता है वह पकड़ लिया जाता है। सारी दुनिया में स्त्रियों को सिखा दिया गया कि वे पुरुष से हीन हैं, पकड़ लिया। सीख गयीं। हालांकि ऐसे समाज भी हैं मातृ-सत्ताक, जहां सिखाया गया है कि पुरुष स्त्रियों से हीन हैं, तो वहां वैसी बात लोग सीख गए हैं। ऐसे कबीले भी हैं जहां स्त्री श्रेष्ठ है और पुरुष हीन है। और बड़े मजे की बात तो यह है कि जिन कबीलों में यह सिखाया गया कि स्त्री श्रेष्ठ है पुरुष हीन है, वहां पुरुष हीन हो गया है और स्त्री श्रेष्ठ हो गई है। और जहां सिखाया गया कि स्त्री हीन है, वहां स्त्री हीन हो गई है और पुरुष श्रेष्ठ हो गया है।
नहीं, पानी की तरह हम बर्तनों में ढाल देते हैं आदमियों को। फिर अभिनय इतने मजबूती से पकड़ लेते हैं अहंकार को कि फिर वह यह नहीं कहता कि मैं अभिनय कर रहा हूं, वह कहता है, यह मैं हूं। यह हिंदू होना मेरा खेल नहीं है, यह मैं हूं। और जिस क्षण आपने कहा कि मैं हूं, उस दिन आपके ऊपर कालिख लगनी शुरू हो गई। और आप पर ही लगे तो भी कम है, जिस आदमी पर कालिख खुद पर लगनी शुरू होती है, वह दूसरों पर भी कालिख फेंकना शुरू कर देता है। कालिख ही होती है हाथ में, वही हम लेन-देन करते हैं। फिर हम खुद भी काले होते हैं, दूसरों को भी काले करते चले जाते हैं। फिर सारी जिंदगी कालिमा से भर जाती है।
हम अभिनय को भी कर्ता की तरह करने की तैयारी कर लिए हैं। अब कैसे खेल हैं, लेकिन गहरे बैठ गए हैं। दो छोटे बच्चे एक गुड्डा और गुड्डी का विवाह करवाते हैं, तो हम कहते हैं, खेल खेल रहे हैं। लेकिन कभी ख्याल किया कि एक स्त्री-पुरुष का विवाह भी थोड़े बड़े पैमाने पर, ऑन ए लार्ज स्केल, गुड्डा और गुड्डियों के विवाह से ज्यादा नहीं है! सब रीति-रस्म वही हैं। सब हिसाब वही है, सब व्यवस्था, ढोल-बाजे वही हैं। सब ढोंग, सब इंतजाम वही है। हां, लेकिन फर्क इतना है कि उसे छोटी उम्र के बच्चे खेलते हैं, इसे बड़ी उम्र के बच्चे खेलते हैं। छोटी उम्र के बच्चे जल्दी भूल जाते हैं। सांझ को भूल जाते हैं, सुबह शादी की थी। ये बड़ी उम्र के बच्चे अदालतों तक में लड़ते हैं, भूलते नहीं हैं, मजबूती से पकड़ लेते हैं।
लेकिन कोई मानने को राजी न होगा कि विवाह एक खेल है। कठिनाई मालूम पड़ेगी। क्योंकि अगर विवाह एक खेल हो जाए तो उसके आसपास बना परिवार भी एक खेल हो जाएगा। और उस परिवार के आसपास बना हुआ समाज भी एक खेल हो जाएगा। और उस समाज के आसपास फैला हुआ सारे मनुष्य का जगत एक खेल हो जाएगा। इसलिए एक-एक कदम हमको मजबूत रखना पड़ता है। विवाह खेल नहीं है, गंभीर बात है, जीवन-मरण की समस्या है। परिवार खेल नहीं है, समाज खेल नहीं है। फिर एक-एक कदम चीजें मजबूत पत्थर की तरह होती चली जाती हैं। फिर सब सख्त हो जाता है। और जो आदमी इसको खेल की तरह लेगा हम उसकी जान ले लेंगे। क्योंकि वह हमारी सारी गंभीर व्यवस्था को तोड़ रहा है। वह हमारे खेल के नियमों को नहीं मान रहा है। हम उससे बदला लेंगे।
जिंदगी हमारी पूरी की पूरी एक लंबा अभिनय है। लेकिन अभिनय को हमने ऐसा ढाल लिया है कि हम कहते हैं, हमारा कर्तृत्व है यह।

ईशावास्य उलटी बात कहता है। वह कहता है, अभिनय को तो अभिनय जानो ही, ऐसी कोई भी घटना नहीं है जगत में जिसके लिए तुम कर्ता बनने के पागलपन में पड़ो। पागल हो तुम जो कर्ता बनो। कर्ता तो तुम परमात्मा को ही बनने दो। उस पर ही छोड़ दो--जो सदा है, तुम नहीं थे तब भी था, तुम नहीं होओगे तब भी होगा। उस पर ही छोड़ दो। करना उस पर ही छोड़ दो। तुम करने के बोझ को मत लो। वह बोझ बहुत ज्यादा पड़ जाएगा, तुमसे ज्यादा पड़ जाएगा। तुम्हारी सामर्थ्य से ज्यादा है वह पत्थर, वह बोझ बड़ा है। उसके नीचे दबोगे और मर जाओगे। उससे उबर न पाओगे।
लेकिन हमारे अहंकार को कठिनाई होती है। हमारे अहंकार को रस आता है, जितना बड़ा पत्थर हमारी छाती पर हो उतना रस आता है। जितना बड़ा पत्थर कोई आदमी छाती पर उठा ले उतनी अकड़ आती है। लगता है कि मैं इतना बड़ा पत्थर उठा रहा हूं! तुम तो कुछ भी नहीं उठा रहे हो। मैं बहुत बड़ा पत्थर उठा रहा हूं। राष्ट्रपति हैं, प्रधानमंत्री हैं, ये बड़े पत्थरों का मजा लेते हैं। हजार गाली खाते हैं, हजार मुसीबत में पड़ते हैं--लेकिन बड़ा पत्थर उठाने के लिए! बड़ा पत्थर छाती पर हो! इतना बता पाएं कि तुम्हारी छाती पर बहुत छोटा पत्थर है--कि आप ग्राम-पंचायत के प्रमुख हो न बस! कहां हम राष्ट्रपति, कहां तुम ग्राम-पंचायत के प्रमुख! दि सेम प्ले ऑन ए लार्जर स्केल। वह ग्राम-पंचायत का पागलपन भी वही हो रहा है, वह जरा छोटी मंच है। और राष्ट्रपति की जरा बड़ी मंच है। वह ग्राम-पंचायत का जो सरपंच है वह भी पीड़ित है कि कब पहुंच जाए, वह भी कोई बड़ा पत्थर उठा ले। इस सारी जिंदगी में जितना बड़ा पत्थर छाती पर है आदमी के, हम उतना बड़ा आदमी कहते हैं उसे।
सच्चाई उलटी है। जो जानते हैं, वे कहते हैं, जिसकी छाती पर पत्थर ही नहीं है वही आदमी फूल की तरह हल्का है; जिसके ऊपर कोई बोझ नहीं। लेकिन ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है। छोटे में छोटा बोझ तो आदमी रखे ही रहता है। नहीं होगा ग्राम-पंचायत का सरपंच तो अपने घर का तो प्रमुख होगा ही! और ऐसा भी नहीं है कि घर में बाप ही प्रमुख होता है। जरा बाप बाहर चला जाए तो छोटा बच्चा अपने से छोटे बच्चों का प्रमुख हो जाता है। डामिनेट करने लगता है फौरन। आपके सामने लड़ रहा होगा आपका बच्चा छोटे भाई से। आप हट जाएं, आप अचानक पाएंगे कि वह डामिनेट करने लगा। वह वही रोल अदा करने लगा जो आप कर रहे थे। पैमाना छोटा होगा, हैसियत कम होगी, लेकिन खेल वही होगा। अनुपात के फर्क होंगे, आप दो सौ और चार सौ के बीच में खेल खेलते हैं, वह दो और चार के बीच में खेलेगा, लेकिन प्रपोर्शन वही होगा। दो और चार, और दो सौ और चार सौ में कोई फर्क नहीं है, अनुपात का कोई फर्क नहीं है, आंकड़ों का फर्क है। छोटे बच्चे छोटा खेल खेलेंगे, बड़े बच्चे बड़ा खेल खेलेंगे। बूढ़े और बड़ा खेल खेलते चले जाएंगे।
आदमी को बड़ी कठिनाई होती है अगर वह यह न बता पाए कि मेरी छाती पर कोई पत्थर है। तो यह भी मजे की बात है कि जितना बड़ा पत्थर होता है, हम अक्सर उससे ज्यादा बड़ा बताते हैं।
मैं जिस विश्वविद्यालय में था, एक महिला मेरे साथ प्रोफेसर थीं। उनकी बीमारियां सुन-सुनकर मैं बहुत हैरान हो गया था। इतनी बीमारियां एक महिला को हो भी नहीं सकती हैं! जब भी मुझे मिलतीं वह, कुछ बड़ी बीमारी! छोटी बीमारी उन्हें होती ही नहीं। फिर मैं उनके पति को पूछा कि इतनी बीमारियां! ऐसे तो पत्नी ही काफी बीमारी होती है, फिर इतनी बीमारियां! आप कैसे चला लेते हैं? उन्होंने कहा कि आप बातों में मत पड़ना। उसे छोटी बीमारी होती ही नहीं। सर्दी-जुकाम भी हो तो क्षय रोग से, टी.बी. से कम की वह बात नहीं करती। मैं हैरान हुआ कि बीमारी को बड़ा करके बताने में क्या राज होगा?
है राज। बड़ी बीमारी है तो बड़ा पत्थर छाती पर है। छोटी बीमारी है तो दो कौड़ी के आदमी हैं आप। बीमारी भी है तो भी छोटी है, कोई हैसियत की बीमारी नहीं हुई। इसलिए तो हम बड़ी बीमारियों को राजरोग कहते थे। जैसे यक्ष्मा था, या क्षयरोग था, तो राजरोग था। छोटे गरीबों को नहीं होता था, सिर्फ राजाओं को होता था।
मैं अभी पढ़ रहा था कि एक महिला ने एक डाक्टर के पास जाकर कहा कि मेरा अपेंडिक्स निकाल डालिए। पर उसने कहा कि तुम्हारे अपेंडिक्स में कोई तकलीफ भी होनी चाहिए! उसने कहा, हो या न हो। मैं जिस क्लब की मेंबर हूं वहां

सब स्त्रियां--किसी का अपेंडिक्स निकल गया, किसी का कुछ निकल गया, मेरा कुछ नहीं निकला है। वहां कुछ बात करने को ही नहीं मिलता।
आदमी की छाती पर पत्थर चाहिए। इसलिए फूल जैसा आदमी खोजना मुश्किल है,
जो कह सके, मेरे ऊपर कोई बोझ नहीं है। लेकिन जिंदगी में बोझ है। कौन कह सकेगा? वही कह सकता है जो सारा बोझ परमात्मा को दे दे। और मजे की बात यह है कि सारा बोझ परमात्मा पर है। आप व्यर्थ ही बीच के मध्यस्थ बन जाते हैं। हमारी हालत उस देहाती जैसी है जो ट्रेन में बैठ गया था। अपना बिस्तर सिर पर रखे हुए था। पास-पड़ोस के लोगों ने बहुत कहा कि नीचे रख दो, क्यों कष्ट उठाते हो! उसने कहा कि टिकट लेकिन मैंने सिर्फ अपनी ही दी है। भला आदमी था, सज्जन था। उसने कहा, टिकट मैंने सिर्फ अपनी दी है। बोझ की टिकट दी नहीं। तो इस पेटी को, इस बिस्तर को मैं नीचे कैसे ट्रेन पर रख दूं? यह तो सरकार के साथ धोखा होगा। इसलिए इसको मैं सिर पर रखे हुए हूं।
अब उस देहाती को पता नहीं है कि वह अपने सिर पर भी रखे रहे तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता, ट्रेन को तो बोझ ढोना ही पड़ता है। बोझ तो परमात्मा ही ढोता है। सारा कर्तृत्व तो परमात्मा ही ढोता है। लेकिन हम बीच-बीच में परमात्मा की ट्रेन पर सवार अपना-अपना बिस्तर अपने-अपने सिर पर रखे हुए बड़ा सुख लेते हैं रास्ते में। और जिनके ऊपर छोटे हैं वजन, उनको कहते हैं कि तुम्हारी जिंदगी बेकार गई। कुछ बोझ तो बड़ा कर लेते। मरते वक्त इतना बोझ तो होता कि लोग कहते कि कुछ छोड़ गया है। इसलिए जब कोई मर जाता है, तो जो नहीं भी छोड़ गया, उसकी भी हम चर्चा करते हैं। जो बोझ उस पर नहीं था, उसकी भी चर्चा करते हैं।
मैंने सुना है कि एक आदमी मर गया। और जब गांव का पादरी उसकी कब्र के पास खड़े होकर उसके ताबूत को कब्र में उतारने लगा तो बातें करने लगा बड़ी-- उसके गुणों की, उसके कामों की, उसने जो किया, उसकी सेवाएं। उसकी पत्नी थोड़ी चिंतित हुई। उसने अपने बेटे से कहा कि सोनी, जरा झुककर देख, ताबूत में तेरे पिता का ही चेहरा है न? क्योंकि ये बातें कभी हमने सुनी नहीं कि उन्होंने किए हों!
रात जाकर उसने पादरी से पूछा कि आप ये बातें कह रहे थे? जहां तक मैं जानती हूं, मेरे पति ने इस तरह के कोई काम कभी नहीं किए। पादरी ने कहा, न किए हों। लेकिन मर गया जो आदमी, उस पर अगर कुछ काम न बताए जा सकें तो लोग क्या कहेंगे? कोई बोझ बताना जरूरी है।
वोल्तेयर का एक मित्र था, वह मरा। मरा, तो मित्र ऐसा था कि जिंदगीभर वोल्तेयर को गाली देता रहा। हर तरह से वोल्तेयर की आलोचना करता रहा। वोल्तेयर की हर चीज की खिलाफत करता रहा। आदमी अच्छा भी नहीं था। मरा तो कुछ लोग वोल्तेयर के पास आए और कहा कि कुछ भी हो, आखिर तुम्हारा मित्र था। माना कि तुम्हें बहुत गालियां दीं, तुम्हें बहुत भला-बुरा कहा, जिंदगीभर तुम्हारी जड़ें काटीं, लेकिन फिर भी अब मर गया है, तो तुम दो शब्द तो उसकी प्रशंसा में लिख दो। तो वोल्तेयर ने लिखा कि ही वा.ज ए गुड मैन, एंड ए ग्रेट वन--प्रोवाइडेड, ही इ.ज रिअली डेड; बड़ा आदमी था, बड़े काम किए, लेकिन अगर पक्का हो कि मर गया है, तो हम यह कह सकते हैं। प्रोवाइडेड ही इ.ज रिअली डेड। अगर जिंदा हो तो यह बात हम नहीं कह सकते।
तो मरे हुए आदमी की हमें प्रशंसा करनी पड़ती है। जो पत्थर उसने नहीं भी उठाए, वे भी उससे उठवाने पड़ते हैं। ऐसा भी क्या आदमी जिसके बाबत कहने को कुछ न हो पीछे!
ईशावास्य लेकिन उसी आदमी की बात कर रहा है। वह कह रहा है कि जिसने सारा कर्तृत्व परमात्मा पर छोड़ दिया। जो कहता है, मैं तो हूं ही नहीं, है तू। कर्ता है तो तू। मैं ज्यादा से ज्यादा तेरे खेल का एक मोहरा हूं। तू जहां चल दे चाल। तू जो बना ले, तू जो करवा दे। तू हरा दे तो हार जाऊं, तू जिता दे तो जीत जाऊं। न जीत मेरी है, न हार मेरी है। हार भी तेरी, जीत भी तेरी। ऐसा जिसका पूरा समर्पण है, जो कहता है, सब परमात्मा का है--मैं भी उसी का, सब कृत्य उसका। फिर भी जीएगा, श्वास लेगा, चलेगा, उठेगा, बैठेगा, काम भी करेगा, खाना भी खाएगा, रात सोएगा भी। यह सब होगा, लेकिन भीतर कर्ता नहीं होगा। और यह एक ही मार्ग है।

और मैं भी कहता हूं कि ईशावास्य का ऋषि ठीक कहता है। यह एक ही मार्ग है। आज तक पृथ्वी पर जो लोग भी सच में ही पूरी तरह इस जीवन से अलिप्त गुजर गए हैं--अछूते, ताजे के ताजे, जैसे के तैसे, आए थे वैसे ही सरल--वे वे ही लोग हैं जिन्होंने किसी तरह के अहंकार को बीच की यात्रा में अर्जित नहीं किया। जो बिना अहंकार के जी लिए। और अहंकार अर्थात कर्ता का भाव। और निरहंकार अर्थात समर्पण, सरेंडर, उस प्रभु के चरणों में सब दे देने की भावना।

असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।। 3।।

वे असुर संबंधी लोक आत्मा के अदर्शन रूप अज्ञान से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्मा का हनन करने वाले लोग हैं, वे मरने के अनंतर उन्हें प्राप्त होते हैं।। 3।।

उपनिषद मनुष्यों के दो विभाजन करते हैं। एक तो वे लोग जो आत्मा का हनन करने वाले हैं। अपनी ही आत्मा के हंता हैं, स्यूसाइडल हैं। और एक वे लोग जो अपनी ही आत्मा के विज्ञाता हैं, जानने वाले हैं। आत्मज्ञानी और आत्महंता। ध्यान रहे, आत्महत्या शब्द का हम प्रयोग करते हैं, लेकिन ठीक अर्थों में उपनिषद ने प्रयोग किया है, हम ठीक अर्थों में प्रयोग नहीं करते। अगर कोई आदमी अपने शरीर को मार डाले, तो हम कहते हैं, आत्महत्या की है उसने; आत्महंता है वह, स्यूसाइड किया। ठीक नहीं है यह बात। क्योंकि शरीर को मार डालना आत्मा को मार डालना नहीं है; शरीर की हत्या आत्महत्या नहीं है। स्वयं ने की है, फिर भी स्वयं की नहीं है। वस्त्र का, आवरण का ही बदलाहट है। शरीर-घात है, आत्महत्या नहीं है।
उपनिषद तो उसे आत्महंता कहता है, जो अज्ञान से आच्छादित अपने को बिना जाने ही जी लेता है। वह स्यूसाइडल है। वह आदमी अपनी आत्मा की हत्या कर रहा है। अपने को बिना जाने जीना आत्महत्या है। अपने को बिना जाने जीना... ।
और हम सब अपने को बिना जाने जीते हैं। हम जीते हैं जरूर, लेकिन यह बिल्कुल पता नहीं होता कि हम कौन हैं, कहां से हैं, क्यों हैं, किसलिए हैं? किस ओर हैं, कहां जाते हैं, क्या प्रयोजन है? क्या अर्थ है इस होने का? नहीं, हमें कुछ भी पता नहीं है। हमें अपना कोई भी पता नहीं है।
हमें और बहुत सी बातें शायद पता हैं। एक बात तो सुनिश्चित पता नहीं है, वह अपना हमें कोई पता नहीं है। हमें उपनिषद कहेगा--हम आत्महंता लोग हैं, असुर हैं। हम अपने को जब तक जानते नहीं, तब तक हम जाने-अनजाने अपने को ही काटते हैं। अज्ञान दूसरे को तो बाद में पीड़ा देता है, पहले तो अपने को ही पीड़ा देता है। ध्यान रहे, अज्ञानी दूसरे पर हमला तो बाद में करता है, पहले तो अपने पर ही हमला करता है। असल में दूसरे पर हमला करना संभव ही नहीं है, जब तक हमने अपने पर हमला न कर लिया हो। और दूसरे को दुख देना असंभव है, जब तक हमने अपने को दुख न दे लिया हो। और जिसने अपने पैरों में कांटे न बो दिए हों, वह दूसरे के मार्गों पर कांटे बोने कभी नहीं जाता है। और जिसने अपने लिए आंसुओं की व्यवस्था न की हो, वह कभी दूसरों के दुखों का इंतजाम नहीं करता है।
असल में सबसे पहले हम अपने लिए पीड़ा बोते हैं और जब पीड़ा इतनी घनीभूत होकर हम पर प्रगट होने लगती है तब हम उसे बांटना शुरू करते हैं। सिर्फ दुखी लोग ही दूसरों को दुख देते हैं। ठीक भी है, जो हमारे पास होता है वही हम दे सकते हैं। लेकिन वह नंबर दो की घटना है। नंबर एक की घटना तो अपने को ही पीड़ा देना है।
क्या हम सारे लोग अपने को पीड़ा नहीं देते? देंगे ही। चाहे हम कोशिश करते हों आनंद देने की, लेकिन सफल हो पाते हैं सिर्फ पीड़ा देने में। नरक का रास्ता बहुत शुभकामनाओं से भरा है। और अपने ही नरक का रास्ता अपने ही लिए किए गए शुभकामनाओं के प्रयासों से निर्मित हो जाता है।
असली सवाल नहीं है कि मेरी आकांक्षा क्या है। अपने को हम सभी आनंद देना चाहते हैं, लेकिन स्वयं को जाने बिना अपने को कोई आनंद दे नहीं सकता।

क्योंकि जिसे यही पता नहीं है कि मैं कौन हूं, उसे यह कैसे पता होगा कि मेरा आनंद क्या है! मेरा आनंद क्या हो सकता है, यह तो मुझे तभी पता हो जब मेरा स्वभाव, मेरा स्वरूप, मेरी निजता मुझे पता हो जाए। जब तक मेरी गहरी जड़ों का मुझे कोई पता न हो जाए कि वे क्या हैं, तब तक मैं कैसे तय करूं कि कौन से फूलों के लिए मैं हूं, जो मुझ में लगेंगे। मेरा बीज जब तक पूरा निर्णीत मेरे लिए न हो जाए कि क्या है, तब तक मैं किन फूलों की आकांक्षा करूं? मैं कौन सा फूल बनना चाहूं?
अगर मुझे मेरे बीज का ही पता नहीं है, तो मैं जो भी बनना चाहूंगा उससे दुख आएगा। क्योंकि वह मैं बन नहीं पाऊंगा। और नहीं बन पाऊंगा तो पीड़ा पाऊंगा, संतापग्रस्त हो जाऊंगा, चिंता से भरूंगा, तनाव से भरूंगा। सारी जिंदगी एक दौड़ तो हो जाएगी, पहुंचना नहीं होगा। यात्रा तो बहुत होगी, मंजिल कहीं नहीं होगी। क्योंकि मंजिल मेरे स्वभाव में छिपी है, मेरी निजता में छिपी है।
पहले मुझे पता हो जाना चाहिए, मैं कौन हूं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि जो मैं हूं उसके लिए मैं कोई खोज ही नहीं कर रहा हूं। और जो मैं नहीं हूं उसके लिए मैं खोज कर रहा हूं। वह नहीं मिलेगा तो मैं दुख पाऊंगा। और मिल जाएगा तो भी मैं दुख पाऊंगा। यह और मजे की बात है।
इस जिंदगी में वे लोग तो दुखी होते ही हैं जो असफल हो जाते हैं, लेकिन
उन लोगों के दुख का भी कोई अंत नहीं है जो सफल हो जाते हैं। माना, असफल आदमी दुखी हो जाए, समझ में आता है। लेकिन सफल आदमी भी दुख को ही उपलब्ध होता है। पूछें, सफल लोगों से पूछें। तब तो जिंदगी बड़ी विडंबना मालूम पड़ती है। यहां असफल तो दुखी होते ही हैं, उनका दुखी हो जाना तर्कयुक्त मालूम होता है, न्यायसंगत दिखाई पड़ता है। लेकिन जो सफल होते हैं वे भी दुखी होते हैं। तब तो यह जगत बहुत ही पागलपन मालूम होता है। अगर यहां सफल को भी दुखी हो जाना है और असफल को भी दुखी हो जाना है, तो फिर तो सुख का कोई उपाय नहीं।
पूछें सफल लोगों से। और पहले सफल लोगों से ही पूछ लें। क्योंकि असफल लोगों के दुखी हो जाने में कोई विशेषता नहीं है। पूछें सफल लोगों से-- पूछें सिकंदर से, पूछें स्टैलिन से। पूछें अरबपतियों से--कार्नेगी से या फोर्ड से। पूछें उन लोगों से, जिन्होंने जो चाहा था वह उन्होंने पा लिया है। फिर पूछें कि सुख मिला? तो बड़ी हैरानी की बात मालूम पड़ती है। वे कहते हैं, सफल तो हो गए, लेकिन सफल हुए सिर्फ दुख पाने में।
असफल जो होते हैं, वे भी कहते हैं, असफल हुए सुख पाने में। दुख हाथ आया। सफल जो होते हैं, वे कहते हैं, सफल हुए दुख पाने में। दुख हाथ आया। जो दौड़कर मंजिल पर पहुंचते हैं, वे भी दुख में पहुंच जाते हैं। जो कहीं नहीं पहुंचते, भटकते हैं विलडरनेस में, अरण्य में, वे भी दुख में भटकते हैं। तो फिर मंजिल में और मार्ग में फर्क क्या है? फिर भटकाव में और पहुंचने में अंतर क्या है?
कोई अंतर नहीं मालूम पड़ता है। नहीं मालूम पड़ेगा। क्योंकि जिसने नहीं जाना कि मैं कौन हूं उसकी सफलता भी दुख लाएगी। वह जिस दिन सफल हो जाएगा उस दिन पाएगा कि जो मकान उसने बनाया वह खुद के रहने के योग्य ही नहीं है। वह उसके स्वभाव के अनुकूल नहीं है। मकान तो बन गया, धन तो इकट्ठा हो गया, यश-कीर्ति तो अर्जित हो गई, लेकिन प्राणों का कोई हिस्सा उससे भरता नहीं, पूरा नहीं होता। यह तो पहले जान लेना था कि मेरी प्यास क्या है, अभीप्सा क्या है? मैं चाहता क्या हूं? कितनी चाहें हैं हमारी, बिना इस बात को जाने कि सच में मेरी चाह क्या है!
फ्रायड ने मरने के कुछ दिन पहले अपने एक मित्र को एक पत्र में लिखा है
कि इतनी जिंदगीभर लाखों लोगों के दुख को सुनने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि आदमी सदा ही दुखी रहेगा, क्योंकि आदमी को यही पता नहीं है कि क्या चाहता है। फ्रायड जैसा आदमी जब कहता है तो सोचने जैसी बात है। कहता है, लाखों दुखी लोगों की पीड़ाओं, चिंताओं, मानसिक क्लेशों के अध्ययन के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि किसी आदमी को यही पता नहीं है कि वह चाहता क्या है।
वह पता होगा भी नहीं। आदमी को उसके पहले यही पता नहीं है कि वह कौन है। मैं कपड़े बनवाने निकल जाऊं, मुझे यही पता नहीं है कि मैं कौन हूं। कपड़े बन

जाएंगे। और मैंने कभी, मेरे शरीर का मुझे पता नहीं, मेरे शरीर के नाप का मुझे कोई पता नहीं, मेरे शरीर की जरूरत का मुझे कोई पता नहीं। मेरे शरीर का मुझे कोई पता नहीं, मुझे मेरा कोई पता नहीं, कपड़े बनवाने निकल जाता हूं। एक दिन कपड़े बन जाते हैं और मैं पाता हूं कि वे मुझ पर नहीं आते। वह अनफिट--वह कहीं कुछ तालमेल टूटा हुआ मालूम पड़ता है।
कपड़े बनवाने जरूर निकल जाइए, लेकिन पहले उसकी तो जांच-परख कर लें कि
वह कौन है जिसके लिए कपड़े हैं, जिसके लिए मकान है, जिसके लिए सुख खोजना है। और बड़े मजे की बात है कि जो व्यक्ति इसको जान लेता है कि मैं कौन हूं, उसके सारे जीवन की यात्रा और सारे जीवन की व्यवस्था रूपांतरित हो जाती है। हम जिन चीजों को खोजने जाते हैं उनको वह खोजने जाता ही नहीं। हम जिन चीजों को पाने के लिए श्रम करते हैं उनको पाने के लिए वह श्रम क्या अगर कोई हंसी के मूल्य पर भी देने को राजी हो तो हंसने को भी राजी नहीं होगा। अगर कोई मुफ्त में भी देने को राजी हो तो वह उस रास्ते से हट जाएगा कि कहीं इसमें कोई मेरे ऊपर डाल ही न दे। वह कुछ और ही खोजने निकल जाता है। वह कुछ और ही पाने निकल जाता है।
और बड़े मजे की बात है कि स्वयं को जानने वाले लोग कभी असफल नहीं होते।
आज तक नहीं हुए। और स्वयं को न जानने वाले लोग कितने ही सफल हो जाएं, फिर भी सफल नहीं होते मालूम पड़ते। आज तक नहीं हुए। स्वयं को जानने वाला सफल हो ही जाता है। क्योंकि स्वयं को जानते ही वह उस रहस्य और राज और उस द्वार को खोल लेता है जहां आनंद है। वह स्वयं में ही कहीं छिपा है।
इसलिए उपनिषद कहते हैं, दो तरह के लोग हैं--आत्म-ज्ञानी, वे जो स्वयं
को जान लेते हैं; और आत्म-अज्ञानी, वे जो स्वयं को नहीं जानते और नहीं जानने में ही दौड़े चले जाते हैं। नहीं जानने में ही कुछ न कुछ किए चले जाते हैं। नहीं जानने में ही कुछ न कुछ पाए चले जाते हैं। नहीं जानने में ही कुछ न कुछ निर्माण किए चले जाते हैं। नहीं जानने से कोई अंतर नहीं पड़ता, उनकी दौड़ और तेज होती चली जाती है।
अक्सर तो जिंदगी में ऐसा ही लगता है कि जो मुझे पाना था वह मुझे मिल नहीं रहा, क्योंकि मैं थोड़ा तेजी से नहीं दौड़ रहा हूं। और थोड़ा तेजी से दौडूं तो मिल जाएगा, और थोड़ा तेजी से दौडूं तो मिल जाएगा। शायद दांव पूरा नहीं लगाया इसलिए नहीं मिल रहा है। दांव पूरा लगा दूं तो मिल जाएगा। कभी यह सोचते नहीं कि जो हम खोजने निकले हैं उसकी कोई इनरहार्मनी, उसका कोई अंतरसंगीत हमारी निजता से है! अगर नहीं है, तो मिल जाए तो भी बेकार है। न मिले तब तो बेकार है ही। और जो समय जाएगा मिलने या न मिलने में, वह व्यर्थ गया। उतनी हमने हत्या की अपनी। हम आत्महंता हुए। हम असुर हुए।
असुर का अर्थ है, अंधकार में जीने वाले। असुर का अर्थ है, अंधेरे में जीने वाले। असुर का अर्थ है, जहां सूर्य का कोई प्रकाश नहीं पहुंचता, ऐसे लोक में जीने वाले। जहां रोशनी नहीं है--अंधकार-जीवी। अंधकार में ही टटोलते और सरकते, अंधेरे के कीड़े-मकोड़ों की तरह। और जिन्होंने स्वयं को नहीं जाना वे अंधकार में होंगे ही। क्योंकि स्वयं को जानना ही सूर्य बन जाना है। वह स्वयं का उदघाटन, स्वयं की पहचान ही वह सूरज बनती है, जिससे रोशनी फैल जाती है चारों तरफ। फिर जहां भी कदम पड़ते हैं, वहीं रोशनी होती है। फिर जहां भी आंख पड़ती है, वहीं रोशनी होती है। फिर जहां भी हाथ जाते हैं, वहीं रोशनी होती है। फिर उस आदमी के भीतर से धारा बहने लगती है प्रकाश की। वह जहां होता है, वहीं प्रकाशित होता है। ऐसे व्यक्ति की यात्रा प्रकाश-लोकों की यात्रा है।
और एक वे हैं जिनके भीतर का दीया बिल्कुल बंद और बुझा हुआ है, अंधेरे में डूबा हुआ है। और जो दौड़ते रहते हैं, टटोलते रहते हैं, भागते रहते हैं, अंधे अंधों का पीछा करते रहते हैं, अंधे अंधों का नेतृत्व करते रहते हैं। जो थोड़े वाचाल अंधे होते हैं वे कम बोलने वाले अंधों को पीछे कर लेते हैं। दौड़ जारी रहती है। जो जरा हिम्मतवर अंधे होते हैं वे गैर-हिम्मतवर अंधों को पीछे इकट्ठा कर लेते हैं। वे कहते हैं, आ जाओ।
खलील जिब्रान ने लिखा है कि एक आदमी गांव-गांव घूमकर कहता था कि मेरे पीछे आ जाओ, मैं तुम्हें ईश्वर से मिला दूंगा। कभी कोई पीछे उसके गया नहीं, इसलिए कभी कोई उपद्रव हुआ नहीं। गांव के लोगों ने कहा कि अभी हम बहुत

दूसरे कामों में उलझे हैं, तुम फिर आना। जरा अभी तो फसल खड़ी है, कट जाए, फिर तुम आना। फिर वह आया तो उन्होंने कहा कि इस बार तो फसल ठीक हो नहीं सकी, तंगी है, तकलीफ है, अगले वर्ष आना। वह गांव-गांव घूमता रहा। उसको जल्दी भी न थी कि कोई उसके पीछे चले।
लेकिन एक गांव में एक पागल मिल गया। उसने कहा कि मेरे पीछे आओ, जिसको ईश्वर के पास जाना हो। उसने अपनी कुदाली फेंक दी, उसने कहा, मैं आया। वह बहुत घबड़ाया। पर उसने सोचा कि साल दो साल में भाग जाएगा, कितना पीछा करेगा! लेकिन वह आदमी पीछे ही पड़ गया। वर्ष बीता। वह आदमी पीछे ही रहा। उसने कहा कि बोलो, कहां ले चलते हो, वहीं चलूंगा। दो वर्ष बीते, अब वह नेता घबराने लगा, अब वह गुरु घबराने लगा, वह उससे बचने लगा। लेकिन वह उसके सदा पीछे ही खड़ा रहे और बोले कि तुम बोलो, कहां! तुम जहां कहोगे हम वहीं चलेंगे। तुम जो कहोगे हम वही करेंगे।
छह साल बीत गए। उसने उसकी गर्दन पकड़ ली, उसके शिष्य ने। उसने कहा कि अब बहुत देर हुई जा रही है, तुम बोलो। उसने कहा, तू माफ कर। तेरे सत्संग में मेरा तक रास्ता खो गया। तू जिस दिन से पीछे लगा है, हम खुद ही रास्ता भटक गए। पहले रास्ता बिल्कुल साफ था। सब चीजें दिखाई पड़ती थीं। मंजिल पास थी, ईश्वर सामने था। तेरा क्या साथ किया कि मुझे तक डुबा दिया! तू अपना रास्ता पकड़, तू मेरा पीछा छोड़।
तो उस आदमी ने कहा कि दोबारा हमारे गांव से मत गुजरना अब। उसने कहा, बाबा, हम माफी मांगते हैं। तेरे गांव से नहीं गुजरेंगे। लेकिन और गांव हैं, उन में तो हम जा सकते हैं। और फिर सब गांव में तेरे जैसे लोग कहां हैं! वे सुन लेते हैं, हम अपने पार हो जाते हैं।
आदमी खुद तो अंधेरे में जीता ही है, लेकिन खुद अंधेरे में जी रहा है,
इस बात को भुलाने के लिए अक्सर दूसरों से प्रकाश की बात करने लगता है। इससे थोड़े सावधान होने की जरूरत है। आपको पता ही नहीं होता वह बात भी आप दूसरे को बताने लगते हैं। तब आप इतनी हानि पहुंचाते हैं जिसका हिसाब लगाना मुश्किल है। लेकिन ऐसा आदमी खोजना मुश्किल है जो इतना नियम मानता हो, इतना संयम और मर्यादा रखता हो कि जो जानता है वही बताएगा, जो नहीं जानता है नहीं बताएगा। नहीं, मौका मिल जाए तो टेंपटेशन भारी है दूसरे को बताने का। भारी, बहुत भारी। कोई मिल भर जाए। जो जरा दिखा कि कमजोर है, उसकी गर्दन दबाई जा सकती है, तो फिर आप दबा देंगे। फिर उसको बता देंगे कि यह रहा रास्ता, पहुंच जाओ सीधे, चले जाओ।
रास्ता बताने का मजा है, उससे अपने को भ्रम पैदा होता है कि रास्ता पता है। और बताते-बताते आदमी धीरे-धीरे भूल भी जाता है कि हमें खुद ही पता नहीं है।
बहुत कम लोग हैं जिन्हें पता है। लेकिन बहुत लोग हैं जो बता रहे हैं।
और इस दुनिया में जो नहीं जानते और बता रहे हैं, अगर चुप हो जाएं, तो बड़ा शुभ फलित हो। लेकिन बहुत कठिन है उनका चुप होना। उनको चुप करना कठिन है। उनको चुप करो तो वे और जोर से चिल्लाने लगेंगे। क्योंकि जोर से बताने में ही वे अपने को धोखा दे पाते हैं। जोर से अपनी ही आवाज सुनकर, अपने ही कान में पड़ती अपनी ही आवाज भरोसा दिला देती है कि ठीक है, मुझे मालूम है। उपनिषद कहते हैं, दो तरह के लोग हैं। आप ठीक से सोच लेना कि दो में किस तरह के लोग हैं? आप किस कोटि में हैं? और ईमानदारी से निर्णय अपने बाबत लेना जरूरी है, तो ही अगला कदम ईमानदारी का उठ सकता है। आत्महंता हैं कि आत्मज्ञानी हैं?
आत्मज्ञानी हैं तब तो कोई सवाल ही नहीं, बात ही समाप्त हो गई। तब तो कोई यात्रा ही नहीं है। आत्महंता हैं तो यात्रा है। बात शुरू भी नहीं हुई, समाप्त होना तो दूर है। लेकिन अपने आपको आत्मज्ञानी मान लेना सरल है। उपनिषद पढ़े हैं सभी ने, गीता पढ़ी है, बाइबिल पढ़ी है, कुरान, महावीर, बुद्ध के वचन सभी को याद हैं। इतना महंगा पड़ गया है जिसका कोई हिसाब नहीं। सब कंठस्थ हो गए हैं, सबको सब मालूम है। किसी को कुछ भी मालूम नहीं है और सबको सब मालूम होने का भ्रम है। कंठस्थ हैं।
मुझे लोग पत्र लिखकर भेज देते हैं कि आपने यह बात कही, यह ठीक नहीं मालूम पड़ती क्योंकि फलानी किताब में ऐसा लिखा हुआ है। अगर तुम्हें पता ही

है कि ठीक क्या है, तो मेरी बात सुनने की कोई जरूरत ही नहीं। और अगर पता नहीं है, तो मेरी बात ठीक है कि फलानी किताब में लिखा ठीक है, यह सिर्फ सोच-विचारकर तय नहीं होगा। कुछ करना पड़ेगा।
कल मैं यहां से गुजरा। एक मित्र ने कार पर आकर कहा कि यही तो योगसार में भी कहा है न, जो मैं कह रहा हूं। योगसार पढ़े बैठे होंगे! जो मैं कह रहा हूं उसे करने की फिक्र करो। क्योंकि योगसार में जो कहा है अगर किया होता, तो यहां मेरे पास आने की जरूरत न होती। तो योगसार पर आपकी बड़ी कृपा है, कुछ किया नहीं। मुझ पर भी वही कृपा मत करो। और अब मुझसे पूछते हो, यही योगसार में कहा है? कहा है कि नहीं कहा है, इससे क्या फर्क पड़ेगा? योगसार आपने पढ़ लिए, मेरी बात सुन ली, करिएगा कब?
वह जो मित्र पूछते थे कोई बच्चे नहीं थे। बच्चे ऐसी नासमझी की बातें नहीं पूछते। वृद्ध थे। अगर नासमझी की गहरी बातें पता लगानी हों तो बूढ़ों के पास, क्योंकि नासमझी भी परिपक्व हो गई होती है। एक्सपीरिएंस्ड इग्नोरेंस होती है, अनुभवी अज्ञान होता है, मजबूत, भारी। सब शास्त्र देख लिए। सब जो-जो कहा गया है, जान लिया। आत्मज्ञानी बन गए। बन गए तो हर्जा नहीं। बहुत अच्छा है, शुभ है। हम सब प्रसन्न होंगे--कोई बने। लेकिन फिर मेरे पास आने की कोई जरूरत न रही। लेकिन आए हैं, तो मैं जानता हूं कि योगसार बेकार गया। आए हैं तो मैं जानता हूं, जो भी अब तक पढ़ा है बेकार गया। और जब इतनों को बेकार कर दिया है तो बहुत संभावना तो यह है कि मुझे भी बेकार करके रहेंगे। उसी चेष्टा में लगे हैं। मैं कह दूं कि योगसार में कहा है, तो ठीक है, मालूम ही है, बात खतम हो गई। अगर मैं कहूं, नहीं कहा है योगसार में, तो विवाद करने के लिए सुविधा मिल जाएगी। यह विवाद जिंदगीभर कर लिया है।
मैं किसी विवाद में उत्सुक नहीं, किसी वाद में उत्सुक नहीं। एक बात में छोटी सी उत्सुक हूं कि आप निर्णायक रूप से तय कर पाएं--आत्महंता हैं, आत्मज्ञानी हैं? आत्मज्ञानी हैं तो आप बाहर हिसाब के हो गए। आपसे मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। बात खतम हो गई। आत्महंता हैं तो कुछ किया जा सकता है। वह क्या किया जा सकता है, वही आपसे कह रहा हूं। और ध्यान रखें, मैं कह रहा हूं इसलिए वह सही नहीं हो जाएगा। मेरे कहने से कोई चीज सही नहीं हो जाएगी। जब तक कि आप उसे करके न जान लें, तब तक किसी तरह सही न हो जाएगी। उसे करके जान लें।
धर्म प्रयोग है, विचार नहीं। धर्म प्रक्रिया है, चिंतना नहीं। धर्म विज्ञान है, दर्शन नहीं। धर्म फिलासफी नहीं है, साइंस है। निश्चित ही प्रयोगशाला कोई बाहरी प्रयोगशाला नहीं है कि जहां आप जाएं और टेस्ट-ट्यूब और सामान जुटाकर प्रयोग करने लगें। आप ही प्रयोगशाला बनेंगे। आपके भीतर ही सारा का सारा प्रयोग फलित होने वाला है।
आज के लिए इतनी बात। फिर कल हम और सूत्रों पर बात करेंगे।
अब प्रयोग की बात आपसे थोड़ी सी कर लूं, फिर हम प्रयोग में लगेंगे।
मैं तो मानकर चलता हूं कि आप आत्महंता हैं। इससे बुरा लग सकता है। लगे
तो भी अच्छा। थोड़ी चोट लगे तो भी अच्छा। कई बार तो ऐसे आदमी इतने मर गए होते हैं कि चोट भी नहीं लगती। उनको आत्महंता कहो, वे कहेंगे, ठीक है। वे कहेंगे, ठीक कह रहे हैं। स्वीकार्य है--स्वीकार कर लेंगे।
अभी तक अपने को बिना जाने जी रहे हैं, यह आपसे मैं कहता हूं। चाहता हूं
कि आप खुद अपने भीतर जानें और अपने से कह पाएं कि मैं अपने को बिना जाने जी रहा हूं। क्योंकि स्वयं को न जानने की पीड़ा इतनी घनी है कि वही आपको प्रयोग में ले जाएगी, अन्यथा नहीं ले जाएगी।
और ध्यान रखें कि धर्म कुछ ऐसा प्रयोग है कि आप करेंगे तो ही जानेंगे। पड़ोसी करेगा तो आप नहीं जान लेंगे। इसलिए आज दोपहर के मौन में मैं देखा कि दस-पांच पक्के नासमझ, वे देख रहे हैं कि दूसरे क्या कर रहे हैं। क्या देखेंगे! दौड़ रहा है एक आदमी, नाच रहा है एक आदमी, चिल्ला रहा है एक आदमी, आप क्या देख रहे हैं? आप सोच रहे होंगे, यह पागल है! मैं आपसे कहता हूं, फिर से सोचना, पागल आप हैं। वह तो कुछ कर रहा है। आप पागल को देखने आए हैं? आप किसलिए आ गए हैं? कोई नाचेगा इसको देखने? बेकार की मेहनत की। इतनी लंबी

यात्रा बेकार की। पागल ही देखने थे, तो आपके गांव में ही मिल जाते। उसके लिए इतनी दूर इस पहाड़ पर चढ़कर आने की कोई जरूरत न थी।
फिर दूसरे के भीतर क्या हो रहा है, आप कभी नहीं जान पाएंगे। अगर वह हंस रहा है तो आपको हंसी की आवाज सुनाई पड़ेगी, लेकिन उसके भीतर कौन सा झरना बह रहा है, यह आपको पता नहीं चलेगा। अगर वह रो रहा है तो उसके आंसू आपको दिखाई पड़ेंगे, लेकिन उसके भीतर कौन सी चीज इतनी ओवरफ्लो हो गई है, कौन सी चीज ऐसी बाढ़ में आ गई कि आंसुओं से बह रही है, उसका आपको कभी पता नहीं चलेगा। अगर वह नाच रहा है तो ठीक है, नाच रहा है। देख लेंगे कि हाथ-पैर उठा रहा है, कूद रहा है। लेकिन उसके भीतर कौन सी धुन बजने लगी, उसके भीतर कौन से तार झनझना उठे, वह आपको कभी पता नहीं चलेगा। कितना ही उसकी छाती पर कान लगा लें, तो भी उसकी अंतर्वीणा का कोई स्वर आपको सुनाई पड़ने वाला नहीं है। इसलिए दूसरे को बिल्कुल भूल जाएं, दूसरे का स्मरण ही छोड़ दें।
तो कल के मौन के लिए आपसे कह दूं कि मौन में भी आप आंख पर पट्टी ही बांधें, वही उचित है। मौन में भी कोई बिना पट्टी के न बैठे, पट्टी ही बांधकर बैठें। कान में भी रूई डाल लें। पट्टी डाल लें आंख पर। देखने की फिक्र छोड़ दें। देखने से कुछ मिलने वाला नहीं है।
रात का जो प्रयोग है, यह खुली आंख का प्रयोग है। और जिन्होंने आज दिन ज्यादा से ज्यादा आंख बंद रखी होगी, वे इस प्रयोग में ज्यादा से ज्यादा गहरा जा सकेंगे। इसलिए जिन्होंने नहीं रखी हो, कल वे ख्याल रखकर ज्यादा से ज्यादा आंख को बंद रखें। यह रात का प्रयोग खुली आंख का है। ध्यान रहे, आंख के खुले होने पर पूरे समय आंख की ऊर्जा बाहर जाती है। इस प्रयोग को अगर पूरी शक्ति से करना है, तो ज्यादा से ज्यादा आंख दिन में बंद रहेगी तो एनर्जी इकट्ठी होगी। और आंख रात के इस प्रयोग में उसका उपयोग कर पाएगी; अन्यथा नहीं उपयोग कर पाएगी।
तो आप कल पूरा ख्याल रखें। अधिकतम आंख को बंद रखें, कान को बंद रखें, मौन रहें। सुबह तो आंख बंद करके ही प्रयोग होगा, दोपहर के मौन में भी आंख पर पट्टी रहेगी। रात चालीस मिनट पूरी आंख खुली रखनी है।
चालीस मिनट अभी हम यहां बैठेंगे, तो आप सिर्फ मुझे देखते रहेंगे चालीस मिनट। आंख की पलक भी नहीं झपानी है। चालीस मिनट आंख के द्वार को बिल्कुल खुला रखना है। थोड़ी ही देर में बहुत से अनुभव आने शुरू हो जाएंगे। और जिन्होंने आज दिन में प्रयोग किया है--और बहुत से मित्रों ने बहुत ही ठीक से प्रयोग किया है--उनके लिए परिणाम भारी होंगे। जिनको ऐसा ख्याल हो कि उनके लिए खड़े होकर आसानी होगी, क्योंकि उछलेंगे, कूदेंगे, नाचेंगे, तो वे बाहर की परिधि पर चारों तरफ खड़े हो जाएंगे। इस कोने से लेकर मेरे चारों तरफ बीच में बैठे हुए लोग रह जाएंगे। खड़े हुए लोग चारों तरफ हो जाएंगे। जिनको भी जरा भी ख्याल हो कि उनको आसानी खड़े होकर पड़ेगी, वे हट जाएं। फिर बीच में न उठें। फिर बीच में आप नहीं उठ सकेंगे। फिर बीच में आपको बैठकर ही डोलना पड़ेगा, हिलना पड़ेगा। इसलिए चुपचाप--बात कोई नहीं करेगा--बाहर के गोल घेरे में चारों तरफ मेरे खड़े हो जाएं। और चालीस मिनट मुझे आपको देखना पड़ेगा। मैं चुप यहां बैठा रहूंगा। फिर जो भी आपको हो, होने देना है। गहरी श्वास का मन हो, गहरी श्वास लें। नाचने का मन हो, नाचें। लेकिन ध्यान मेरी तरफ रहे, आंख मुझ पर अटकी रहे। चिल्लाने का मन हो, चिल्लाएं। नाचें, रोएं, हंसें, जो भी करना हो। लेकिन आंख मेरी तरफ रहे।
दो और सूचनाएं आपको दे दूं। जब मुझे लगेगा कि आप ठीक स्थिति में आ गए,
तो मैं अपने दोनों हाथ ऊपर की तरफ उठाऊंगा। उस वक्त आपको पूरी शक्ति लगा देनी है। वह मेरा इशारा है कि आपके भीतर की कुंडलिनी उठ रही है, आप पूरी शक्ति लगा दें। और जब मुझे ऐसा लगेगा कि आप इतनी शक्ति से भर गए हैं कि आपके ऊपर परमात्मा की शक्ति उतर सकती है, तो मैं ऊपर से हाथ नीचे की तरफ लाऊंगा। तब आप पूरी, जितनी आपके पास शक्ति हो, पूरी लगा देंगे। और तब बहुत परिणाम होंगे।
हट जाएं। जिनको खड़े होना है, वे मेरे चारों तरफ आ जाएं। जिनको बैठना है, वे सामने... । बस, जल्दी; ज्यादा देर न करें, चुपचाप हट जाएं। बीच में किसी को फिर उठने का मौका नहीं रहेगा, इसलिए अभी बाहर निकल आएं।

और किसी को आपको देखना नहीं है। माइक तो हट जाएगा। मैं चुपचाप यहां बैठूंगा, आंख मुझ पर गड़ी रहे। चालीस मिनट, अपलक, बिना आंख झपके मेरी तरफ देखते रहें। आंसू गिरें, गिरने दें; आंख जलने लगे, जलने दें; कोई फिक्र न करें। और जो आपके भीतर होने लगे, उसको प्रगट होने दें। उसको रोकना नहीं है।
बातचीत न करें। बाहर आ जाएं। खड़े हो जाएं। खड़े होने में जो आनंद होगा उसकी बात ही और है। कंजूसी न करें। खड़े होने का जो मजा है, उसकी बात और है।
क्योंकि आपको पूरा मौका मिलेगा खुलकर अपनी शक्ति को प्रगट करने का।

ईशावास्य उपनिषद
चौथा प्रवचन

वह अतिक्रमण है

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।। 4।।

वह आत्मतत्व अपने स्वरूप से विचलित न होने वाला तथा मन से भी तीव्र गति वाला है। इसे इंद्रियां प्राप्त नहीं कर सकीं, क्योंकि यह उन सबसे आगे गया हुआ है। वह स्थिर होते हुए भी अन्य सभी गतिशीलों को अतिक्रमण कर जाता है। उसके रहते हुए ही वायु समस्त प्राणियों के प्रवृत्तिरूप कर्मों का विभाग करता है।। 4।।

आत्मतत्व स्थिर होते हुए भी गतिमान से भी ज्यादा गतिमान है। आत्मतत्व इंद्रियों और मन की दौड़ के परे है, क्योंकि इंद्रियों और मन दोनों के पूर्व है, दोनों के पहले है, दोनों के पार है।
इस सूत्र को साधक के लिए समझना बहुत जरूरी और उपयोगी है।
पहली बात तो कि आत्मतत्व जिससे हम अपरिचित हैं, जिसका हमें कोई पता नहीं, जो हम हैं और फिर भी जिसकी हमें कोई पहचान नहीं है। हमारी चेतना की जो अंतिम गहराई है, जो अल्टीमेट डेप्थ है, जो आखिरी गहराई है, जहां से हमारा होना जन्मता है और विकसित होता है... ।
अगर हम एक वृक्ष की तरह सोचें, तो वृक्ष में पत्ते भी हैं ऊपर आकाश में फैले हुए, पत्तों के पीछे छिपी हुई शाखाएं भी हैं, शाखाओं के पीछे वृक्ष की पीड़ भी है। और उन सबके नीचे वृक्ष की, अंधेरे में पृथ्वी के गर्भ में छिपी हुई, जड़ें भी हैं। कोई वृक्ष अगर अपने को पत्ता ही मान ले... और ऐसा मानने में बहुत कठिनाई नहीं है, क्योंकि जड़ें प्रगट नहीं हैं, दूर अंतर-गर्भ में छिपी हैं। तो हो सकता है, वृक्ष समझ ले कि मैं पत्तों का समूह हूं। और भूल जाए यह कि जड़ें भी हैं। उसके भूलने से अंतर नहीं पड़ता। पत्ते क्षणभर भी जी न सकेंगे जड़ों के बिना। जड़ें फिर भी अंधेरे में काम करती रहेंगी। और यह मजे की बात है कि पत्ते तो जड़ों के बिना नहीं हो सकते, लेकिन जड़ें पत्तों के बिना हो सकती हैं। अगर हम पूरे वृक्ष को भी काट डालें तो भी जड़ें सक्रिय रहेंगी और नए वृक्ष को अंकुरित कर जाएंगी। लेकिन हम पूरी जड़ों को काट डालें तो पत्ते सिर्फ कुम्हलाएंगे, सूखेंगे, मरेंगे; नए पत्तों को जन्म न दे पाएंगे। वह जो अंधेरे में गहरे में छिपी हुई जड़ें हैं, वही प्राण हैं। अगर मनुष्य को भी हम एक वृक्ष मान लें, तो जिन्हें हम विचार कहते हैं,
वे हमारे पत्तों से ज्यादा नहीं हैं। और विचारों के जोड़ को ही हम अपने को समझ लेते हैं कि यह मैं हूं, पत्तों के जोड़ को! जड़ें तो गहरे में आत्मतत्व हैं। लेकिन जैसे जमीन के गहरे में और अंधेरे में वृक्ष की जड़ें छिपी हैं, वैसे ही हमारे आत्मतत्व की जड़ें परमात्मा में, गहरे में, बहुत गहरे में छिपी हैं। वहां से ही हम रस पाते हैं। वहां से ही जीवन मिलता है। वहां से ही प्राण की धाराएं बहती हैं और हमारे पत्तों तक आती हैं।
हमारे पत्ते न हो सकेंगे, अगर वे जड़ें न हों। तो जिस दिन वे जड़ें अपने
को सिकोड़ लेती हैं परमात्मा में, उसी दिन हमारे पत्ते कुम्हला जाते हैं, शाखाएं सूख जाती हैं--कहते हैं, आदमी मर गया। जब तक वे जड़ें रस को पीए चली जाती हैं, जब तक वह आत्मतत्व हमारे पत्तों को फैलाए चला जाता है, तब तक लगता है हम जीवित हैं।
हमारे विचार हमारे पत्तों की भांति हैं, हमारी वासनाएं हमारी शाखाओं
की भांति हैं। और इन पत्तों और शाखाओं के जोड़ से ही हमारा अहंकार निर्मित होता है। यह बहुत गौण हिस्सा है हमारे अस्तित्व का। हमारे अस्तित्व का मूल, सब्स्टैनशिएल हिस्सा तो नीचे छिपा है। उसको ही उपनिषद आत्मतत्व कहता है। वह, जिसके बिना हम न हो सकेंगे, यद्यपि जिसे हम भूल सकते हैं। वह, जिसके बिना हमारा कुछ भी न हो सकेगा, लेकिन फिर भी वह इतने भूगर्भ में है,

अस्तित्व की इतनी गहराई में है कि हम उसे विस्मरण कर सकते हैं। आत्मतत्व विस्मरण कर दिया जाता है।
और मजे की बात है, जो बहुत गहरा नहीं है, जिसके बिना भी हम हो सकते हैं,
वह ऊपर होता है परिधि पर। वह दिखाई पड़ता है। वह पकड़ में आता है। हम अपने को जब पकड़ने जाते हैं, तो अपने विचारों के जोड़ को ही समझ लेते हैं कि यह मैं हूं। मन को ही समझ लेते हैं कि मैं हूं। मनसतत्व हमारे पत्तों का जोड़ है, आत्मतत्व हमारी जड़ों का। और ध्यान रहे, जो जड़ों तक नहीं पहुंचेगा वह उस भूमि को तो कभी पहचान ही नहीं पाएगा, जिससे जड़ें रस पाती हैं। जड़ है आत्मतत्व। जड़ तक जो पहुंचेगा वह पाएगा, बहुत शीघ्र पाएगा कि जड़ नहीं है, जड़ भी रस पाती है पृथ्वी से। और भी एक बड़ी अंतरधारा है जीवन की। आत्मतत्व को जो पहचानेगा वह परमात्मतत्व को भी पहचान लेगा।
लेकिन हम तो जीते हैं पत्तों में और इन पत्तों के जोड़ को ही समझ लेते हैं कि यह मैं हूं। इसलिए एक जरा सा पत्ता कुम्हला जाता है, गिरता है, तो हम सोचते हैं--मरे, गए, नष्ट हुए। सब पत्ते कुम्हला जाते हैं, तो सोचते हैं, जीवन गया, खोया। जीवन का हमें पता ही नहीं है। जीवन की बहुत ऊपरी आवरण, बहुत ऊपरी आच्छादन, वही हम अपने को मानकर जीते हैं।
उपनिषद कहता है, इस आवरण में, आच्छादन में जीने वाला ही आत्महंता है।
इस आवरण के नीचे, गहरे में, वहां तक जाने वाला, जहां जड़ें मिल जाएं--रूट्स आफ एक्झिस्टेंस--जहां से अस्तित्व अपने मूल उदगम को पा ले, गंगोत्री मिल जाए जहां प्राणों की, तब हमने जाना आत्मतत्व। उसे जान लेने वाला ही आत्मज्ञानी है। उसे जान लेने वाला ही प्रकाश को उपलब्ध होता है, जीवन को उपलब्ध होता है।
इस आत्मतत्व के लिए तीन बातें कही हैं। एक तो यह कहा है कि यह आत्मतत्व सदा स्थिर है। और इस स्थिर आत्मतत्व के चारों ओर बड़े परिवर्तन का जाल चलता है। यह भी बड़े रहस्य की बात है। जहां-जहां परिवर्तन होता है, वहां-वहां केंद्र में स्थिरता अनिवार्य है। गाड़ी का एक चाक चलता है तो कील ठहरी रहती है। अगर कील भी चल जाए तो चाक का चलना मुश्किल है। कील ठहरती है, इसलिए चाक चलता है। चाक के चलने का राज ठहरी हुई कील में होता है। अगर कील भी चली तो चाक नहीं चलेगा फिर। फिर तो गाड़ी गिरेगी और नष्ट होगी। चाक चलेगा उतनी ही व्यवस्था से जितनी व्यवस्था से कील थिर रहेगी। चाक सैकड़ों मीलों की यात्रा कर लेता है, और कील कितनी यात्रा करती है? कील अपनी ही जगह खड़ी रहती है। और बड़े मजे की बात तो यह है कि खड़ी हुई कील की जरूरत पड़ती है चलने वाले चाक को। वह जो परिवर्तन का चक्र है, वह चलता ही है उस पर, जो अपरिवर्तित है।
तो पहली बात तो हमारे जीवन में सब परिवर्तन है। जहां तक परिवर्तन है वहां तक जानना पत्ते हैं। आएंगे अभी इस बसंत में और झड़ेंगे कल पतझड़ में। क्षण को भी कुछ ठहरा नहीं होगा, आच्छादन बदलता ही रहेगा। लेकिन गहरे में, भीतर कहीं न कहीं कोई तत्व है, जो ठहरा हुआ है, जो सारे परिवर्तन को सम्हाले हुए है।
कभी ग्रीष्म के बवंडर देखे हैं चलते हुए हवा के? गोल बवंडर धूल के बादल को आकाश की तरफ उठाए लिए चला जाता है। जब बवंडर जा चुका हो, तब कभी उस बवंडर के नीचे छूट गए जो चरण-चिह्न हैं जमीन की धूल पर, उन्हें जाकर देखना तो बड़ी हैरानी होगी। बवंडर घूमता है कितनी तेजी से! कभी-कभी तो बवंडर लोगों को उठाकर उड़ा ले जाता है। लेकिन बवंडर के निशान अगर देखेंगे तो बहुत चकित होंगे। बीच बवंडर के, गाड़ी के चाक की तरह एक कील का स्थान भी होता है, जो बिल्कुल अछूता रह जाता है। इतने जोर से बवंडर घूमता है, लेकिन बीच में एक जगह रहती है, जो खाली और शून्य रह जाती है। हवा की कील बन जाती है वहां। उसी ठहरी हुई कील पर पूरा बवंडर घूमता है।
असल में कोई भी चीज घूम नहीं सकती है, अगर बीच में कोई चीज ठहरी हुई न हो। जीवन बड़े जोर से घूमता है। विचार बड़े जोर से घूमते हैं। वासनाएं बड़े जोर से घूमती हैं। वृत्तियां बड़े जोर से घूमती हैं। जीवन एक चक्र है, तेजी से घूमता है। उपनिषद कहते हैं, उसके बीच में एक थिर तत्व है। उसे खोजना पड़ेगा। उसके बिना सहारे के यह इतना बवंडर चल नहीं सकता। यह बवंडर जीवन का उस थिर तत्व पर चलता है।

वह थिर तत्व आत्मतत्व है। वह सदा थिर है, ठहरा ही हुआ है। वह कहीं भी कभी गया नहीं है। वह कभी बदला नहीं है। जब तक उस अपरिवर्तित और न बदलने वाले का स्मरण न आ जाए, पहचान न आ जाए, तब तक जानना कि जीवन को हमने नहीं जाना। अभी हम बाहर की परिधि पर परिवर्तन को ही जानते थे, अभी कील से हमारी पहचान नहीं हुई। अभी हम चाक के आरों से ही परिचित रहे, अभी मूल को नहीं देखा, जिस पर सब ठहरा हुआ है। इसे उपनिषद कहते हैं, वह थिर है। वह ठहरा हुआ है।
ठहरे हुए का क्या अर्थ है? जो भी अर्थ हम समझेंगे, उसमें गलती होने की पूरी संभावना है। और इसलिए जिन लोगों ने भी उपनिषद पर व्याख्याएं की हैं, उनमें अधिक लोगों ने भूल की है।
ठहरे हुए का मतलब स्टैग्नेंट नहीं है, ठहरे हुए का मतलब ऐसा नहीं है जैसा कि एक तालाब है, चलता नहीं, रुका हुआ। सड़ जाएगा। आत्मतत्व ठहरा हुआ है, इसका ऐसा अर्थ नहीं है। आत्मतत्व ठहरा हुआ है, इसका अर्थ स्टैग्नेंसी नहीं है।
आत्मतत्व थिर है, इसका अर्थ है कि आत्मतत्व इतना पूर्ण है कि परिवर्तन का उपाय नहीं है। आत्मतत्व इतना परिपूर्ण है, इतना एब्सोल्यूट है, इतना निरपेक्ष है। जो भी है, इतना पूरा है कि उसमें और कुछ उपाय नहीं है होने का।
परिवर्तन वहीं होता है, जहां अपूर्णता होती है। बदलाहट वहीं होती है, जहां कुछ और होने की गुंजाइश, जहां कुछ और होने की सुविधा, अवकाश, स्पेस होता है। बच्चा जवान हो जाता है, जवान बूढ़ा हो जाता है। कुछ जगह बची है, बदलती चली जाती है। पत्ते आते हैं, फूल आते हैं। गिरते हैं, नए पत्ते आते हैं।
आत्मतत्व थिर है, इसका अर्थ, आत्मतत्व पूर्ण है। पूर्ण को बदलेंगे कैसे? पूर्ण बदलेगा किस में? जगह भी नहीं है बदलने को आगे। आगे बदलने को उपाय भी नहीं है। आत्मतत्व थिर है, इसका अर्थ है, आत्मतत्व पूरा खिला हुआ है, टोटल फ्लावरिंग। अब और खिलने को आगे जगह नहीं है। ध्यान रहे, ठहरे हुए तालाब की तरह नहीं, स्टैग्नेंट तालाब की तरह नहीं है, पूरे खिले हुए कमल की तरह है। इतना खिल गया है कि अब कलियों को खिलने के लिए और कोई उपाय नहीं है।
तो यहां थिरता से अर्थ है परफेक्शन, स्टैग्नेंसी नहीं। थिरता का अर्थ
है पूर्णता। इतना पूर्ण है, इतना पूर्णतर है, इतना पूर्णतम है कि उसके आगे अब कलियां, पखुड़ियां और खिलना भी चाहें तो कहां खिलें! यहां थिरता का अर्थ है, पोटेंशियलिटी पूरी की पूरी एक्चुअलिटी हो गई। यहां जो भी छिपा था बीज में, वह पूरा का पूरा ही प्रगट है, अप्रगट कुछ बचा नहीं है। इसलिए यहां ठहराव का अर्थ अगति नहीं है, यहां ठहराव का अर्थ पूर्णता है। लेकिन हम जब भी सोचते हैं, ठहरा हुआ है, तो हमारे मन में ख्याल ऐसा आता है जैसे कोई आदमी चलता न हो, खड़ा हुआ हो। यहां डेड स्टैग्नेंसी नहीं है, मृत ठहराव नहीं है। यहां जीवंत पूर्णता है। तो खिले हुए फूल का स्मरण करना, ठहरे हुए तालाब का नहीं, तब ख्याल में बात आ सकेगी।
दूसरी बात ईशावास्य का यह सूत्र कहता है--इंद्रियां इसे पा न सकेंगी, क्योंकि यह इंद्रियों केपहले है।
स्वभावतः, मैं आंख से आपको देख सकता हूं, मेरी आंख से आपको देख सकता हूं, आप मेरी आंख के आगे हैं। लेकिन मैं मेरी आंख से अपने को नहीं देख सकता, क्योंकि मैं आंख के पीछे हूं। तो आपको देख लेता हूं, क्योंकि आप मेरी आंख के आगे हैं। अपने को नहीं देख पाता अपनी ही आंख से, क्योंकि मैं आंख के पीछे हूं। अगर मेरी आंख चली जाए, मैं अंधा हो जाऊं, तो फिर मैं आपको बिल्कुल न देख पाऊंगा, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि मैं अपने को नहीं देख पाऊंगा। अगर आंख से मैं अंधा हो जाऊं तो उन्हीं चीजों को नहीं देख पाऊंगा, जिनको आंख से देखता था। लेकिन अपने को तो कभी आंख से देखा ही नहीं था। इसलिए अंधा होकर भी मैं अपने को तो देखता ही रहूंगा।
इसमें दो बातें ख्याल में लेने की हैं। इंद्रियां उन चीजों को देखने का, जानने का माध्यम बनती हैं, जो इंद्रियों के सामने हैं। इंद्रियां उन

चीजों को देखने का माध्यम नहीं बनतीं, जो इंद्रियों के पीछे हैं। पीछे के भी दोहरे अर्थ हैं। पीछे का अर्थ सिर्फ पीछे नहीं, पूर्व भी।
एक बच्चे का गर्भ निर्मित होता है, तो जीवन पहले आ जाता है, फिर इंद्रियां आती हैं। ठीक भी है। क्योंकि अगर जीवन पहले न आ गया हो, तो इंद्रियों का निर्माण कौन करेगा? जीवन तो पहले आ जाता है। आत्मा तो पहले प्रवेश कर जाती है गर्भ के अणु में। पूरी आत्मा प्रवेश कर जाती है। फिर एक-एक इंद्रिय विकसित होनी शुरू होती है। फिर शरीर निर्मित होना शुरू होता है। मां के पेट में सात महीने में इंद्रियां धीरे-धीरे खिलती हैं। नौ महीने में इंद्रियां अपना पूरा रूप ले लेती हैं। लेकिन कुछ चीजें तब भी पूरी नहीं होतीं। जैसे सेक्स इंद्रिय तो पूरी नहीं होती। उसको तो पूरा होने में मां के पेट से निकलने के बाद भी चौदह वर्ष लग जाते हैं। मस्तिष्क के बहुत से हिस्से हैं, धीरे-धीरे विकसित होते हैं, पूरे जीवन विकसित होते रहते हैं। मरता हुआ आदमी भी, मरता हुआ आदमी भी बहुत कुछ अभी विकसित कर रहा होता है।
लेकिन जीवन आ गया होता है पहले, इंद्रियां आती हैं पीछे, उपकरण आते हैं बाद में। मालिक आ जाता है पहले, नौकर बुलाए जाते हैं बाद में। स्वभावतः, नौकरों को बुलाएगा कौन? इकट्ठा कौन करेगा? तो वह मालिक नौकरों को तो जान सकता है, लेकिन ये नौकर लौटकर उस मालिक को नहीं जान सकते हैं। वह आत्मा इन इंद्रियों को तो जान सकती है, लेकिन ये इंद्रियां लौटकर उस आत्मा को नहीं जान सकती हैं। क्योंकि उसका होना इन इंद्रियों के पहले है और इतना गहरे में है, जहां इंद्रियों की कोई पहुंच नहीं है।
इंद्रियां ऊपर हैं। वे भी जीवन का आवरण हैं। इसलिए इंद्रियों से आत्मा को कोई जान नहीं सकता, कितनी ही तीव्र हो उनकी दौड़। मन भी इंद्रिय है। मन कितना तेजी से दौड़ता है!
इसलिए एक पैराडाक्स इस वक्तव्य में है और वह यह है कि इतना तेज दौड़ने वाला मन भी उस आत्मा को नहीं पा पाता, जो कि ठहरी ही हुई है। इतना तेज दौड़ने वाला मन भी उसे नहीं उपलब्ध कर पाता, जो कि चलती ही नहीं है। इतना तेजी से चलने वाला मन उसे चूक जाता है। बड़ी अजीब दौड़ है! प्रतियोगिता बहुत हैरानी की है! आत्मा, जो कि ठहरी हुई है, थिर है, इस मन को उसे पा लेना चाहिए। लेकिन अक्सर ऐसा होता है। जीवन में भी ठहरी हुई चीजों को ठहरकर पाया
जा सकता है, दौड़कर नहीं पाया जा सकता। आप रास्ते से चलते हैं। किनारे पर फूल खिले हुए हैं, वे ठहरे हुए हैं। आप जितने धीमे चलते हैं, उतने ही ज्यादा उनको देख पाते हैं। खड़े हो जाते हैं तो पूरा देख पाते हैं। और जब कार से आप नब्बे मील की गति से उनके पास से निकलते हैं, तो कुछ भी पकड़ में नहीं आता। और हवाई जहाज से निकल जाते हैं, तब तो पता ही नहीं चलता है। और कल और बड़े तीव्र गति के साधन हो जाएंगे, तो फूल था भी, इसका भी पता नहीं चलेगा। दस हजार मील प्रति घंटे की रफ्तार से चलने वाला यान रास्ते के किनारे खड़े हुए फूल को चूक जाएगा। गति के कारण ही उसको चूक जाएगा, जो कि खड़ा हुआ था। मन बड़ी तेजी से दौड़ता है। अभी हमारे पास कोई यान नहीं है जो उतनी तेजी
से दौड़ता हो। और भगवान न करे कि किसी दिन ऐसा यान हो जाए, जो हमारे मन की तेजी से दौड़े। नहीं तो मन हमारा पीछे रह जाएगा, हम आगे निकल जाएंगे। बहुत दिक्कत होगी। बहुत कठिनाई हो जाएगी। आदमी बड़ी मुश्किल में पड़ जाएगा। नहीं, ऐसा कभी होगा भी नहीं कि कोई यान हमारे मन से तेजी से दौड़ सके। यान चांद पर पहुंचेगा, तब तक मन मंगल की यात्रा कर रहा होगा। यान जब मंगल पर पहुंचेगा, मन तब तक और दूसरे सौ जगतों में प्रवेश कर जाएगा। मन सदा आगे दौड़ता रहता है सब यानों के। कितनी ही तेज उनकी गति हो।
इतना तेजी से दौड़ने वाला मन उस ठहरी हुई आत्मा को नहीं पा सकेगा, उपनिषद कहते हैं। ठीक कहते हैं। क्योंकि जो बिल्कुल ही ठहरा हुआ हो, उसे दौड़कर नहीं पाया जा सकता, उसे तो ठहरकर ही पाना पड़ेगा। अगर मन बिल्कुल ठहर जाए तो ही उसको जान सकेगा, जो ठहरा हुआ है।
यह भी जान लें आप, जब मन बिल्कुल ठहर जाता है तो होता ही नहीं। मन जब तक दौड़ता है तभी तक होता है। सच तो यह है कि दौड़ का नाम मन है। मन दौड़ता है, यह भाषा की गलती है। जब हम कहते हैं, मन दौड़ता है, तो भाषा की गलती हो रही है। यह गलती वैसे ही हो रही है जैसे हम कहते हैं कि बिजली चमकती है। असल में जो

चमकती है, उसका नाम बिजली है। बिजली चमकती है, ऐसा दो बातें कहने की कोई जरूरत नहीं है। आपने कभी न चमकने वाली बिजली देखी है? तो फिर बेकार है।
असल में जो चमकता है उसका नाम बिजली है। मगर भाषा में दिक्कत होती है। भाषा में हम बिजली को अलग कर लेते हैं और चमकने को अलग कर लेते हैं। फिर हम कहते हैं, देखो, बिजली चमक रही है। कहना चाहिए कि देखो, जो चमक रहा है, इसको हम भाषा में बिजली कहते हैं। चमकना और बिजली एक ही चीज के दो नाम हैं।
ठीक वैसे ही भूल होती है। हम कहते हैं, मन दौड़ता है। असल में, जो दौड़ता है, उसका नाम मन है। दौड़ का नाम मन है। तो ठहरे हुए मन का कोई अर्थ नहीं होता। जैसे कि न चमकने वाली बिजली का कोई मतलब नहीं होता। कोई कहे कि बिजली इस वक्त नहीं चमक रही है, तो आप कहेंगे, है ही नहीं। क्योंकि बिजली नहीं चमक रही है, इसका कोई अर्थ नहीं होता। चमकती है तभी होती है।
मन अगर ठहर जाए, तो नहीं हो जाता है--नो माइंड। ठहरा हुआ मन अ-मन हो जाता है। कबीर ने जिसे अ-मनी अवस्था कहा है। वह ठहर जाता है तो फिर नहीं रह जाता। मन तभी तक है, जब तक दौड़ता है। इसलिए आप मन को कभी भी ठहरा न पाएंगे। ठहर जाएंगे तो पाएंगे मन नहीं है। मन कभी आत्मा को न जान सकेगा। क्योंकि, मैंने कहा, दौड़ से कभी आत्मा जानी न जा सकेगी, और मन दौड़ का ही नाम है। जिस दिन मन नहीं होता, उस दिन आत्मा जानी जाती है। मन से हम सारे जगत को जान लेंगे, सिर्फ एक आत्मतत्व अनजाना रह जाएगा। मन जब नहीं होगा तब हम आत्मतत्व को जान लेंगे।
और मन की दौड़ की अपनी तकनीक, अपनी पूरी टेक्नालाजी है। क्योंकि अकारण
तो नहीं दौड़ा जा सकता, इसलिए मन कारण निर्मित करता है। उन कारणों का नाम वासनाएं, डिजायर्स हैं। मन कहता है, वह चीज पानी है। नहीं तो दौड़ेगा कैसे! अगर आगे भविष्य में कुछ पाने को न हो, कोई मंजिल न हो, तो दौड़ेगा कैसे? इसलिए रोज भविष्य में मन मंजिल तय करता है कि वह रही मंजिल, वहां तक पहुंचना है। तब दौड़ शुरू हो जाती है। इसलिए जिस मंजिल पर मन पहुंच जाता है, वह बेकार हो जाती है। क्योंकि वह तो सिर्फ बहाना था दौड़ का। इसलिए जिस मंजिल को मन पा लेता है, वह मंजिल बेकार हो जाती है, क्योंकि वह तो सिर्फ बहाना था। तब दूसरा बहाना निर्मित करता है कि ठीक है, यह तो पा लिया, अब इसमें कुछ सार नहीं। अब रही मंजिल वह--और आगे।
इसलिए मन सदा भविष्य में जीता है, वह कभी वर्तमान में नहीं हो सकता। जिसे दौड़ना है उसे भविष्य में ही जीना होगा। वह सदा आगे ही होगा। वह वहां नहीं होगा, जहां आप हैं। अगर वहीं होगा तो दौड़ बंद हो जाएगी। और आत्मा वहां है, जहां आप हैं। और मन वहां है, जहां आप कभी नहीं होते--सदा आगे, आलवेज इन दि फ्यूचर। और जहां पहुंच जाता है, वहीं से कह देता है, बेकार है। ठीक है, आगे चलो।
तो मन मील के उस पत्थर की तरह है जिस पर तीर हमेशा आगे बताता रहता है। लेकिन मील के पत्थर पर तो कहीं-कहीं शून्य का पत्थर भी आ जाता है। शून्य के पत्थर पर तीर नहीं होता।
इधर भी कल मैं गुजर रहा था तो एक पत्थर मुझे आबू में मिला, शून्य का पत्थर। वहां कोई तीर नहीं--न इस तरफ, न उस तरफ। हो नहीं सकता, क्योंकि शून्य का मतलब ही होता है मंजिल, उसके आर-पार कुछ नहीं होता। कहीं जाने को नहीं। जहां आप जाना चाहते थे वहां आ गए।
लेकिन मन हमेशा एरोड, तीर बताता रहता है आगे। मन की यात्रा में कभी वह पत्थर नहीं आता है जिस पर शून्य बना हो। और अगर किसी दिन वह पत्थर आ जाए तो उस जगह का नाम ध्यान है। जहां शून्य बना हो, कोई तीर न हो। और अगर कभी वैसा पत्थर आ जाए मन की यात्रा में तो वहीं आत्मा की अनुभूति है। वह शून्य की जगह जहां है। इसलिए जिन्होंने जाना है, उन्होंने कहा है, मन से तो न जान सकोगे, लेकिन शून्य से जान सकते हो। ध्यान रहे, जब भी इस तरह के जानने वाले लोग शून्य कहते हैं, तो उनका मतलब होता है अ-मन, नो-माइंड।
मैंने कहा कि मन बहाने निर्मित करता है--कुछ पाना है। और मन की जो आखिरी तरकीब है, जब संसार की सब चीजें चुक जाती हैं और मन ऊबने लगता है; कहता है, धन भी पाया बहुत, लेकिन कुछ मिला नहीं; मकान बनाए बहुत, कुछ मिला नहीं; शरीर खरीदे बहुत, कुछ मिला नहीं; जब मन सब थक जाता है, तो वह तब भी थकता नहीं, तब भी वह तीर बनाए चला जाता है। तब भी वह यह नहीं कहता कि अब

शून्य बना लो, अब मत बनाओ तीर। तब वह परलोक, स्वर्ग, मोक्ष, परमात्मा, इनके तीर बनाने शुरू कर देता है। वह कहता है, इनको पा लो। अब धन तो नहीं पाया, छोड़ो, अब धर्म पा लें। लेकिन पाएं जरूर! कुछ पाते जरूर रहें! बिकमिंग जारी रहे। कुछ पाने की यात्रा जारी रहे तो मन फिर जारी रहेगा।
ध्यान रहे, धार्मिक आदमी वह नहीं है जो परमात्मा को पाना चाहता है। क्योंकि जब तक कोई कुछ भी पाना चाहता है, तब तक मन जारी रहेगा। धार्मिक आदमी वह है, जो इस सत्य को पहचान गया है कि पाने की दौड़ ही मन है, इसलिए अब हम नहीं पाते। अब हम न पाने को खड़े हो जाते हैं। अब परमात्मा भी हमसे कहे कि दो कदम चलकर आ जाओ, मैं यहां हूं, तो अब हम जाते नहीं। अब हम शून्य के पत्थर पर खड़े हो गए। अब हमारी कोई यात्रा नहीं।
और बड़े मजे की बात है कि जो खड़ा हो जाता है उसको परमात्मा मिल जाता है। क्योंकि वह खड़ा हुआ है। जो परमात्मा को पाने के लिए भी दौड़ता है, उसको भी परमात्मा नहीं मिलता है। क्योंकि दौड़ मन की है, मन से कोई आत्मतत्व उपलब्ध नहीं होने वाला है।
मन दौड़ता है वासनाएं निर्मित करके। धार्मिक वासनाएं भी निर्मित हो जाती हैं। मोक्ष की भी वासना बन जाती है। इसलिए बुद्ध जैसे समझदार व्यक्ति को कहना पड़ता है, कोई मोक्ष नहीं है। इसलिए नहीं कि मोक्ष नहीं है। बुद्ध जैसे व्यक्ति को कहना पड़ता है, कोई परमात्मा नहीं है। इसलिए नहीं कि परमात्मा नहीं है। बल्कि इसलिए कि तुम्हारे मन के लिए अब और बहाने आगे न मिलें। संसार से तो तुम ऊब जाओगे, फिर तुम ये नए बहाने बना लोगे कि छोड़ दूं, कोई नहीं है। बुद्ध तो इतना दूर तक जाते हैं, वे कहते हैं, कोई आत्मा भी नहीं है। नहीं तो तुम आत्मा को ही पाने में लग जाओगे। मन इतना कुशल है कि वह कहेगा, चलो, कुछ नहीं तो आत्मा तो है, तो आत्मा को ही पा लें। लेकिन पाएं जरूर, दौड़ें जरूर। नहीं दौड़ें घर की तरफ तो मंदिर की तरफ दौड़ें, लेकिन दौड़ें जरूर। नहीं पदार्थ की तरफ तो प्रभु की तरफ, लेकिन दौड़ें जरूर। लेकिन पहुंचते हैं वे जो खड़े हो जाते हैं, इस सूत्र में यही कहा है। इंद्रियों के पीछे है वह, मन के पार है वह। इंद्रियों और मन से उसे नहीं पा सकेंगे।
तो क्या करेंगे? अगर इंद्रियों के पार है तो इंद्रियों का भरोसा छोड़ दें उसे पाने में। अगर मन के पार है तो मन की दौड़ के आधार तोड़ दें उसे पाने के। मन की दौड़ के आधार तोड़ दें, इंद्रियों का भरोसा छोड़ दें।
वही मैं आपसे कह रहा हूं। अगर आपसे कहता हूं, आंख बंद कर लें, तो असल में एक भरोसा तोड़ने को कह रहा हूं। कह रहा हूं कि आंख से बहुत देखा, वह दिखाई नहीं पड़ा। जन्म-जन्म देखा, वह दिखाई नहीं पड़ा। अब आंख बंद करके देखें। कानों से बहुत सुनना चाही उसकी आवाज, वह सुनाई नहीं पड़ी। बहुत सुनना चाहा उसका संगीत, नहीं, कान उसे नहीं पकड़ पाया। अब कान बंद कर लें। सोचा-विचारा बहुत, उसका कोई सूत्र हाथ न लगा। बहुत मन को थका डाला, बहुत चिंतना की, बहुत विचारणा की; बहुत दर्शन, बहुत धर्म, बहुत शास्त्र खोजे; बहुत शब्द, बहुत सिद्धांत निर्मित किए; नहीं, उसकी कोई खोज-खबर न मिली। अब छोड़ दें। अब सोचना छोड़ दें। अब जरा अन-सोचे में चले जाएं, नो-थिंकिंग में चले जाएं। वहां शायद वह मिल जाए।
शायद कहता हूं आपके लिए। मिल ही जाता है वहां। मिल ही जाता है वहां। लेकिन आपके लिए शायद कहता हूं। क्योंकि जब तक नहीं मिला है, तब तक भरोसा कर लेना पक्का कि मिल ही जाएगा भी खतरनाक है। क्योंकि कई बार ऐसे भरोसे रुकावट का कारण बन जाते हैं। वे कहते हैं, बस ठीक है, मिल ही जाएगा, मिल ही जाता है। जाने की भी, उस दिशा में आंख उठाने की भी, दूसरी दिशा से मुड़ने की भी स्मृति नहीं रह जाती। सिद्धांत ही सिद्धि बन जाते हैं। इसलिए कहता हूं--शायद। प्रयोग कर सकें, इसलिए कहता हूं--परहेप्स। प्रयोगात्मक हो सकें, इसलिए कहता हूं--शायद। मिल ही जाता है, लेकिन प्रयोग के बाद। इंद्रियों को, इंद्रियों के सहारे को छोड़ देना पड़ता है। मन को, मन की दौड़ को, गति को छोड़ देना पड़ता है। ऐसा जो आत्मतत्व है, जो सदा उपलब्ध हमारे पास, लेकिन जिसे हम ही बड़ी व्यवस्था से चूकते चले जाते हैं। जिसे हमने कभी नहीं खोया, सिर्फ विस्मरण करते हैं। लेकिन उसके विस्मरण में सारा जीवन अंधकार हो जाता है। और उसके विस्मरण में सारा जीवन नरक हो जाता है। और

उसके विस्मरण में जीवन में सिवाय कांटों के कोई फूल नहीं खिलता। और उसके विस्मरण में जीवन एक रेगिस्तान हो जाता है, जहां कोई सरिता नहीं बहती, कोई रस की धारा नहीं बहती। सब सूख जाता है।
ऐसा ही हमारा जीवन है, रेगिस्तान की तरह। कितना ही खोदते हैं, रेत ही हाथ आती है, कहीं कोई जलस्रोत नहीं दिखाई पड़ते। कितना ही चलते हैं, कहीं कोई छाया नहीं मिलती, कहीं कोई विश्राम दिखाई नहीं पड़ता, कहीं कोई विराम नहीं मालूम पड़ता।
उस आत्मतत्व की छाया को पाए बिना कोई विश्राम नहीं है। और उस आत्मतत्व को पाए बिना जीवन में कोई ओएसिस, कोई मरूद्यान नहीं है। और उस आत्मतत्व को पाए बिना जीवन में कभी कोई रस की धारा नहीं बही, न बहेगी। वही है सब।
लेकिन पत्तों से जो अटक गए, वे जड़ों तक नहीं पहुंच पाते। माना कि पत्ते जड़ों से ही आते हैं, फिर भी पत्तों से जो अटक गए, वे जड़ों तक नहीं पहुंच पाते। पत्तों को छोड़ें, नीचे गहरे उतरें--भीतर जाएं, पार, ट्रांसेन्डेंटल, भावातीत, इंद्रियातीत, विचारातीत--पीछे और पीछे सरकते जाएं। उस जगह पहुंच जाना है जहां शून्य का पत्थर आ जाता है। वह सबके भीतर है। उस शून्य को हम सब लेकर घूम रहे हैं। नहीं तो घूम न पाते। जैसा मैंने कहा, अगर वह शून्य भीतर न हो, वह थिर पूर्ण भीतर न हो, तो यह सारी परिवर्तन की धारा, यह इतना बड़ा चक्रजाल चल नहीं सकता। यह जो हम अंधड़ की तरह, आंधी की तरह दौड़ रहे हैं, यह जो बवंडर की तरह घूम रहे हैं, यह सब उस शून्य के ऊपर। आखिरी बात इस संबंध में और कह दूं। शून्य और पूर्ण एक ही बात को कहने
के दो ढंग हैं। उपनिषद पूर्ण की भाषा पसंद करते हैं। उपनिषद जब पैदा हुए, जब ये उपनिषद के सूत्र कहे गए, तब आदमी पूर्ण की भाषा समझने में समर्थ था। पूर्ण की भाषा का अर्थ है, पाजिटिव लैंग्वेज। शून्य की भाषा का अर्थ है, निगेटिव लैंग्वेज। पूर्ण की भाषा समझने के लिए बच्चों जैसा हृदय चाहिए। पूर्ण की भाषा बूढ़े नहीं समझ पाते। और आदमी रोज बचपन के बाहर होता चला गया है, प्रौढ़ होता गया है। जिन दिनों इस सूत्र का जन्म हुआ होगा, उस दिन आदमी बच्चों की तरह थे, पूर्ण की भाषा समझते थे।
कभी आपने बच्चों को अध्ययन किया हो, छोटे बच्चों को, तो आपको ख्याल होगा। एक बच्चा रास्ते में चलते बड़ी जिज्ञासाएं उठाता है। सभी बच्चे उठाते हैं। बड़े कठिन सवाल उठाते हैं। लेकिन आप सरल सा जवाब दे देते हैं और वे प्रसन्न होकर शांत हो जाते हैं। सवाल बड़े कठिन उठाते हैं, जिनके जवाब बूढ़ों के पास भी नहीं हैं। छोटा सा बच्चा पूछता है, नया बच्चा घर में आ गया है, वह पूछता है, कहां से आ गया है? कठिन सवाल है। अभी बूढ़ों के पास भी ठीक-ठीक जवाब नहीं है। जो ये कहते हैं, जन्मशास्त्री जो हैं, उनके पास भी ठीक-ठीक जवाब नहीं है। वे भी कहते हैं, अभी हम टटोलते हैं। कहां से आता है, अभी ठीक पक्का पता नहीं है। जहां तक हम पहुंचते हैं वहां तक हम कहते हैं, लेकिन वहां से भी पार से आता है जीवन, अभी कुछ पक्का नहीं है।
तो जो जिंदगीभर लगाए हैं इसी खोज में कि बच्चा कहां से आता है, उनको भी पता नहीं है। जो बच्चे पैदा करते हैं, उनको तो बिल्कुल ही पता नहीं है, क्योंकि पैदा करने के लिए पता होने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन भ्रम पैदा हो जाता है कि बाप, सात बच्चों का बाप है, तो उसको तो मालूम होना ही चाहिए कि बच्चा कहां से आता है। उस भ्रम में वह भी जीता है। तो जवाब तो वह देगा। लेकिन कभी छोटे बच्चे की वृत्ति को देखें। वह इतना कठिन सवाल पूछता है कि बच्चे कहां से आते हैं? जिसका अभी विज्ञान के पास उत्तर नहीं है। और मेरे देखे कभी भी नहीं हो सकेगा। लेकिन आप कह देते हैं कि कौवा देखा है? वह ले आता है। ले आता होगा। बच्चा खेलने जा चुका। बात खतम हो गयी। भरोसा कर लिया उसने।
अभी पाजिटिव माइंड है, अभी विधायक मन है। अभी अस्वीकार की बात नहीं उठती। अभी संदेह नहीं जागता। अभी वह यह नहीं कहता कि कौवा कैसे ला सकता है! कहां से लाएगा? अभी वह यह नहीं पूछता। कल पूछेगा। एक वक्त आएगा, तब यह कौवे वाला उत्तर काम नहीं करेगा। तब वह सवाल उठाने शुरू करेगा। तब निगेटिव माइंड पैदा होगा।

एक युग था कि सारी दुनिया, सारी पृथ्वी, सारी मनुष्य जाति बच्चों की तरह थी--इनोसेंट, सरल, जो बात कही जाती थी वह मान ली जाती थी। इसलिए जितने पुराने ग्रंथ में जाएंगे, उतनी ही हैरानी होगी। हैरानी होगी कि न कोई तर्क है, न कोई युक्ति है, सीधा वक्तव्य है, प्योर स्टेटमेंट।
ऋषि के पास कोई जाता है, वह पूछता है कि मन अशांत है, मैं क्या करूं? वह कहता है कि तू राम का नाम ले। वह आदमी कहता है, ठीक है। वह चला जाता है। वह यह भी नहीं पूछता कि कैसे होगा? राम के नाम से क्या होगा? कुछ नहीं पूछता। ध्यान रहे, राम के नाम से कुछ नहीं होता। उसके इस चित्त की अवस्था में अगर उस ऋषि ने कहा होता कि तू पत्थर-पत्थर कह, तो उससे भी हो जाता। पत्थर से नहीं हो जाता, न राम के नाम से हो जाता, यह चित्त की जो पाजिटिव स्थिति है, यह जो स्वीकार का सरल भाव है, यह जो इनकार उठता ही नहीं है, यह जो संदेह जन्मता ही नहीं है, इससे हो जाता है। इसलिए वह कह देता है कि जा तू राम का नाम ले लेना, सब ठीक हो जाएगा। वह घर जाकर राम का नाम ले लेता है और सब ठीक हो जाता है।
ध्यान रखना लेकिन, मैं आपसे कह रहा हूं कि राम के नाम से नहीं हो जाता है। वह हो जाता है उस चित्त की पाजिटिव स्टेट, वह विधायक मनोदशा! इस ऋषि ने कह दिया होता कि यह ताबीज ले जा। राख उठाकर दे दी होती और कह दिया होता कि जा इसको पी जाना। वह पी जाता और उससे भी हो जाता। किसी भी चीज से हो जाता। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। सवाल है, पीछे विधायक मनोदशा है? तो हो जाएगा।
लेकिन नहीं रही है विधायक मनोदशा। महावीर और बुद्ध के समय आते-आते विधायक दशा समाप्त हो गई थी। इसलिए महावीर और बुद्ध दोनों को निषेध की भाषा का उपयोग करना पड़ा। महावीर ने थोड़ी सी निषेध का उपयोग किया, कहा कि कोई परमात्मा नहीं है। इसलिए नहीं कि परमात्मा नहीं था। इसलिए कि अब वह आदमी नहीं था कि जिससे कह दो परमात्मा है, और जो नाचने लगे। जो यह न पूछे कि कहां? जिससे कह दो कि परमात्मा है, और जो नाचने लगे उसकी धुन में और कहे कि है। फिर हो जाएगा, फिर खुल जाएगा दरवाजा। इतने सरल मन के लिए कोई दरवाजा नहीं रुक सकता।
लेकिन अब वह आदमी नहीं था महावीर के सामने जिससे कहो कि परमात्मा है
और वह नाचने लगे। किसी से कहो, परमात्मा है, तो वह दस सवाल लेकर आने लगा था। तो महावीर ने कहा, परमात्मा नहीं है। जो परमात्मा सवाल उठाने लगे-- परमात्मा तो उत्तर है, सवाल उठाने लगे--तो बेकार हो गया। वह तो आन्सर था। अगर उससे सवाल उठने लगें तो उसका कोई मतलब नहीं रहा। वह तो उत्तर था पुराने ऋषि का। कोई आता था कि क्या है? वह कहता था, परमात्मा है। वह चला जाता था। वह उत्तर था। महावीर के वक्त लोग पूछने लगे, कैसा ईश्वर? कहां है, कितने उसके सिर हैं, कितने उसके हाथ हैं? कैसे पैदा हुआ, कहां से आया, कहां मिलेगा? क्या पक्का है, क्या भरोसा है? तो महावीर ने कहा, वह है ही नहीं। वह उत्तर बेकार हो गया।
जिस उत्तर से प्रश्न उठने लगें वह उत्तर बेकार है। उत्तर का तो मतलब है, जिसमें प्रश्न समाहित हो जाएं। जिस पर जाकर प्रश्न गिर जाएं। परमात्मा परम उत्तर था। तो महावीर को छोड़ देना पड़ा।
बुद्ध को एक कदम और आगे बढ़ना पड़ा। महावीर ने आत्मा से काम चला लिया। लेकिन कितनी तीव्रता से अंतर हुआ! महावीर और बुद्ध की उम्र में ज्यादा फासला नहीं था, केवल तीस साल का फासला था। लेकिन बुद्ध को कहना पड़ा, आत्मा भी नहीं है। महावीर ने कहा, कोई परमात्मा नहीं है, आत्मा है। बुद्ध को कहना पड़ा, आत्मा भी नहीं है। क्योंकि बुद्ध के वक्त लोग पूछने लगे, आत्मा यानी क्या? वह भी उत्तर न रहा। बुद्ध ने कहा, शून्य है।
ध्यान रहे, शून्य के संबंध में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। क्योंकि शून्य का मतलब ही होता है, जो नहीं है। अब उसके बाबत प्रश्न क्या उठाइएगा! शून्य के संबंध में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता, अन-क्वेश्चनेबल है। अगर उठाते हैं आप प्रश्न, तो आप समझे नहीं। शून्य का मतलब ही है, जो नहीं है। अब आप और क्या सवाल उठा रहे हैं? हम खुद ही कह रहे हैं कि नहीं है। बुद्ध ने कहा, शून्य। तुम इस शून्य में ही लीन हो जाओ। भाषा बदल गयी। लेकिन मैं आपसे

कहता हूं, शून्य और पूर्ण एक ही चीज है। पूर्ण विधायक चित्त का उत्तर है, शून्य निषेध चित्त का उत्तर है।
और यह भी बड़े मजे की बात है कि इस हमारे जगत में शून्य के अतिरिक्त और हमें किसी पूर्ण का अनुभव नहीं है। इसलिए शून्य का जो प्रतीक हमने बनाया है, सर्किल, वर्तुल, वह मनुष्य के द्वारा खींची गई पूर्णतम आकृति है। वर्तुल जो है, सर्किल जो है, वह मनुष्य के द्वारा खींची गई पूर्णतम आकृति है। और कोई आकृति पूर्ण नहीं है। और यह भी मजे की बात है कि शून्य की आकृति सबसे पहले भारत में खींची गयी। गणित के कारण नहीं, वेदांत के कारण। गणित के कारण नहीं। शून्य की पहली आकृति भारत में खींची गई। नौ तक की संख्या भारत में निर्मित हुई।
लेकिन यह बड़े मजे की बात है कि एक, दो, तीन या नौ सभी अपूर्ण हैं। उनमें
से कुछ जोड़ा जा सकता है। एक में और एक जोड़ा जा सकता है। जिसमें कुछ जोड़ा जा सकता है, वह पूर्ण नहीं है। क्योंकि जोड़ने से वह ज्यादा हो जाता है। उनमें से कुछ घटाया जा सकता है। क्योंकि जिसमें से कुछ घटाया जा सकता है और पीछे घट जाता है, वह पूर्ण नहीं है। शून्य में आप न कुछ जोड़ सकते, न कुछ घटा सकते, वह पूर्ण है। शून्य में से आप कुछ घटा नहीं सकते। कैसे घटाइएगा? वहां कुछ है ही नहीं जिसमें से आप घटा लें। शून्य में आप कुछ जोड़ नहीं सकते। कैसे जोड़िएगा?
शून्य पूर्ण की प्रतिकृति है। ज्यामेट्रिकल, वह ज्यामिति में पूर्ण
का प्रतिरूप है। यह जो शून्य पूर्ण का प्रतिरूप है, इसे हम अपने भीतर लिए चलते हैं। अगर आपको पूर्ण से समझ में आता हो, तो ठीक। अगर पूर्ण से समझ में न आता हो, तो शून्य से समझ लें। अंतिम परिणाम में कोई अंतर न पड़ेगा। आपकी मनोदशा के लिए दो यात्राएं हो जाती हैं। अगर आपको लगता है कि पूर्ण से मेरी समझ में आएगा, अगर आपकी चित्तदशा विधायक है, तो नाचें, गाएं, आनंद में मग्न हो जाएं। अगर आपको लगता है कि मेरी विधायक दशा नहीं है चित्त की, सवाल उठते हैं, तो शांत हों, शून्य हों, मौन हों, शून्य में खो जाएं। अगर आपको लगता है, निषेध का मन है, निगेट का मन है, तो शून्य में खो जाएं। अंतिम फलश्रुति एक ही हो जाएगी। शून्य से भी नृत्य आ जाएगा। लेकिन वह शून्य होने से आएगा। नृत्य से भी शून्य आ जाएगा, लेकिन वह नृत्य से आएगा।
पूर्ण की जिसकी भावदशा है, वह नाचेगा पहले, गाएगा पहले, कीर्तन करेगा, शून्य हो जाएगा। नाचते-नाचते उसके नृत्य की ध्वनि के बीच में जब नृत्य तीव्र होगा, गतिमान होगा, नृत्य ही बचेगा, जब नृत्य एक बवंडर बन जाएगा, तभी उसे भीतर के शून्य का अनुभव होने लगेगा। पीछे कोई खड़ा हुआ मालूम होने लगेगा। शरीर नाचता रहेगा, भीतर शून्य आत्मा खड़ी हुई रहेगी। कील दिखाई पड़ने लगेगी घूमते हुए चक्र के साथ। और ध्यान रहे, चाक अगर खड़ा हो तो कील को पहचानना मुश्किल पड़ेगा। क्योंकि दोनों ही खड़े होंगे। चाक अगर खड़ा हो तो कौन कील है, कौन चाक है, पहचानना मुश्किल होगा। चाक चल पड़े तो कील को पहचानना आसान पड़ जाएगा, क्योंकि वह नहीं चलेगी और चाक चलेगा।
पूर्ण के भाव में आनंदमग्न होकर कोई चैतन्य, कोई मीरा नाचती है। नाचते-नाचते चाक पूरा घूमने लगता है, भीतर की कील खड़ी अलग मालूम पड़ने लगती है। शून्य हो गया।
कोई शून्य हो जाए, शून्य से शुरू करे, तो फिर भीतर शून्य होता चला जाए।
जब भीतर सब शून्य हो जाता है तब बाहर का चाक दिखाई पड़ने लगता है जो चल रहा है--विचार चल रहे हैं, संसार चल रहा है।
कहीं से भी यात्रा हो सकती है। दो ही यात्रा के छोर हैं। इस आत्मतत्व
को या तो पूर्ण होकर या शून्य होकर जाना जा सकता है। न तो इंद्रियां पूर्ण तक ले जा सकती हैं, न शून्य तक ले जा सकती हैं। न मन पूर्ण तक ले जा सकता है, न मन शून्य तक ले जा सकता है।
एक सूत्र और ले लें।
तदेजति तनैजति तद्दूरे तद्वंतिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।। 5।।

वह आत्मतत्व चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और समीप भी है। वह सब
के अंतर्गत है और वही इस सब के बाहर भी है।। 5।।

नहीं चलता वह आत्मतत्व, फिर भी वही चलता है। निकट है वह आत्मतत्व, निकट से भी निकटतम, फिर भी दूर है। भीतर है वह आत्मतत्व, अंतरात्मा है वह, फिर भी वही बाहर विस्तीर्ण है।
यह सूत्र, मनुष्य के इतिहास में जो भी महावचन कहे गए हैं, उनमें से एक है। बहुत सरल और बहुत गहन। जीवन के जितने भी सरल सत्य हैं, उनसे ज्यादा गहन कोई सत्य नहीं होता। और जो बहुत साफ-साफ मालूम पड़ता है, वही रहस्य है। और उस रहस्य को प्रगट करने के लिए सदा ही पैराडाक्सिकल, विरोधाभासी शब्दों का उपयोग करना पड़ता है। अब अगर कोई तर्कशास्त्री इसको पढ़े तो कहेगा कि एकदम गलत।
आर्थर कोएसलर ने, जो कि पश्चिम के आज के एक बड़े विचारक हैं, उन्होंने पूरब की इस तरह की दृष्टियों की बड़ी मखौल उड़ाई है, बड़ी मजाक उड़ाई है। एब्सर्ड हैं। इससे ज्यादा और अर्थहीन वक्तव्य क्या होगा कि वह आत्मतत्व पास से भी पास और दूर से भी दूर है! दिमाग ठीक है आपका? क्योंकि जो पास है वह पास ही हो सकता है, वह दूर कैसे होगा? वह आत्मतत्व ठहरा हुआ और चलता हुआ भी! तो ऐसी बातें मत कहिए, क्योंकि ऐसी बातें अर्थहीन हैं, इनमें कुछ भी तो अर्थ नहीं है। वही भीतर, वही बाहर भी फैला हुआ है! तो फिर बाहर और भीतर में फर्क क्या है? अगर वह भीतर है तो बाहर कैसे हो सकेगा? और अगर बाहर है तो भीतर कैसे हो सकेगा? दूर है तो कृपा करके कहिए कि दूर है, फिर पास मत कहिए। और अगर पास कहते हैं तो कृपा करके दूर कहना छोड़ दीजिए।
कोएसलर कहेगा और आपका मन भी राजी होगा कोएसलर से, अगर ईमानदार हैं तो बराबर राजी होगा। कोएसलर ईमानदार आदमियों में से एक है। और मैं मानता हूं कि ईमानदार होना बेहतर है, उससे रास्ते खुल सकते हैं। कोएसलर कहता है कि मेरे लिए इस तरह के वक्तव्य इल्लाजिकल, पागलखानों में निकले हुए वक्तव्य हैं। कोई पागल इस तरह की बात कहे तो माफ किया जा सकता है। ऊपर से तो हमें भी लगेगा।
लेकिन कोएसलर को पता नहीं है कि इधर दस वर्षों में विज्ञान भी इसी हालत में पहुंच गया है। और इसी तरह के वक्तव्य देने लगा है। आइंस्टीन भी इस तरह के वक्तव्य देता है। छोड़ें, ऋषि पागल हो सकते हैं। ऋषियों का दावा भी नहीं है कि वे पागल नहीं हैं। क्योंकि इस जगत में, पागल नहीं हैं, ऐसे दावे सिवाय पागलों के और कोई नहीं करता है। ऋषि इतने बुद्धिमान हैं कि पागल होने के लिए भी राजी हो सकते हैं। जो परम बुद्धि को उपलब्ध होते हैं वे परम अज्ञानी होने के लिए तैयारी दिखा पाते हैं।
कल मैं किसी से कह रहा था कि टु क्लेम विजडम इज दि ओनली स्टुपिडिटी-- बुद्धिमत्ता का दावा करना एकमात्र मूढ़ता है। मूढ़ों के अतिरिक्त बुद्धिमान होने का दावा किसी ने किया नहीं। बुद्धिमान तो, जितने बुद्धिमान हुए हैं, उन्होंने कहा, हम महामूढ़ हैं। हमें कुछ भी पता नहीं। इतना ही पता है कि कुछ भी पता नहीं है। जितना जाना, उतना ही पता चला कि अज्ञान गहन है। जितना जाना, उतना ही जानने के सब द्वार-दीवार गिर गए। लेकिन आइंस्टीन को तो कोएसलर भी नहीं कह सकता कि पागल है। लेकिन अभी पिछले दस वर्षों में ऐसी कठिनाई आ गयी जैसी कठिनाई उपनिषद को आ गई थी। जब भी कोई विचार, कोई खोज परम रहस्य को छुएगी, तभी यह उपद्रव आ जाएगा। जब उपनिषद का ऋषि इस परम रहस्य पर पहुंच गया, आखिरी आत्मतत्व पर, तब उसको पैराडाक्सिकल लैंग्वेज, विरोधी भाषा का उपयोग करना पड़ा। एक ही साथ कहा कि दूर है और पास भी। और बड़ी जल्दी से कहा कि कहीं ऐसा न हो कि आप समझ जाएं कि दूर है। कहा कि पास है और तत्काल शीघ्रता से कहा कि दूर भी, कहीं ऐसा न हो कि आप समझ जाएं कि पास है। जो कहा उसको दूसरे वक्तव्य में फौरन खंडित किया। अभी विज्ञान भी परम तत्व के बहुत निकट घूमने लगा है। पदार्थ के मामले में वह भी परम के पास पहुंच गया है। और कठिनाई आ गई।
जब पहली दफा इलेक्ट्रान का आविष्कार हुआ तो वैज्ञानिक कठिनाई में पड़ गए। कोई शब्द न मिला, किससे उसे कहें। आदमी के पास सब शब्द हैं, पर इलेक्ट्रान को क्या कहें? एक बड़ी कठिनाई खड़ी हो गई कि उसको कण कहें कि तरंग? कण और तरंग निश्चित ही अलग-अलग और विपरीत चीजें हैं। कण तरंग नहीं हो सकता है। कण का मतलब ही हुआ, जो ठहरा हुआ है। और तरंग का मतलब है, जो

गतिमान है, वेव। अगर तरंग ठहर जाए तो तरंग नहीं है। तरंग का मतलब ही है जो तर रही है, तैर रही है, बही जा रही है, हुई जा रही है, बनी जा रही है, मिटी जा रही है--प्रोसेस। तरंग है एक प्रोसेस, एक प्रक्रिया। और कण? कण है एक स्थिति। प्रोसेस नहीं, स्टेट।
इलेक्ट्रान को क्या कहा जाए, यह मुश्किल खड़ी हो गई कि वह कण है कि तरंग। क्योंकि वह दोनों तरह का व्यवहार करता है एक साथ। दो वैज्ञानिक उसका अध्ययन कर रहे हैं। और एक वैज्ञानिक कहता है कि मुझे तरंग मालूम पड़ती है, एक वैज्ञानिक कहता है, मुझे कण मालूम होता है। एक साथ। एक साथ एक वैज्ञानिक कहता है, क्षणभर को कण मालूम होता है, क्षणभर को तरंग मालूम होता है। दोनों हैं, एक साथ। तो बहुत कठिनाई हो गई। ऐसा कोई शब्द दुनिया की किसी भाषा में न था कि उसे क्या कहें। कण भी, तरंग भी। तो एक नया शब्द क्वांटा उनको खोजना पड़ा। क्वांटा का मतलब होता है, बोथ, दोनों; तरंग भी, कण भी।
पागल हैं--कोएसलर को कहना चाहिए--ये सब आइंस्टीन और प्लांक, ये सब पागल हैं। आइंस्टीन से किसी ने पूछा कि आप क्या कह रहे हैं! यह कैसे हो सकता है कि कण और तरंग दोनों? आइंस्टीन ने कहा, हो सकता है कि नहीं हो सकता है, यह निर्णय मैं कैसे करूं? ऐसा है। हो सकता है कि नहीं हो सकता है, यह मैं कौन कहने वाला? इतना ही मैं खबर देता हूं कि ऐसा है। उस पूछने वाले आदमी ने कहा, यह तो हमारे सारे तर्क के नियमों को तोड़ देता है। यह तो अरस्तू का जो सारा तर्क है, वह सब खंडित होता है। तो आइंस्टीन ने कहा, मैं क्या करूं? अगर तथ्य के सामने तर्क टूटता हो तो तर्क को ही टूटना पड़ेगा। तथ्य टूटने को राजी नहीं है। आप अपने तर्क को बदल लें। तथ्य तो यही है। अरस्तू गलत हों, इलेक्ट्रान अरस्तू को सही करने के लिए कण होने को राजी नहीं है। अरस्तू को सही करने के लिए इलेक्ट्रान सिर्फ तरंग होने को राजी नहीं है, वह दोनों है। वह अरस्तू की उसे फिक्र ही नहीं है।
अरस्तू का तर्क कहता है कि विपरीत चीजें एक साथ नहीं हो सकती हैं। ठीक कहता है। एक आदमी जिंदा और मरा हुआ एक साथ कैसे हो सकता है? लेकिन जो गहरे रहस्य को जानते हैं, वे कहते हैं, जिंदगी और मौत एक ही आदमी के दो पैर हैं, बाएं और दाएं। एक ही साथ आदमी जिंदा है और मर रहा है। आप जब जिंदा हैं तब मर भी रहे हैं। नहीं तो एक दिन मर नहीं पाएंगे। मरना कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि सत्तर साल में एक क्षण आया और आप मर गए। जिस दिन आप जन्मे उसी दिन से मर रहे हैं। इधर जिंदगी चल रही है, इधर मौत भी चल रही है। सत्तर साल में मुकाम आ जाता है।
यह बड़े मजे की बात है, मरा हुआ आदमी मर सकता है? नहीं मर सकता। जिंदा आदमी चाहिए मरने के लिए। मेरा मतलब समझे आप! यानी मरने के लिए जिंदा होना बिल्कुल जरूरी है, अनिवार्य है। यह शर्त ढीली नहीं की जा सकती। ऐसा नहीं हो सकता कि एक आदमी को हम कहें कि कोई हर्जा नहीं, तुम अगर जिंदा नहीं हो तो भी मर सकते हो। नहीं मर सकते।
अब यह तो बड़ी उलटी बात हो गयी। मरने के लिए जिंदा होना अनिवार्य शर्त है। तो फिर जिंदा होने के लिए मरना अनिवार्य शर्त है। जो आदमी इसी वक्त मर नहीं रहा है, वह जिंदा भी नहीं है। मरना और जिंदगी एक ही प्रक्रिया के नाम हैं। एक साथ हम मर भी रहे हैं और हो भी रहे हैं। हम मिट भी रहे हैं और बन भी रहे हैं।
अरस्तू कहता है, अंधेरा अंधेरा है, प्रकाश प्रकाश है। अंधेरा और प्रकाश कभी एक नहीं हो सकते। साधारणतः ठीक दिखाई पड़ता है। लेकिन कोई अंधेरा ऐसा नहीं है, जहां प्रकाश नहीं है। और कोई प्रकाश ऐसा नहीं है, जहां अंधेरा नहीं है। और विज्ञान तो कहता है कि अंधेरा कम प्रकाश का नाम है। और प्रकाश कम अंधेरे का नाम है। इससे ज्यादा फर्क हम नहीं कर सकते। डिग्रीज का अंतर है। अंधेरा और प्रकाश दो चीजें नहीं हैं। एक ही चीज के डिग्रीज के फासले हैं। जैसे कि गर्मी और सर्दी दो चीजें नहीं हैं।
कभी ऐसा करें, तो यह उपनिषद का सूत्र बड़ी अच्छी तरह समझ में आ जाएगा।
एक हाथ को स्टोव पर रखकर थोड़ा गरम कर लें और एक हाथ को बर्फ पर रखकर थोड़ा ठंडा कर लें। और फिर दोनों हाथ को एक बाल्टी में, पानी भरा हो, उसमें डाल दें। और फिर पूछें कि पानी ठंडा है या गरम? तो एक हाथ खबर देगा कि ठंडा है

और एक हाथ खबर देगा कि गरम है। तब आपको कहना पड़ेगा, ठंडा भी है, और कहीं भूल न हो जाए, फौरन कहना पड़ेगा, गरम भी है। विपरीत वक्तव्य देने पड़ेंगे। एब्सर्ड हो जाएंगे। कोएसलर ठीक कहता है। लेकिन अब क्या किया जा सकता है! पानी ठंडा और गरम नहीं होता। आपके हाथ और पानी के बीच जो संबंध निर्मित होता है उससे डिग्री का पता चलता है और कुछ पता नहीं चलता।
यह उपनिषद कहता है, आत्मा निकट भी है और दूर भी। निकट तो इसलिए कहता है
कि पत्ते कितने ही दूर हों, जड़ के सदा निकट हैं। जड़ से जुड़े हैं, नहीं तो पत्ते हो नहीं सकते। रस तो जड़ से ही आता है। अगर हम ठीक से समझें तो पत्ता जड़ का ही फैला हुआ हाथ है--अगर ठीक से समझें--एक्सटेंशन है, जड़ ही फैलकर पत्ता बन गई है। कहीं भी तो बीच में डिसकंटीन्यूटी नहीं है, कहीं भी तो बीच में कोई व्यवधान नहीं पड़ा है। कहीं तो ऐसी जगह नहीं है, जहां आप कह दें, जड़ खतम हुई और पत्ता शुरू हुआ। बीच में कोई गैप नहीं है। जुड़ा है सब। इधर जड़ है, उस कोने पर पत्ता है, इस कोने पर जड़ है। आपके पैर की अंगुली और आपके सिर के बाल कहीं भी तो टूटे हुए नहीं हैं। जुड़े हैं, एक हैं। एक ही चीज के दो छोर हैं।
तो जड़ निकटतम है पत्ते के। उसी से तो सारा जीवन मिलता है, सारा रस मिलता है, दूर हो कैसे सकते हैं? फिर भी दूर हैं। बहुत दूर हैं। और पत्ते को अगर जड़ को जानना हो तो बड़ी लंबी यात्रा करनी पड़ेगी।
दूर क्यों है? दूर इसलिए कि पत्ते को पता ही नहीं चलता कि जड़ है भी। सूरज भी पत्ते को पास मालूम पड़ता होगा। बहुत दूर है सूरज, दस करोड़ मील का फासला है। लेकिन पत्ते को सूरज भी पास मालूम पड़ता होगा। और जब सुबह सूरज निकलता है, तो पत्ता नाच उठता है। सूरज का रोज पता चलता है, जो दस करोड़ मील दूर है; और जड़ का कभी पता नहीं चलता, जो नीचे छिपी है, उसका ही हिस्सा है। सूरज पास है बहुत, जड़ बहुत दूर है। तत्काल कहना पड़ेगा, लेकिन नहीं, पास है बहुत।
आत्मतत्व पास है बहुत, क्योंकि उसके बिना हम हो नहीं सकते। और दूर भी
है बहुत, क्योंकि कितने जन्मों से हम उसे खोज रहे हैं, उसका हमें कोई पता नहीं है। इसलिए, इसलिए कहते हैं, नहीं चलता, बिल्कुल नहीं चलता, फिर भी सारा चलना उस पर ही खड़ा है, इसलिए चलता है। कील चलती नहीं, चाक चलता है, फिर भी यात्रा तो कील की भी हो जाती है। कील नहीं चलती, चाक चलता है। निकल पड़े आप गाड़ी पर बैठकर यात्रा करने। कील बिल्कुल नहीं चलेगी, इंचभर नहीं चलेगी, चलेगा चाक। लेकिन जब दस मील बाद आप ठहरेंगे तो कील की भी यात्रा तो दस मील की हो चुकी, और चली इंचभर नहीं, और दस मील की यात्रा हो गई। पागलपन होगा। पर हुआ यही है। अब तथ्य को क्या करें?
अरस्तू गलत हो तो हो, तथ्य गलत नहीं होते। कील बिल्कुल नहीं चली और फिर भी दस मील की यात्रा हो गई। आत्मा एक क्षण भी नहीं चली, हिली भी नहीं, और कितने जन्मों की यात्रा है, कितनी अनंत यात्रा है! कितने पड़ाव और कितनी मंजिलें, कितने दूर निकल आए!
इसलिए उपनिषद का ऋषि कहता है, नहीं चलती, फिर भी बहुत चलती है। कहता है, भीतर है और फिर भी बाहर है।
असल में बाहर और भीतर कामचलाऊ फासले हैं। कौन सी चीज बाहर है? श्वास भीतर जाती है, तब आप कहते हैं, भीतर जा रही है। आप कह भी नहीं पाते और वह बाहर चली जाती है। कभी आपने ख्याल किया? कहते हैं, श्वास भीतर जा रही है, भीतर है। कह भी नहीं पाते, कह भी नहीं पाए, इतना भी समय व्यतीत नहीं हुआ कि बाहर जा चुकी। और जब तक कहते हैं कि बाहर है, तब तक पाते हैं कि वह भीतर प्रवेश करती चली जा रही है।
बाहर और भीतर में फासला क्या है? दिशा का, और कोई फासला नहीं है। रुख,
और कोई फासला नहीं है। घर के बाहर आपके जो आकाश है और घर के भीतर जो आकाश है, उसमें रत्तीभर का फासला है? कोई फासला नहीं है। दीवार आपने उठा ली और घेर लिया आकाश का एक टुकड़ा। वह बाहर का ही है। वह वही आकाश है, जो बाहर है। लेकिन फिर भी फासला है। जब धूप तेज हो जाती है तब पता चलता है कि बाहर का आकाश और है, भीतर का आकाश और है। भीतर विश्राम मिल जाता है, बाहर बड़ी पीड़ा हो जाती है। बाहर और भीतर का आकाश एक भी है और अलग भी है। घर के छप्पर के नीचे भी वही आकाश है जो बाहर है। लेकिन जब रात उसके नीचे सोते हैं तो

ज्यादा निश्चिंत होते हैं, जब बाहर होते हैं तो बड़े चिंतित हो जाते हैं।
और आकाश वही है।
इसलिए उपनिषद कहते हैं, वही भीतर है, वही बाहर है। फिर भी जानना है तो भीतर से ही शुरू करना पड़ेगा। जानने के लिए भीतर से ही शुरू करना पड़ेगा। जानने के बाद यह कहा जा सकता है कि वही बाहर है। जानने के पहले यह नहीं कहा जा सकता है कि वही बाहर है। क्योंकि जिन्हें भीतर का ही पता नहीं, उन्हें बाहर का कोई पता नहीं होगा। जो अपने घर के ही छोटे से आकाश को नहीं जान पाए, वे इस बाहर के विराट आकाश को कैसे जान पाएंगे? इस छोटे-से से पहले परिचित हो लें, फिर उस बाहर के विराट से भी परिचय हो जाएगा।
जिन्हें जानने निकलना है, उन्हें भीतर से ही शुरू करना पड़ेगा। और जो जानने की अंतिम मंजिल पर पहुंच जाते हैं, वे बाहर पूरा करते हैं। प्राथमिक कदम भीतर उठता है, अंतिम कदम तो परम रूप से बाहर चला जाता है। आत्मा से यात्रा शुरू होती है, परमात्मा पर पूर्ण होती है।
यह बहुत एब्सर्ड, तर्कशून्य, असंगत दिखने वाला वक्तव्य, बहुत गहन, बहुत सत्य, बहुत तथ्यपूर्ण है। लेकिन तर्क पर ही जो रुक जाते हैं, वे तथ्य तक नहीं पहुंच पाते हैं। और तथ्य पर तो केवल वे ही पहुंच पाते हैं जो तर्क को भी छोड़ने का साहस रखते हैं। क्योंकि तथ्य आपके तर्कों को नहीं मानता। सब तर्क मनुष्य-निर्मित हैं। तथ्यों को कोई फिक्र नहीं है। आपका तर्क कुछ भी कहे, तथ्य जीए चले जाएंगे अपने ढंग से। सत्य को आपके तर्कों का कोई संबंध नहीं है। सत्य आपके तर्कशास्त्र को पढ़ने नहीं आते। और न आपके तर्कशास्त्र के साथ नियम के अनुसार काम करने को राजी हैं। वे अपने ढंग से काम करते चले जाते हैं। उन्हें आपके तर्कों की कोई फिक्र नहीं है।
इसलिए जब भी तथ्य और तर्क की टक्कर होती है तो तर्क को टूटना पड़ता है। इसलिए पूरब के मनीषी जब तथ्य पर पहुंचे जीवन के, तो उन्होंने सब तर्क की बात छोड़ दी। उन्होंने कहा कि तर्क से कुछ होगा नहीं।
इसलिए जो तर्क में बहुत निष्णात हो जाते हैं, उनका सत्य से परिचय जरा कठिन होने लगता है, मुश्किल होने लगता है। वे अपने तर्क को लिए ही बैठे रहते हैं। वे यही कहे चले जाते हैं कि पानी एक ही साथ ठंडा और गरम कैसे हो सकता है? लेकिन है। वे यही कहे चले जाते हैं कि सर्दी और गर्मी एक ही चीज कैसे हो सकती हैं? कहां सर्दी और कहां गर्मी! पर हैं। वे कहे चले जाते हैं, जन्म और मृत्यु एक कैसे हो सकते हैं? लेकिन हैं।
सत्य के खोजी को तर्क के छोड़ने का साहस करना पड़ता है, जो कि बड़े से बड़ा साहस है।
यह सूत्र तर्कातीत है, बियांड लाजिक है और इसीलिए परम है। इसलिए मैंने कहा कि मनुष्य जाति के इतिहास में जो परम वचन बोले गए हैं-- महावाक्य--उनमें से एक है।
अब हम उस तर्कातीत परम तथ्य में प्रवेश करें। इसलिए सोचें न कि नाचने
से क्या होगा! चिल्लाने से क्या होगा! रोने से क्या होगा! हंसने से क्या होगा! सोचें नहीं। छोड़ें।

ईशावास्य उपनिषद
पांचवां प्रवचन

वह समत्व है

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। 6।।

जो संपूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा को ही देखता है, वह इसके कारण ही किसी से घृणा नहीं करता।। 6।।

मनुष्य की गहरी से गहरी उलझनों में घृणा आधारभूत है। कहें कि घृणा का जहर ही मनुष्य की और समस्त विषाक्त अभिव्यक्तियों में प्रगट होता है। घृणा का अर्थ हैः दूसरे के विनाश की आतुरता। प्रेम का अर्थ हैः दूसरे
के जीवन की आकांक्षा। घृणा का अर्थ हैः दूसरे की मृत्यु की आकांक्षा। प्रेम का अर्थ हैः जरूरत पड़े तो दूसरे के लिए स्वयं को समाप्त कर देने की तैयारी। घृणा का अर्थ हैः जरूरत न भी पड़े तो भी स्वयं के लिए दूसरे को समाप्त कर लेने की तैयारी।
और हम सब जैसे जीते हैं उसमें प्रेम का कोई स्वर नहीं होता, घृणा का ही विस्तार होता है। वस्तुतः तो जिसे हम प्रेम कहते हैं, वह भी हमारी घृणा का ही एक रूप होता है। हम प्रेम में भी दूसरे को साधन बना लेते हैं। और जब भी कोई दूसरे को साधन बनाता है, तभी घृणा शुरू हो जाती है। हम प्रेम में भी अपने लिए जीते हैं। और अगर दूसरे के लिए कुछ करते हुए मालूम पड़ते हैं, तो सिर्फ इसलिए कि उससे हमें कुछ मिलने को है। दूसरे के लिए हम कुछ करते हैं तभी, जब उससे कुछ मिलने की आशा, फल की आकांक्षा होती है। अन्यथा हम नहीं करते हैं।
इसीलिए हमारा प्रेम किसी भी क्षण घृणा बन सकता है। बन जाता है। घड़ीभर पहले जिसे हमने प्रेम किया था, घड़ीभर बाद वही प्रेम घृणा बन सकता है। जरा सी हमारी आकांक्षा में बाधा पड़ी कि प्रेम घृणा में रूपांतरित हुआ। जो प्रेम घृणा में बदल सकता है, वह घृणा का ही छिपा हुआ रूप है। भीतर घृणा ही है, ऊपर आवरण है प्रेम का।
ईशावास्य एक बहुत बहुमूल्य सूत्र की बात कर रहा है। वह सूत्र यह है--
और तभी प्रेम संभव है, अन्यथा प्रेम संभव नहीं है; तभी प्रेम का फूल खिल सकता है; इस सूत्र के अतिरिक्त प्रेम के फूल की कोई संभावना नहीं है--वह सूत्र यह है कि जब कोई व्यक्ति समस्त भूतों में स्वयं को देखने लगता है और स्वयं में समस्त भूतों को देखने लगता है, तभी घृणा का अंत होता है।
ध्यान रहे, ईशावास्य यह नहीं कहता कि तभी प्रेम का जन्म होता है। कहता है, तभी घृणा का अंत होता है। ऐसा कहने का बहुत सुविचारित कारण है।
यह बहुत मजे की बात है कि प्रेम के जन्म में सिवाय घृणा की मौजूदगी के
और कोई बाधा नहीं है। घृणा न हो तो प्रेम खिलता है अपने आप। वह स्पांटेनियस है, वह सहज खिलता है। उसे खिलाने के लिए फिर और कुछ करना नहीं पड़ता। ठीक ऐसे ही जैसे किसी झरने के ऊपर एक पत्थर रखा हो और हम पत्थर को हटा लें और झरना फूट पड़े। ऐसे ही घृणा का पत्थर हमारे ऊपर है।
घृणा के पत्थर का क्या अर्थ होगा? हम दूसरों में स्वयं को नहीं देख पाते और स्वयं में दूसरों को भी नहीं देख पाते। न तो हमें दिखाई पड़ता है कि समस्त भूतों में हमारी ही छवि है और न हमें यह दिखाई पड़ता है कि समस्त भूत हम में भी छविमान हैं। न तो समस्त भूत हमारे लिए दर्पण बन पाते हैं कि हम अपने चेहरे को उनमें देखें। और न ही हम दर्पण बन पाते हैं कि समस्त भूतों का चेहरा हममें प्रतिफलित हो जाए। ये दोनों घटनाएं एक साथ घटती हैं। जो व्यक्ति समस्त भूतों में, समस्त प्राणियों में, समस्त अस्तित्व में अपने को देख लेगा, वह प्राणी अनिवार्यतः सबको अपने में भी देख पाएगा। जिसके लिए जगत दर्पण बन जाएगा, वह स्वयं भी जगत के लिए दर्पण बन जाता है। यह घटना एक ही साथ घटती है। एक ही घटना के दो पहलू हैं।
और उपनिषद कहता है कि ऐसा होते ही घृणा गिर जाती है।

तो फिर क्या पैदा होता है? अब प्रेम पैदा होता है, ऐसा उपनिषद ने नहीं कहा है। क्योंकि प्रेम शाश्वत है, वह हमारा स्वभाव है। वह न तो पैदा होता है, न मरता है। जैसे, वर्षा के दिन हैं और आकाश में बादल घिर गए हैं, सूरज ढंक गया। तो क्या हम यह कहेंगे कि जब बादल हट जाएंगे तो सूरज पैदा होगा? नहीं, तब हम इतना ही कहेंगे कि बादल हट जाएंगे तो सूरज तो सदा था, प्रगट होगा। बादल जब आ गए हैं तब भी सूरज नष्ट नहीं हो गया है, सिर्फ दब गया, आच्छादित हो गया। दिखाई नहीं पड़ता, छिप गया, आड़ में हो गया। बादल हट जाएंगे, सूरज प्रगट हो जाएगा। बादलों का जन्म होता है और बादलों की मृत्यु होती है--सूरज सदा है। उसका न कोई जन्म होता है, न मृत्यु होती है।
प्रेम है जीवन का स्वभाव, इसलिए प्रेम का कोई जन्म नहीं है, कोई मृत्यु नहीं है। घृणा के बादल जन्मते हैं और मरते हैं। जन्म जाते हैं तो प्रेम आच्छादित हो जाता है। विसर्जित हो जाते हैं, मर जाते हैं, तो प्रेम प्रगट हो जाता है। लेकिन प्रेम शाश्वत है। इसलिए प्रेम के जन्मने की बात उपनिषद नहीं कर रहा है। उपनिषद कह रहा है, बस घृणा मर जाती है, घृणा गिर जाती है।
पर कैसे? सूत्र तो सरल दिखाई पड़ता है, इतना सरल नहीं है। बहुत बार जो चीजें बहुत कठिन दिखाई पड़ती हैं, कठिन नहीं होती हैं। बहुत बार जो चीजें बहुत सरल दिखाई पड़ती हैं, सरल नहीं होती हैं। अधिकांशतः तो सरलता के भीतर बहुत गहराई होती है और बहुत जटिलता होती है।
अब यह सूत्र सीधा सा है। दो पंक्तियों में पूरा हो गया है कि जिसे समस्त भूतों में स्वयं का दर्शन हो जाए, या समस्त भूतों का दर्शन स्वयं में होने लगे, उसकी घृणा नष्ट हो जाती है। लेकिन सबको दर्पण बना लेना या सबके लिए स्वयं दर्पण बन जाना, सबसे बड़ी कीमिया और कला है। उससे बड़ी कोई आर्ट नहीं।
सुनी है मैंने एक छोटी सी कहानी, वह मैं आपसे कहूं। सुना है मैंने कि
एक ईरानी बादशाह के दरबार में एक चीनी चित्रकार ने निवेदन किया कि मैं चीन से आया हूं। बहुत बड़ी कला का धनी हूं। चित्र बना सकता हूं ऐसे, जैसे कि आपने कभी न देखे हों। सम्राट ने कहा, जरूर बनाओ। लेकिन हमारे दरबार में चित्रकारों की कमी नहीं है और बहुत अनूठे चित्र मैंने देखे हैं। उस चीनी चित्रकार ने कहा तो मैं प्रतियोगिता के लिए भी तैयार हूं।
जो श्रेष्ठतम कलाकार था सम्राट के दरबार का, वह प्रतियोगिता के लिए चुना गया। और सम्राट ने कहा कि पूरी शक्ति लगाना है, यह साम्राज्य की प्रतिष्ठा का सवाल है। एक परदेशी तुम्हें हरा न जाए। छह महीने का उन्हें समय मिला था।
ईरानी चित्रकार बड़ी मेहनत में लग गया। दस-बीस सहयोगियों को लेकर उसने
एक भवन की पूरी दीवार को चित्रों से भर डाला। उसकी मेहनत की खबर दूर-दूर तक पहुंच गई। लोग दूर-दूर से उसकी मेहनत को देखने आने लगे। लेकिन उससे भी ज्यादा चमत्कार की बात तो यह थी कि वह चीनी चित्रकार ने कहा कि मुझे किसी उपकरण की जरूरत नहीं और न रंगों की कोई जरूरत है। सिर्फ मेरा इतना ही आग्रह है कि जब तक चित्र पूरा न बन जाए तब तक मेरी दीवार के सामने से पर्दा नहीं उठाया जा सके।
वह रोज अपने पर्दे के पीछे चला जाता। सांझ को थका-मांदा लौटता, माथे
पर पसीने की बूंदें होतीं। लेकिन बड़ी कठिनाई और बड़ी हैरानी और बड़ी अचंभे की बात यह थी कि वह न तो तूलिका ले जाता, न रंग ले जाता पर्दे के पीछे। उसके हाथों में रंग के कोई निशान न होते। उसके कपड़ों पर रंग के कोई दाग न होते। उसके हाथ में कोई तूलिका न होती। सम्राट को शक होने लगा कि वह पागल तो नहीं है! क्योंकि प्रतियोगिता होगी कैसे? लेकिन छह महीने प्रतीक्षा करनी जरूरी थी। शर्त पूरी करनी जरूरी थी।
छह महीने बड़ी मुश्किल से कटे। दूर-दूर तक ईरानी चित्रकार के चित्रों
की खबर पहुंची। साथ ही यह खबर भी पहुंची कि एक पागल प्रतियोगी भी है, जो बिना किसी रंग के प्रतियोगिता कर रहा है। छह महीने लोग ऐसी आतुरता से प्रतीक्षा किए कि जिसका कोई हिसाब नहीं। वह छह महीने बाद पर्दा उठने को था।

सम्राट गया। ईरानी चित्रकार के चित्र देखकर वह दंग हो गया। बहुत चित्र उसने जीवन में देखे थे। लेकिन नहीं, ऐसा श्रम शायद ही कभी किया गया हो! फिर उसने चीनी चित्रकार से कहा। चीनी चित्रकार ने अपनी दीवार के सामने का पर्दा हटा दिया। सम्राट तो बहुत हैरान हो गया। ठीक वही चित्र! जो ईरानी चित्रकार ने बनाया था, वही चित्र चीनी चित्रकार ने भी बनाया था। पर एक और खूबी थी कि वह चित्र दीवार के ऊपर नहीं, दीवार के भीतर बीस फीट अंदर दिखाई पड़ता था। सम्राट ने पूछा, तुमने किया क्या है! क्या जादू है?
उसने कहा, मैंने कुछ किया नहीं। मैं सिर्फ दर्पण बनाने में कुशल हूं।
तो मैंने दीवार को दर्पण बनाया। वह छह महीने दीवार को घिस-घिसकर मैंने दर्पण बनाया। और जो चित्र आप देख रहे हैं दीवार में, वह तो ईरानी चित्रकार का ही है सामने की दीवार पर। मैंने सिर्फ दीवार दर्पण बनाई है।
जीत गया वह प्रतियोगिता। क्योंकि दर्पण में झलककर वही ईरानी चित्र इतना गहरा हो उठा, जैसा वह खुद स्वयं में नहीं था। क्योंकि ईरानी चित्र तो दीवार के ऊपर था। दर्पण में जाकर वह भीतर गहरे हो गया। डेप्थ, थ्री डायमेंशनल हो गया। ईरानी चित्र तो टू डायमेंशन में था, दो आयाम में था। उसमें गहराई न थी। चीनी चित्रकार का चित्र तीन डायमेंशन में हो गया, उसमें गहराई भी थी।
सम्राट ने कहा कि तुमने पहले क्यों न कहा कि तुम सिर्फ दर्पण बनाना जानते हो! उस चीनी चित्रकार ने कहा कि मैं कोई चित्रकार नहीं हूं, फकीर हूं। उसने कहा, और मजे की बात है। पहले तुमने यह न बताया कि तुम दर्पण बनाते हो, अब तुम बताते हो कि तुम फकीर हो! तो फकीर को दर्पण बनाने से क्या प्रयोजन? उस चीनी चित्रकार ने कहा कि मैंने अपने को दर्पण बनाकर जो चित्र देखा जगत का, तब से मैं दर्पण ही बनाता हूं। जैसे इस दीवार को मैंने घिस-घिसकर दर्पण कर दिया है, ऐसे ही मैंने अपने को घिस-घिसकर भी दर्पण कर लिया है। और मैंने इस जगत की जो सुंदर प्रतिमा फिर अपने में देखी है, वैसी बाहर कहीं भी नहीं है। लेकिन जिस दिन मैं दर्पण बन गया, उस दिन मैंने सारे जगत को अपने में समाया हुआ देखा और जाना। सब भूत मेरे भीतर समा गए।
जिस दिन हमारा हृदय दर्पण की तरह बनता है, उस दिन हम प्रभु को देख पाते हैं, समग्रीभूत अपने ही भीतर। और जिस दिन हम यह देख पाते हैं, उसी दिन सारा जगत भी दर्पण बन जाता है। फिर हम अपने को भी प्रतिपल सब जगह देख पाते हैं। लेकिन जगत को दर्पण नहीं बनाया जा सकता। बनाया तो जा सकता है दर्पण स्वयं को ही। इसलिए यात्री--साधना का यात्री--अपने को ही दर्पण बनाने से शुरू करता है।
अपने को दर्पण बनाने की कीमिया और कला--तीन बातें समझ लेनी चाहिए।
एक, शायद दर्पण बनाना कहना ठीक नहीं है, दर्पण हम हैं, लेकिन धूल से दबे हुए हैं। सब धूल झाड़नी-पोंछनी और साफ कर देनी है। दर्पण पर धूल जम जाए तो धूल से भरा दर्पण दर्पण नहीं रह जाता। फिर वह किसी चीज को प्रतिफलित नहीं करता। उसका प्रतिफलन मर जाता है, धूल से दब जाए तो।
हम भी धूल से दबे हुए दर्पण हैं। धूल भी हमारी अर्जित की हुई है। राह चलते जैसे धूल इकट्ठी हो जाए दर्पण पर, ऐसे ही जीवन चलते, राह चलते जीवन की, अनंत-अनंत जीवन में यात्रा करते, न मालूम कितने-कितने मार्गों पर, न मालूम कितने कर्मों और कर्ताओं के होने की वासना में, न मालूम कितनी धूल हम इकट्ठी कर लेते हैं। कर्म की धूल है, कर्ता की धूल है, अहंता की धूल है। विचारों की, वासनाओं की, वृत्तियों की धूल है। वह बड़ी गहरी धूल की पर्त हमारे ऊपर है। उसे हटा देने की बात है। वह हट जाए तो हम दर्पण हैं। और जो स्वयं दर्पण है उसके लिए सब दर्पण जैसा हो जाता है। क्यों?
क्योंकि एक और गहरा सूत्र ख्याल में ले लेना चाहिए कि जो हम हैं, वही हमें चारों तरफ दिखाई पड़ता है। हम वही देखते हैं, जो हम हैं, उससे अन्यथा कभी भी नहीं देखते। जो हमें बाहर दिखाई पड़ता है, वह हमारा ही प्रोजेक्शन है, वह हमारा ही प्रक्षेपण है। वह हम ही हैं। वह हमारी ही शकल है। इसलिए अगर बाहर बुरा दिखाई पड़ता है, तो जानना कि कहीं भीतर बुरे का बीज है। बाहर अगर कुरूपता दिखाई पड़ती है, तो जानना कि कोई अग्लीनेस, कोई कुरूपता भीतर जड़ जमाकर बैठी है। बाहर अगर बेईमानी दिखाई पड़ती है, तो जानना कि बेईमान

कहीं भीतर है। प्रोजेक्टर भीतर है, बाहर तो पर्दा है। उस पर हम प्रोजेक्ट करते चले जाते हैं। जो हमारे भीतर है, हम फैलाए चले जाते हैं।
अगर बाहर परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता, तो उसका मतलब सिर्फ इतना ही है कि भीतर हमारे परमात्मा जैसा हमें कुछ भी अनुभव नहीं होता है। जिसे भीतर परमात्मा अनुभव होता है, उसी क्षण उसे सब जगह परमात्मा अनुभव होने लगता है। फिर कोई उपाय नहीं है। फिर उसे पत्थर में भी परमात्मा है। अभी हमें परमात्मा में भी पत्थर दिखाई पड़ता है।
मेटिरियलिस्ट जिसे हम कहते हैं, पदार्थवादी जिसे कहते हैं, उसका कोई
और मतलब नहीं है मेरे लिए--जिसके भीतर हृदय में पत्थर है, वह मेटिरियलिस्ट है। जिसके भीतर हृदय पत्थर जैसा है, उसे सारे जगत में पदार्थ दिखाई पड़ता है। जिसको अध्यात्मवादी हम कहें, स्प्रिचुअलिस्ट कहें, मेरे लिए वही है आदमी, जिसके भीतर हृदय पत्थर जैसा नहीं है, हृदय जैसा ही है--धड़कता हुआ, जीवंत, प्राणवान।
वैज्ञानिक कहेगा कि वह हमारे भीतर जो हृदय धड़क रहा है, वहां हृदय जैसा कुछ भी नहीं है। फेफड़ा है, फुफ्फुस। पंपिंग सिस्टम से ज्यादा कुछ भी नहीं है। जिस हृदय की हम बात करते हैं, वैज्ञानिक कहेगा, हम बहुत काट-पीट करके देखते हैं, लेकिन वहां हम सिर्फ एक पंपिंग सिस्टम, जो सिर्फ वायु के दबाव को डालकर खून को शरीर में चलाती रहती है। इससे ज्यादा वहां कुछ भी नहीं है। अगर यह सच है, तो फिर बाहर के जगत में कभी भी जीवन और चेतना का कोई अनुभव नहीं हो सकेगा। अगर भीतर से खून के दबाव को डालने वाला हृदय एक यंत्र है, तो बाहर भी एक यांत्रिक विस्तार होगा--बस। जगत एक यांत्रिकता होगी। पदार्थ। पत्थर ही रह जाएंगे बाहर।
नहीं, लेकिन भीतर जाने के और भी उपाय हैं। वैज्ञानिक का उपाय अकेला उपाय होता तो बड़ी मुश्किल हो जाती। फिर वैज्ञानिक जीत गया होता। वह जीत नहीं सकता। उसकी हार सुनिश्चित है। देर-अबेर हो सकती है। क्योंकि भीतर जाने के और उपाय भी हैं। अब जैसे कि कोई वीणा को बजाए! लेकिन वीणा को जानने का एक और उपाय भी है कि वीणा को तोड़-फोड़ करके कोई भीतर देखे। सब तार उखाड़ दे, वीणा को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दे और फिर भीतर झांके और कहे कि संगीत बिल्कुल नहीं है! कौन कहता था? यह वीणा सामने रखी है खंड-खंड, विश्लिष्ट। कहीं उसमें कोई संगीत नहीं है।
अगर यह एक ही रास्ता होता वीणा को जानने का, तो संगीतज्ञ हार चुका था। लेकिन वीणा को एक जानने का और भी रास्ता है। निश्चित ही वह कठिन है। क्योंकि वीणा को तोड़ना बहुत आसान है, वीणा को बजाना बहुत कठिन है। बजाकर भी वीणा के हृदय में जो छिपा है, वह जाना जाता है। निश्चित ही वह इतना सूक्ष्म है कि पकड़ में नहीं आता। और कान अगर बहरे हों, तो फिर बिल्कुल ही पकड़ में नहीं आता। और हृदय की समझ अगर न हो, सिर्फ बुद्धि की ही समझ हो, तो फिर सुनाई भी पड़ जाए तो भी समझ में नहीं आता। क्योंकि संगीत सिर्फ उन्हें समझ में आ जाता हो जो सुन लेते हैं, तो वे गलती में हैं। सुनने भर से सिर्फ ध्वनियां समझ में आती हैं--आवाज, शोरगुल। संगीत सुनने से कुछ ज्यादा है। उस सुनने में कुछ और भी जोड़ना पड़ता है। हृदय भी डालना पड़ता है, तब ध्वनियां संगीत बनती हैं। नहीं तो सिर्फ शोरगुल रह जाता है। आवाजें रह जाती हैं। हृदय को भी जानने का अगर एक ही रास्ता होता--काट-पीट करके, जैसा सर्जन जानता है अपनी आपरेशन थिएटर की टेबल पर--अगर वही एक रास्ता होता तब तो ठीक था। लेकिन और भी एक रास्ता है। धार्मिक भी जानता है, संत भी जानता है। उसने हृदय को बजाकर जाना है, तोड़कर नहीं। उसने हृदय में संगीत को पैदा करके जाना है। तो वह कहता है कि भीतर, भीतर तुम किस फुफ्फुस, किस फेफड़े की बात कर रहे हो! तुम वैसे ही नासमझ और पागल हो जैसे कि कोई बिजली के बल्ब को तोड़ ले, कांच के टुकड़ों को घर ले जाए और कहे कि यह रोशनी है। माना कि रोशनी इससे प्रगट होती थी, लेकिन कांच के टुकड़े, जो घर ले गए हैं आप बीनकर, वे रोशनी नहीं हैं, न थे। और यह भी सच है कि उन कांच के टुकड़ों को तोड़ देने पर रोशनी गुप्त हो गई, विलीन हो गई, यह भी सच है। इसलिए तर्क ठीक मालूम पड़ता है कि जब हमने तोड़ दिया बल्ब तो रोशनी खतम हो गई, निश्चित ही बल्ब ही रोशनी था। नहीं तो तोड़ने से रोशनी को खतम नहीं होना था। टुकड़े हम घर ले आए हैं, यही रोशनी है कुल जमा। सच है यह भी कि बल्ब टूट जाए तो रोशनी विलीन हो जाती है। नष्ट

नहीं, सिर्फ विलीन हो जाती है, अप्रगट हो जाती है। प्रगट होने का माध्यम टूट जाता है। अगर फेफड़े को हम तोड़ डालें तो हृदय के प्रगट होने का माध्यम टूट जाता है। बल्ब टूट जाता है। तोड़कर फिर हृदय नहीं मिलता, जैसे कि बल्ब तोड़कर फिर रोशनी नहीं मिलती। हृदय पीछे छिप जाता है। फेफड़ा सिर्फ हृदय को प्रगट करता है।
लेकिन हममें से बहुत कम लोग हैं, जिन्होंने हृदय को जाना है। फेफड़े को
ही हम जानते हैं, जहां हवा चलती है, वायु का स्पंदन होता है, प्राण संचालित होते हैं। उस यांत्रिक व्यवस्था को ही हमने जाना है, तो फिर बाहर भी यंत्र का विस्तार है।
भीतर जिस दिन हम जानेंगे चैतन्य को, उस दिन बाहर भी चैतन्य का विस्तार
हो जाता है। भीतर हम बनेंगे दर्पण, तो बाहर भी सारा जगत दर्पण है। पत्थर के पास खड़े होंगे तो भी स्वयं को पत्थर में देख पाएंगे। तब पत्थर को भी इस कठोरता से न देखेंगे जैसे अभी आदमी को देखते हैं। तब पत्थर पर भी हाथ ऐसे ही रखेंगे जैसे किसी ने अपने प्रेमी को छुआ हो। क्योंकि तब पत्थर पत्थर नहीं है, परमात्मा ही है। तब जमीन पर पैर भी ऐसे रखेंगे--सम्हलकर, विवेक से, होशपूर्वक। वहां भी जीवन छिपा है। वहां भी जीवन का विस्तार है। वहां भी जीवन स्पंदित है। वहां भी कोई नाच रहा है। अलग-अलग आयामों में, अलग-अलग रूपों में, अलग-अलग दिशाओं में जीवन का नृत्य है। हम अकेले ही जीवन के मालिक नहीं हैं। हम नहीं होंगे तो भी जीवन होगा। अनंत हैं उसके रूप। हम भी एक रूप हैं--अनंत में एक। एक छोटी सी हमारी भी दिशा है। लेकिन हमें अपने भीतर के ही जीवन की दिशा का कोई परिचय नहीं है।
दर्पण कैसे बनें? इस धूल को हटाना पड़े, इस धूल को फेंकना पड़े। न केवल हटाना पड़े, बल्कि नया संग्रह भी रोकना पड़े। नहीं तो ऐसा हो कि हम इधर धूल पोंछते चले जाएं और धूल इकट्ठा करने की जो व्यवस्था है, वह जारी रहे, तो भी दर्पण नहीं बनेगा। दोहरे काम करने पड़ेंगे। पुरानी धूल को, अर्जित धूल को हटा देना पड़ेगा और नई धूल को अर्जित करना बंद कर देना पड़ेगा।
पुरानी धूल अर्जित हुई है स्मृतियों में, मेमोरी में, और नई धूल अर्जित होती है डिजायर में, वासना में। पुरानी धूल टिकती है स्मृति में और नई धूल आती है वासना से। दोहरे काम करने पड़ेंगे। स्मृति से मुक्त होना पड़ेगा। वासना से भी मुक्त होना पड़ेगा। वासना को कहना पड़ेगा, नहीं पाना है कुछ आगे। कोई आगे की यात्रा नहीं है कहीं। और स्मृति से कहना पड़ेगा, पीछे जो हुआ, सब स्वप्न था, अब व्यर्थ इस बोझ को न ढोओ।
ढोते हैं स्मृति के बोझ को। हम कुछ भूलते ही नहीं, सब सम्हालकर चलते हैं। सब पकड़कर रखते हैं। कचरे को इकट्ठा करते हैं और पकड़कर रखते हैं छाती के साथ। जन्मों-जन्मों का कचरा इकट्ठा है। स्मृति को विदा करना पड़ेगा। कहना पड़ेगा, वह जो बीत गया, बीत गया, अब मैं वह नहीं हूं। बीते कल से अपने को तोड़ लेना पड़ेगा। अतीत से छूट जाना होगा और भविष्य से भी--बस यही दो--और चित्त दर्पण हो जाएगा।
मैं जिसको संन्यास कहता हूं, ऐसे ही व्यक्ति को संन्यासी कहता हूं, जो कहता है, अतीत से मैं अपने को तोड़ता हूं। अब मैं वही नहीं रहूंगा जो मैं कल तक था। वह आइडेंटिटी समाप्त करता हूं। इसलिए नाम परिवर्तन करते हैं। नाम परिवर्तन सिंबालिक है, सांकेतिक है, सूचक है इस बात का कि वह जो पुराना नाम था, वह जो पुराना मैं था, अब नहीं रहूंगा। अब उससे छुटकारा करता हूं। अब वे सब स्मृतियां, वह सारा जाल अतीत का, वह उस पुराने नाम के साथ दफना देता हूं। अब मैं नया आदमी होता हूं। मैं अ ब स से यात्रा शुरू करता हूं। नया होता हूं आज से, इस बात का संकल्प संन्यास है। और अब आज से कभी भी पुराना नहीं होऊंगा, इस बात का संकल्प भी संन्यास है।
ध्यान रहे, कल से छूट जा सकता हूं, लेकिन कल अगर फिर पुरानी आदत जारी रखी तो कल फिर पुराना पड़ जाऊंगा। नाम कितनी देर नया रहेगा, क्षणभर भी तो नया नहीं रहेगा। पुराने से तोड़कर अगर मैंने पुरानी आदत जारी रखी, तो मैं नए नाम के आसपास फिर स्मृतियां इकट्ठी कर लूंगा। कल फिर वही बोझ खड़ा हो जाएगा, दर्पण फिर दब जाएगा।
इसलिए संन्यास दोहरा संकल्प है। अतीत से छुटकारा, कि अब मैं वह नहीं हूं जो मैं कल था। डिसकंटिन्यूटी, तोड़ता हूं उस सातत्य को। कहता हूं, अब

मैं नया आदमी हूं। न ही अब वह मेरा नाम है, न ही अब वे मेरे पिता हैं, न ही अब वह मेरा वंश है। नहीं, अब वह अतीत मेरा कुछ भी नहीं। मैं आज से फिर से शुरू होता हूं--रिबॉर्न।
निकोडेमस नाम का एक युवक गया जीसस के पास। और उसने कहा कि मैं क्या करूं कि तुम जिस आनंद की बात करते हो वह मुझे मिल जाए? तो जीसस ने कहा, यू विल हैव टु बी बॉर्न अगेन--तुम्हें फिर से जन्म लेना पड़ेगा। निकोडेमस ने कहा, अब यह कैसे हो सकता है? यह आप कैसी बात करते हैं? यह हो कैसे सकता है? जन्म तो मैं ले चुका। अब जवान भी हो चुका। अब फिर से जन्म कैसे ले सकता हूं? जीसस ने कहा कि तुम समझे नहीं। वह जन्म तुमने कभी लिया ही नहीं था। मैं तुमसे कहता हूं, तुम्हें फिर से जन्म लेना पड़ेगा। तुम्हें नया आदमी होना पड़ेगा। तुम्हें अपने पुराने वह जो संबंधों का स्मृति-जाल है, उससे छुटकारा पाना होगा।
इस मुल्क में, हम अपने मुल्क में, उस आदमी को द्विज कहते थे, रिबॉर्न को। द्विज का मतलब यह नहीं था कि जनेऊ डाल दिया तो वह द्विज हो गया। द्विज का अर्थ है, दुबारा जन्मा, ट्वाइस बॉर्न, जिसका दूसरा जन्म हुआ। संन्यास के पहले कोई भी द्विज नहीं हो सकता। जनेऊ डालने से कोई द्विज नहीं हो सकता। ब्राह्मण होने से कोई द्विज नहीं हो सकता।
द्विज का मतलब है, जिसने दूसरा जन्म लिया। एक जन्म तो वह है, जो मां- बाप दे देते हैं। और एक जन्म वह है, जो स्वयं के संकल्प से होता हो। यह जन्म दोहरा है। अतीत से तोड़ता हूं अपने को और अब भविष्य में उस पुरानी व्यवस्था को भी तोड़ता हूं, जिससे मैं रोज-रोज पुराना पड़ जाता था। अब मैं रोज-रोज नया ही रहूंगा। अब मेरे दर्पण पर कोई धूल नहीं जमेगी। अब यह नाम ताजा और ताजा ही रहेगा। अब इसके साथ मैं कोई स्मृति न जोडूंगा। अब मैं कभी न कहूंगा कि मैंने यह किया और मैंने यह नहीं किया। अब मैं कभी न कहूंगा कि मैं कर्ता हुआ। अब मैं कभी न कहूंगा कि मकान मेरा है, कि धन मेरा है, कि संपत्ति मेरी है।
ध्यान रहे, संन्यासी का यह अर्थ नहीं है कि वह मकान छोड़कर चला जाए और आश्रम को कहने लगे कि मेरा है। संन्यासी का मतलब है, वह मेरा कहना बंद कर दे। वह कहां रहता है, इससे कोई प्रयोजन नहीं है। वह दुकान में बैठा रहे, बस मेरी दुकान न रह जाए। फिर बात पूरी हो गई।
लेकिन दुकान छोड़ने की आदत है हमें, छोड़ सकते हैं। फिर जाकर आश्रम में वही पुरानी आदत काम करती है, वह कहती है, मेरा आश्रम। उससे कोई अंतर नहीं पड़ता। नाम बदला, बेकार हो गया। वैसा ही बेकार हो गया जैसा कि अक्सर हम देखते हैं, हाथी स्नान कर लेता है और स्नान करके बाहर निकलकर धूल फेंक लेता है ऊपर। इससे कोई प्रयोजन हल नहीं होता। व्यर्थ श्रम हो जाता है। उपनिषद का यह सूत्र कह रहा है, दर्पण बन जाओ। संन्यस्त चित्त दर्पण है। जिसने कहा कि न मेरा कोई अतीत है अब, न मेरा कोई भविष्य है। अभी और यहां--हियर एंड नाऊ--बस, इसी क्षण में मैं हूं। यह क्षण ही मेरा होना है। बस, जिसने ऐसा जाना, वह तत्काल दर्पण बन जाता है।
और जब सब भूतों में, जब सब भूतों की प्रतिकृति अपने दर्पण में बनने लगती है, तो फिर कैसी घृणा? और जब स्वयं की प्रतिकृति सब भूतों में बनने लगती है, तो फिर कैसी घृणा? घृणा खो जाती है। वह घृणा का धुआं विलीन हो जाता है। वे धुएं के बादल विदा हो जाते हैं। और तब जो प्रगट होता है सूर्य, वह प्रेम है।
ध्यान रहे, घृणा के रहते हम जिस प्रेम को करते हैं, करते चले जाते हैं,
वह घृणा का ही रूप होता है। घृणा के मूल रूप से विदा हो जाने पर, आधारभूत विदा हो जाने पर जिसका जन्म होता है, वही प्रेम है। सिर्फ संन्यासी ही प्रेम कर सकता है। सिर्फ आत्मा से ही प्रेम की धारा बहती है। शरीर से तो घृणा ही बहेगी। मन से तो घृणा ही बहेगी। मेरे-तेरे के भाव से तो घृणा ही बहेगी।
साधक के लिए दर्पण की यह कला ठीक से ख्याल में ले लेनी चाहिए। और जितनी शीघ्रता से हो सके उतनी शीघ्रता से वर्तमान के क्षण को ही अस्तित्व बना लेना चाहिए। अतीत से छुटकारा, भविष्य से भी छुटकारा। स्मृति से

मुक्ति, वासना से भी मुक्ति। फिर पिछली धूल भी चली जाएगी और आगे धूल आने का उपाय भी नहीं रह जाता।

यस्मिन सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।। 7।।

जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिए सब भूत आत्मा ही हो गए, उस समय एकत्व देखने वाले को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है।। 7।।

जाना जिसने सब भूतों में स्वयं को, या जाना जिसने स्वयं में सर्व भूतों को, उस विद्वान पुरुष को, उस ज्ञानी व्यक्ति को कैसा शोक? कैसा मोह? तीन-चार बातें इस सूत्र में समझ लेनी चाहिए। एक तो, उपनिषद किसे विद्वान कहते हैं? विद्वान उसी मूल शब्द से निर्मित होता है, जिससे वेद। वेद का अर्थ होता है जानना। विद का अर्थ होता है जानना। विद्वान का अर्थ है जो जानता है। क्या जानता है? कोई गणित जानता है, कोई केमिस्ट्री जानता है, कोई फिजिक्स जानता है। हजार जानने की चीजें हैं। हजार बातें लोग जानते हैं। कोई धर्मशास्त्र भी जानता है। कोई, संतों ने जो-जो रहस्य की बातें कही हैं, उनसे परिचित है। लेकिन उपनिषद उसे विद्वान नहीं कहते। बहुत अदभुत और मजे की बात है कि उपनिषद सूचनाओं के संग्रह को विद्वान होना नहीं कहते। उपनिषद तो सिर्फ एक ही तत्व को जानने वाले को विद्वान कहते हैं, जो स्वयं को जानता है। क्योंकि जो स्वयं को जान लेता है वह सर्व को जान लेता है। स्वयं को जानता है, तो दर्पण बन जाता है। दर्पण बनता है, तो सबकी प्रतिछवि बनने लगती है।
लेकिन, सर्व को जान लेता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि जिसने स्वयं को जान लिया, वह बड़ा गणितज्ञ हो जाएगा स्वयं को जानने से; कि स्वयं को जानने से वह बहुत बड़ा रसायनविद हो जाएगा; कि स्वयं को जान लेने से वह कोई बहुत बड़ा वैज्ञानिक हो जाएगा। नहीं, यह अर्थ नहीं है।
स्वयं को जान लेने से वह सर्व को जान लेता है, इसका अर्थ यही है सिर्फ
कि जैसे ही वह स्वयं को जानता है, सबके भीतर जो छिपा है, जो गहनतम, गूढ़तम, वह जो पवित्रतम, जो गुह्यतम, दि आकल्ट, वह जो सबके भीतर छिपा है रहस्य, उसे जान लेता है। उस सूत्र को जान लेता है जिसका सब खेल है। उस नियति को जान लेता है जिसका सब फैलाव है। उस नियंता को जान लेता है जो सबके भीतर, सबके भीतर सब गुड्डे और गुड़ियों के पीछे, जिसके हाथ में सबके धागे हैं, उसे जान लेता है।
वह कोई विशेषज्ञ नहीं होता, कोई एक्सपर्ट नहीं होता। उसका कोई स्पेशलाइजेशन नहीं है। वह बिल्कुल ही विशेषज्ञ नहीं है। अगर कोई एक चीज आप उससे पूछने जाएं तो वह बिल्कुल नहीं जानता। वह तो समस्त के भीतर जो सारभूत है, उसे जान लेता है--दि एसेंशियल। वह पत्ते-पत्ते को नहीं जानता, वह तो जड़ को पकड़ लेता है। वह तो जो गहरा प्राण है, महाप्राण है, उसे जान लेता है। और उसे जानकर वह समस्त शोक और मोह से मुक्त हो जाता है। वह लक्षण है, वह विद्वान का लक्षण है।
विद्वान का लक्षण बड़ा अजीब है। वह यह नहीं है कि आप उससे सवाल पूछें,
तो वह जवाब दे सके। वह यह नहीं है कि कोई समस्या खड़ी हो जाए, तो वह उसका समाधान कर सके। वह यह है कि वह शोक और मोह से मुक्त हो जाता है। कोई कितना ही बड़ा गणितज्ञ हो जाए, शोक और मोह से मुक्त नहीं हो जाता। और कोई कितना ही मनस्विद हो जाए... फ्रायड जैसे मनस्विद पृथ्वी पर कम ही हुए हैं। इतना मन के संबंध में जानकर भी फ्रायड का मन ठीक वैसा ही है, जैसा किसी साधारणजन का। उसमें कोई फर्क नहीं है, उसमें रत्तीभर की कोई क्रांति नहीं हुई। वह उसी तरह चिंता से चिंतातुर होता है। उसी तरह भय से भयभीत होता है। उसी तरह क्रोध से जलता है। उसी तरह ईर्ष्या से भरता है। उसी तरह मोह, उसी तरह शोक, सब वही। और मजा यह है कि भय के संबंध में वह बहुत जानता है। ईर्ष्या के संबंध में बहुत जानता है, जितना शायद मनुष्य जाति में किसी दूसरे आदमी ने नहीं जाना। वह कामवासना के संबंध में बहुत जानता है। लेकिन बूढ़ा होकर भी कामवासना वैसे ही मन को आंदोलित कर जाती है, जैसे किसी और को।

उपनिषद इसको विद्वान नहीं कहते। वह तो इसको विद्या भी नहीं कहेंगे।
वह तो कहेंगे, यह सूचनाओं का संग्रह है। एक्सपर्ट है यह आदमी, विशेषज्ञ है यह आदमी, जो-जो भय के संबंध में जाना गया है, यह जानता है। ही नोज अबाउट दि फियर, नॉट दि फियर इटसेल्फ। भय के संबंध में जो-जो कहा गया है वह जानता है, भय को नहीं जानता। भय को जान लेता तो भय से मुक्त हो जाएगा।
एक थियॉलाजियन है, धर्मशास्त्री है, वह धर्म के संबंध में सब जानता है। धर्म के संबंध में, धर्म को नहीं। क्या कहते हैं वेद, क्या कहते हैं उपनिषद, क्या कहती है गीता, क्या कहता है कुरान, बाइबिल--वह जानता है। जो कहा गया है, वह जानता है। लेकिन जिसके लिए कहा गया है, जिस भांति कहा गया है, जो जानकर कहा गया है, वह नहीं जानता।
फर्क ऐसा ही है जैसे कोई आदमी तैरने के संबंध में जानता है और तैरना नहीं जानता। यह तैरने के संबंध में जानने में कोई कठिनाई नहीं है। तैरने की किताब पढ़ी जा सकती है। तैरने के संबंध में जितने शास्त्र हैं, सब कंठस्थ किए जा सकते हैं। एक आदमी तैरने के संबंध में बड़ा विशेषज्ञ हो सकता है। और कोई तैरने के संबंध में कैसा ही सवाल ले जाए, उत्तर दे सकता है। लेकिन फिर भी भूलकर भी उसे नदी में धक्का मत दे देना। क्योंकि तैरना जानना बिल्कुल दूसरी बात है। और जरूरी नहीं है कि जो तैरना जानता है वह तैरने के संबंध में सब जानता हो। सिर्फ तैरना ही जानता हो। लेकिन जब जिंदगी मुसीबत में पड़ी हो और नाव डूब रही हो, तो तैरने के संबंध में जानने वाले का सारा ज्ञान जरा भी काम नहीं आएगा। उस वक्त तो वह अज्ञानी तैर कर निकल जाएगा जो तैरने के संबंध में कुछ नहीं जानता, लेकिन तैरना जानता है।
इसलिए उपनिषद का ऋषि बहुत ठीक सूत्र पीछे लक्षण के गिना देता है। वह कहता है, विद्वानजन, जो सर्वभूतों में स्वयं को और स्वयं में सर्वभूतों को जान लेते हैं, वे शोक और मोह इन दो से मुक्त हो जाते हैं।
इन दो को क्यों एक साथ गिनाने की बात आ गई? ये एक ही हैं, एक ही मनोदशा
के अनिवार्य अंग हैं। इन दो में से एक कभी नहीं होता साथ, एक अकेला कभी नहीं होता। इसलिए इसे ठीक से समझ लें।
जिस चित्त में मोह है, उसी चित्त में शोक हो सकता है। जिस चित्त में मोह नहीं है, उसमें शोक नहीं हो सकता। असल में शोक होता ही मोहभंग से। और तो कोई शोक का कारण नहीं। किसी से मुझे मोह है, वह मर गया, तो मैं शोकग्रस्त हुआ। शोक पीछे की छाया है। मोह की छाया है। अगर मुझे किसी से मोह नहीं है, तो शोक असंभव है। चाहूं तो भी नहीं कर सकता। एक मकान है, जिससे मुझे मोह है। उसमें आग लग गई, तो फिर मुझे शोक होगा। जहां मोह असफल होगा, जहां मोह व्यवधान पाएगा, जहां मोह को अड़चन होगी, जहां मोह टूटेगा, जहां मोह टकराएगा, वहीं शोक खड़ा हो जाएगा। और ध्यान रहे, जब भी शोक खड़ा होगा, तब उससे बचने को आपको नए मोह निर्मित करने पड़ेंगे। जब भी शोक खड़ा होगा, उससे बचने के लिए, उसके बाहर निकलने के लिए आपको नए मोह निर्मित करने होंगे।
अगर मैं किसी को प्रेम करता हूं, वह मर गया, तो मैं तब तक उसे न भूल पाऊंगा जब तक मैं सब्स्टीट्यूट प्रेम करने वाला न खोज लूं। जब तक मैं उसकी जगह किसी और प्रेम करने वाले को न बिठा लूं और अपने सारे मोह को उससे हटाकर नए व्यक्ति पर न लगा दूं, तब तक, तब तक कठिन होगा। मोह खंडित होता है, तो शोक पैदा होता है। शोक से पलायन करना हो तो फिर मोह पैदा करना पड़ता है। फिर एक वीसियस सर्किल, फिर एक दुष्टचक्र चलता है। हर मोह शोक लाता है। हर शोक को फिर नए मोह से... ।
बीमारी आती है, दवा देनी पड़ती है, दवा नई बीमारियां पैदा करती है। फिर दवा देनी पड़ती है, फिर दवा नई बीमारियां पैदा करती है। और एक चक्र चलता चला जाता है।
इन दोनों को साथ गिनाना बहुत सुविचारित है। इसलिए कहा कि शोक और मोह दोनों से, जो जान लेता है, वह मुक्त हो जाता है। क्योंकि जो समस्त भूतों को अपने में देख लेता है और अपने को समस्त भूतों में देख लेता है, फिर कौन मेरा और कौन तेरा? फिर मोह कैसे निर्मित हो?
मोह तभी निर्मित होता है, जब मैं किसी के साथ अपने को बांधता हूं और कहता हूं, यह मेरा और शेष मेरे नहीं। जब मैं कहता हूं, यह मकान मेरा, बाकी मकान मेरे नहीं।

अभी एक महिला, मैं आ रहा था, उसी दिन मुझे मिलने आई। और उसने कहा कि आपकी बड़ी कृपा कि मेरे लड़के की दुकान बच गई। ठीक बगल तक, करीब तक आग आ गई थी। आग लगी दूसरे के मकान में। वह ठीक करीब तक आ गई, पर मेरे लड़के की दुकान बच गई। मिठाई लाई थी मुझे भेंट करने को। बड़ी प्रसन्न थी कि मेरे लड़के की दुकान बच गई। दस फीट तक आग आ गई थी, और सब खाक हो गया चारों तरफ। मेरे लड़के की दुकान बच गई, तो मिठाई लाई।
नहीं, जरा भी शोक न पकड़ा इस बात का कि जो मकान जल गए हैं, उनके लिए। कोई शोक न पकड़ा, क्योंकि उनसे कोई मोह न था। खुशी आई, मकानों के जलने से। खुशी आई, क्योंकि जिस मकान से मोह था, वह बच गया।
मोह सदा एक्सक्लूसिव है, वह एक्सक्लूड करता है। वह किसी के साथ होता
है और शेष को बाहर छोड़ देता है। वह कहता है, यह रही मेरी पत्नी, यह रहे मेरे पति, यह मेरा बेटा, यह मेरा मकान, यह मेरी दुकान, यह मैं, बाकी मैं नहीं हूं। तो बाकी का कुछ भी हो जाए, उससे कोई अंतर नहीं पड़ता। बस, इतना बच जाए। फिर इस मोह के भी विस्तार में निश्चित ही मात्रा कम होती चली जाती है। सबसे ज्यादा मोह हमें स्वयं से होता है, क्योंकि उससे ज्यादा मेरा कुछ भी नहीं मालूम पड़ता।
इसलिए अगर ऐसी स्थिति आ जाए कि नाव डूब रही हो, और पत्नी और पति दोनों हों और सवाल उठे कि एक ही बच सकता है, तो दोनों बचना चाहेंगे। मकान में आग लग गई हो, तो आदमी भागकर पहले बाहर निकल जाएगा, फिर सोचेगा कि अपने वाले और भी आ सके या नहीं। लेकिन आग लगी हो तब पहले स्वयं बाहर आ जाएगा।
तो मोह जो है, सर्वाधिक मैं के निकट कनसनट्रेटेड होगा, सबसे ज्यादा मैं के पास घना होगा। सबसे ज्यादा मैं के पास घना होगा। फिर जैसे-जैसे मेरे का फैलाव बढ़ेगा, वैसे-वैसे कम होता चला जाएगा। फिर परिवार पर कम होगा। फिर गांव पर और कम हो जाएगा। फिर देश पर और कम हो जाएगा। फिर मनुष्यता पर और कम हो जाएगा। और अगर कहीं और भी किन्हीं ग्रहों पर लोग होंगे, तो उनके लिए कुछ मालूम नहीं पड़ता।
वैज्ञानिक कहते हैं, कोई पचास हजार ग्रहों पर जीवन है। उनके लिए कुछ मालूम नहीं पड़ता है। मनुष्यता के लिए भी कुछ बहुत नहीं मालूम पड़ता, बहुत ज्यादा नहीं मालूम पड़ता। पाकिस्तान में सात लाख लोग मर गए, तो अपने गांव में सात भी मर जाते तो ज्यादा मालूम पड़ते सात लाख से। और अपने घर में एक भी मर जाता तो सात लाख से ज्यादा मालूम पड़ता। और अपनी एक अंगुली भी टूट जाती, तो सात लाख से ज्यादा मालूम पड़ती--कनसनट्रेटेड। जैसे-जैसे मैं के पास आएंगे, मेरा घना होता चला जाएगा। जैसे-जैसे मेरे से दूर जाएंगे, छाया विरल होती चली जाती।
मोह मैं की छाया है। जहां-जहां मैं देखता हूं कि मैं हूं, वहां-वहां मोह पकड़ जाता है। लेकिन मैंने कहा, मोह एक्सक्लूसिव होता है। वह किसी को छोड़ता है, वर्जित करता है, तभी निर्मित होता है।
इसलिए ऋषि कहता है कि जिसने समस्त भूतों को अपने में देखा! अब नान-एक्सक्लूसिव हो गया, अब सभी मेरे हैं--सभी, आल इनक्लूसिव--तो फिर मोह निर्मित नहीं हो सकता। क्योंकि अब कोई मतलब ही न रहा। सभी मेरे हैं, तो अब किसी को भी मेरे कहने का कोई प्रयोजन नहीं। मेरे कहने का प्रयोजन तभी तक था जब तक कोई तेरा भी था। कोई था, जो मेरा नहीं था। तब मैं सीमा बनाता था, रेखा खींचता था कि ये मेरे रहे। एक दीवार बना लेता था, एक सीमांत था मेरा। उसके पार वह दुनिया शुरू होती थी, जो मरे, समाप्त हो, दुख में पड़े, तो मुझे कुछ मतलब नहीं। इधर मेरी दुनिया थी, जो दुखी न हो, पीड़ित न हो। उसके दुख से मेरा दुख था।
समस्त प्राणियों में, समस्त जीवन में, समस्त भूतों में! प्राणी भी नहीं कहा है, कहा है, सर्वभूत में।
भूत का अर्थ होता है, एक्झिस्टेंट। वह सब जो है--रेत का टुकड़ा है, कण,
वह भी भूत है। जो भी है, उस सबमें अपने को जो देख लेता है, फिर उसका मोह गिर जाता है। फिर मोह नहीं बचता। मोह खड़ा हो सकता था सीमा बनाकर। अब कोई सीमा न रही। असीम मोह नहीं होता, ध्यान रखें। असीम मोह असंभव है। मोह सदा सीमा बनाकर जीता है। और जितनी बड़ी सीमा बनाता है, मैंने कहा, उतना ही विरल हो जाता है। जितनी छोटी सीमा बनाता है, उतना घना होता है। लेकिन अगर असीम हो

तो विलीन हो जाता है। और जहां मोह विलीन हो गया, वहां शोक कैसे पैदा होगा? वह मोह के बिना पैदा नहीं होता। मोह ही नहीं तो शोक भी नहीं।
तो विद्वान उसे कहते हैं उपनिषद, जो शोक और मोह के बाहर चला गया। और चला कैसे गया? समस्त भूतों में स्वयं को देखकर। भूत तो चारों तरफ मौजूद हैं। चारों तरफ अस्तित्व फैला हुआ है। लेकिन हमें कुछ दिखाई नहीं पड़ता कि मैं भी हूं वहां।
रवींद्रनाथ ने एक छोटी सी घटना लिखी है। रवींद्रनाथ ने लिखी गीतांजलि
तो प्रभु के गीत गाए। नोबल प्राइज भी मिली और सारी दुनिया में चर्चा हो गई। लेकिन रवींद्रनाथ के घर के पास-पड़ोस में ही एक बूढ़ा रहता था। वह रवींद्रनाथ को बहुत सताने लगा। वह जहां भी रवींद्रनाथ को मिल जाता, तो उनको जोर से पकड़कर कहता कि सच-सच बताओ, ईश्वर को जाना है?
गीतांजलि लिखी थी। नोबल प्राइज भी मिली। और यह एक आदमी है, हठी मालूम पड़ता है। और ईमानदार आदमी थे रवींद्रनाथ, तो झूठ बोल भी नहीं सकते थे। वह ऐसे जोर से आंख गड़ाकर, आंख में डालकर पूछता था, ईश्वर को जाना? कि हाथ-पैर कंप जाते उनके। कहां नोबल प्राइज विनर कवि! जहां भी गया, वहां सम्मान मिला; जहां भी गया, वहां लोगों ने कहा, उपनिषद के ऋषियों ने जैसा कहा है वैसा ही महर्षि है यह। और पड़ोस का एक बूढ़ा दिक्कत देने लगा! और एक आज नहीं, सुबह-सांझ नहीं, कब तक उससे बचकर निकलो! पड़ोस में ही वह बैठा रहे अपनी कुर्सी डालकर दरवाजे पर ही। बूढ़ा आदमी, उसको कोई काम भी नहीं।
रवींद्रनाथ ने लिखा है कि मेरा घर से निकलना मुश्किल कर दिया। मैं देख लूं कि वह बूढ़ा बैठा तो नहीं है! क्योंकि मैं वहां से निकला और उसने पूछा, सुनना, ईश्वर को जाना है? तो मेरे प्राण कंप जाएं, क्योंकि ईश्वर का मुझे कुछ पता नहीं। और वह खिलखिलाकर हंसे। और उसकी खिलखिलाहट मेरी नींद को खराब कर दे। और उसकी हंसी मेरा पीछा करने लगी। हांटिंग पैदा हो गई। और मुझे डर लगने लगा, भय लगने लगा। मैंने कहा, यह गीतांजलि लिखकर एक मुसीबत कर ली। यह नोबल प्राइज क्या मिली, इस बूढ़े को क्या हो गया है? उसने कभी नहीं पूछा था, कभी ध्यान नहीं दिया था इस आदमी की तरफ। लेकिन इस आदमी का इतना नाम हुआ, तो उसने पूछना शुरू कर दिया।
रवींद्रनाथ ने कहा है कि मैं ईश्वर को खोजने के लिए इतना लालायित कभी
न था, जितना उस बूढ़े से बचने के लिए लालायित हो गया। किसी तरह ईश्वर मुझे पता चल जाए और किसी दिन इस बूढ़े को मैं आश्वस्त भाव से कह सकूं कि हां मैंने जाना है।
निश्चित ही बूढ़ा कुछ जानता रहा होगा, नहीं तो इतनी हांटिंग पैदा नहीं
कर सकता था। उसकी आंखों में कुछ बात रही होगी कि रवींद्रनाथ आंख उठाकर कह न सके उसके सामने, कि गीतांजलि का एक पद दोहरा देते। पूरी गीतांजलि तो ईश्वर का ही गीत है, एक गीत दोहरा देते। नहीं दोहरा सके। वर्ष बीते और वह बूढ़ा पीछा करता ही रहा। रवींद्रनाथ ने कहा है कि जिस दिन उस बूढ़े को मैं कह पाया, उस दिन मेरे मन से ऐसा बोझ हट गया!
किस दिन कह पाए? एक दिन वर्षा के दिन थे। नई-नई वर्षा आई। आषाढ़ का महीना और पहले मेघ बरसे। डबरे, तालाब, पोखरों पर नया पानी भर गया है। सड़क के किनारे जगह-जगह गड्ढे भर गए हैं। मेंढक बोलने लगे हैं। रवींद्रनाथ सुबह ही उठे हैं, मेंढक की पुकार, वर्षा की आवाज, मिट्टी की गंध, प्राण उनके खिंचे बाहर को। देखा कि वह बूढ़ा तो नहीं है। अभी वह शायद उठा नहीं होगा। दरवाजे पर नहीं था।
वे भागे वहां से। चल पड़े समुद्र की तरफ। सूरज निकला। समुद्र के तट पर खड़े थे, सूरज निकला। समुद्र में सूरज की छाया बनी, प्रतिबिंब बना। सूरज समुद्र में झलकने लगा। दर्शन किया सूरज का, दर्शन किया प्रतिबिंब का। लौटने लगे घर को। एक-एक पोखरे में सूरज झलकता था। एक-एक छोटे से डबरे में, सड़क के किनारे गंदा पानी भरा था, वहां भी सूरज झलकता था। सब तरफ सूरज झलकता था। गंदे डबरे में भी, सागर में भी, स्वच्छ पोखर में भी, सब तरफ सूरज झलकता था। कोई धुन, कोई स्वर भीतर छिड़ गया। नाचते हुए लौटे।
वे नाचते हुए लौट रहे थे। नाच रहे थे इस बात से कि प्रतिबिंब गंदा नहीं होता। नाच रहे थे इस बात से कि सूरज का प्रतिबिंब स्वच्छतम पानी में भी पड़ा है तो भी उतना ही ताजा और स्वच्छ है, और गंदे से गंदे पानी में भी पड़

रहा है तो भी उतना ही ताजा और स्वच्छ है। प्रतिबिंब, प्रतिबिंब तो गंदा नहीं हो सकता। रिफ्लेक्शन तो कैसे गंदा होगा! गंदा पानी हो सकता है, पर जो सूरज की छाया उसमें बन रही है, जो सूरज उसमें झांक रहा है, वह तो गंदा नहीं है। वह तो बिल्कुल ताजा है, वह तो बिल्कुल स्वच्छ है। उसे तो कोई पानी गंदा नहीं कर सकता।
इस अनुभव को... यह एक बड़ा रिविलेशन है। इसका मतलब यह हुआ कि बुरे से बुरे आदमी के भीतर भी जो परमात्मा है, वह तो गंदा नहीं हो सकता। पापी से पापी के भीतर जो प्रतिबिंब है प्रभु का, वह तो उतना ही शुद्ध है, जितना पुण्यात्मा के भीतर है। इसलिए नाचते लौट रहे थे कि एक द्वार खुल गया था। नाचते लौट रहे थे, वह बूढ़ा बैठा था अपने दरवाजे पर। पहली दफा उस बूढ़े
को देखकर डर नहीं लगा। और पहली दफा उस बूढ़े ने कहा, अच्छा! तो मालूम होता है तुमने जाना। और वह बूढ़ा आया और रवींद्रनाथ को गले लगा लिया और कहा कि आज, आज तेरी मस्ती कहती है कि तूने जाना। आज तेरा आनंद कहता है कि तूने जाना। मैं तो अब तुझे पुरस्कार दे सकता हूं।
अभी कुछ कहा भी नहीं। और तीन दिन फिर रवींद्रनाथ की जिंदगी बड़ी पागल
की जिंदगी थी। घर के लोग डर गए। पर सिर्फ एक वह बूढ़ा बार-बार घर के लोगों से आकर कहने लगा, प्रसन्न होओ, आनंदित होओ। पास-पड़ोस में खबर करने लगा कि उसने जान लिया। लेकिन घर के लोग डर गए, क्योंकि रवींद्रनाथ एक अजीब काम करने लगे। खंभा मिले, तो खंभे से गले लगें। रास्ते से गाय निकल रही है, तो गाय से गले मिलें। दरख्त खड़ा है, तो दरख्त से आलिंगन कर रहे हैं। घर के लोग समझे कि पागल हो गए। वह एक बूढ़ा, वह कहने लगा कि घबराओ मत। यह पागल अब तक था, अब यह ठीक हुआ। अब इसको सर्वभूतों में दिखाई पड़ने लगा, अब इसे वही दिखाई पड़ने लगा जिसको दिखाई पड़े बिना यह सब जो गा रहा था, सब बेकार था, तुकबंदी थी। अब इसके जीवन में संगीत का जन्म हुआ। अब इसके जीवन में गीत आया है। रवींद्रनाथ ने खुद भी लिखा है कि बहुत धीरे-धीरे, धीरे-धीरे-धीरे मैं अपने को संयमी बना पाया। धीरे-धीरे-धीरे अपने को रोक पाया। नहीं तो जो मिले, लगे कि गले मिलो। प्रभु द्वार पर आ गया। तब तक मैं खोजता था कि प्रभु, तेरा द्वार कहां है? और तब जहां मैंने देखा, वहीं उसका द्वार था। अब तक मैं खोजता था कि तू छिपा कहां है? और अब मेरी मुश्किल हो गई, क्योंकि वही-वही था, और कुछ भी न था।
सर्वभूतों में दिखाई पड़ जाए जिसे स्वयं का होना या स्वयं में सर्वभूतों का होना, वही विद्वान है। और ऐसा विद्वान मोह और शोक के अतीत उठ जाता है। उसके जीवन में न दुख है, न सुख है, उसके जीवन में है आनंद। ध्यान रहे, उसके जीवन में न सुख है, न दुख, उसके जीवन में है आनंद। उसके जीवन में न मोह है, न शोक, उसके जीवन में है नृत्य। उसके जीवन में सिर्फ शुद्ध जीवन का नृत्य है। सिर्फ जीवन ही कीर्तन कर रहा है उसके जीवन में। सिर्फ जीवन का ही संगीत है। और सब, वह सब जो पीड़ा लाए, वह सब जो बांधे, वह सब जो बंधन बनाए, वह सब जो आज सुख देता मालूम पड़े, कल दुख का निमंत्रण बन जाए--वह सब उसके जीवन में नहीं है। वह दर्पण की भांति ही हो जाता है।
दर्पण में एक आखिरी बात आप से कह दूं, कभी ख्याल की हो न की हो। दर्पण
के सामने आप खड़े होते हैं, तो दिखाई पड़ते हैं कि दर्पण में हैं। हट जाते हैं, तब दर्पण तत्काल आपको छोड़ देता है। पकड़ता नहीं। इधर आप गए, उधर दर्पण खाली हुआ। जब थे, तब दिखाई पड़ते थे। जब हट गए, तो दर्पण खाली हो गया। दर्पण ने कोई मोह नहीं किया। इसलिए जब आप हटते हैं, तो दर्पण आपके दुख में चूर-चूर नहीं हो जाता। तब दर्पण खंड-खंड, टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर नहीं जाता। तब दुख में हृदय उसके टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाते। वह यह नहीं कहता कि अब हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो गए हैं। अब तुम चले गए, तुम्हारे बिना मैं कैसे जीऊंगा। थे तो बड़े सुंदर थे। थे तो बड़े अच्छे थे। थे तो बड़ी कृपा थी, बड़ा अनुग्रह था। चले गए तो कृपा में कोई अंतर नहीं। दर्पण खाली भी उतना ही आनंदित है जितना भरकर आनंदित था।
ऐसा विद्वान जीता है जगत में दर्पण की भांति। जो भी आता है सामने, प्रसन्न है। फूल आए तो आनंदित है। तो उनका प्रतिबिंब बन जाता है, तो उनमें परमात्मा को देख लेता है। कांटे आए तो आनंदित है। उनका प्रतिबिंब बन जाता है, उनमें परमात्मा को देख लेता है। नहीं कोई आया, सब खाली हो गया, तो

खालीपन भी परमात्मा है। दि वेरी एंपटीनेस--वह खालीपन, वह रिक्तता भी परमात्मा है। फिर वह उस खालीपन में भी नाच रहा है; उस खालीपन में भी प्रफुल्लित है।
आज इतना ही।
अब हम दर्पण बनने की कोशिश में लगें। कौन जाने जो रवींद्रनाथ को हुआ,
वह आज बहुतों को हो जाए! जिनको बैठना है वे सामने मेरे रहेंगे, जिनको खड़े होना है वे पीछे हट जाएं। और ध्यान रखें, कल एक-दो मित्र बीच में मेरे मना करने पर भी बाद में खड़े हो गए। मुझे मालूम है, उनको पता भी नहीं चला होगा कि कब वे खड़े हो गए, लेकिन फिर पीछे के लोग मुश्किल में पड़ जाते हैं। इसलिए अगर बीच में भी कोई खड़ा हो जाए तो तत्काल बाहर निकल जाए, बीच में न खड़ा रहे। और अभी से, पहले ही हट जाएं और चारों तरफ फैल जाएं।

ईशावास्य उपनिषद
छठवां प्रवचन

वह स्वयंभू है

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्
अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।। 8।।

वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट, और स्वयंभू है। उसी ने नित्यसिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिए यथायोग्य रीति से अर्थों का विभाग किया है।। 8।।

उस आत्मतत्व के लिए, उस आत्मतत्व के स्वभाव के लिए कुछ सूचनाएं इस सूत्र में हैं।
सबसे पहली--वह आत्मतत्व स्वयंभू है। इस जगत में अस्तित्व के अतिरिक्त
और कुछ भी स्वयंभू नहीं है। स्वयंभू का अर्थ है, सेल्फ ओरिजिनेटेड। स्वयंभू का अर्थ है, जो किसी और के द्वारा पैदा नहीं किया गया। स्वयंभू का अर्थ है, जो किसी और के द्वारा सृजा नहीं गया। जो स्वयं ही हुआ है। जिसका होना स्वयं से ही निकला है। जिसका अस्तित्व किसी और के हाथ में नहीं। जिसका अस्तित्व स्वयं में ही निर्भर है। आत्मतत्व स्वयंभू है, यह पहली बात ख्याल में ले लेनी चाहिए।
हम जिन चीजों को देखते हैं, वे निर्मित हो सकती हैं। जो-जो निर्मित हो सकता है, जो भी बनाया जा सकता है, वह आत्मतत्व नहीं होगा। एक मकान हम बनाते हैं। मकान स्वयंभू नहीं है, निर्मित है। एक यंत्र हम बनाते हैं, स्वयंभू नहीं है, निर्मित है। हमने बनाया। उस तत्व को खोजें, जो हमने नहीं बनाया है, जो किसी ने भी नहीं बनाया है। जो अनबना है, अनक्रिएटेड है। उस तत्व का नाम ही आत्मतत्व है। यदि हम जगत के अस्तित्व में खोजते हुए वहां तक पहुंच जाएं, उस आधार को पकड़ लें, जिसे किसी ने भी नहीं बनाया, जो है सदा से, अनबना, स्वयं ही, तो हम परमात्मा को पा लेंगे। और अगर हम अपने भीतर प्रवेश करें और खोजते चले जाएं और वहां पहुंच जाएं, जो अनबना है, स्वयं है, तो हम आत्मा को पा लेंगे।
आत्मा और परमात्मा दो बातें नहीं हैं। एक ही वस्तु को दो दिशाओं से दिए गए नाम हैं। अगर आपने स्वयं में खोजा तो उस अनिर्मित, असृष्ट, स्वयंभू तत्व का नाम आत्मा है। और अगर आपने पर में खोजा और पाया, तो उस तत्व का नाम परमात्मतत्व है। आत्मा परमात्मा ही है--भीतर की तरफ से पकड़ी गई। परमात्मा आत्मा ही है--बाहर की तरफ से खोजा गया।
स्वयं में यदि हम प्रवेश करें, तो यह शरीर सृष्ट है। यह आपके मां और पिता के सहयोग के बिना निर्मित नहीं होता। या कल टेस्टट्यूब में भी निर्मित हो सके, तो भी सृष्ट ही होगा। इसलिए पश्चिम के वैज्ञानिक, जीवशास्त्री आज नहीं कल अपने दावे को पूरा कर लेंगे। वे शरीर को निर्मित कर लेंगे। शरीर को निर्मित करने से उन्हें लगता है कि शायद वे आत्मवादियों को आखिरी पराजय दे देंगे।
वे भूल में हैं, क्योंकि आत्मवादी ने कभी आग्रह किया नहीं कि यह शरीर आत्मा है। आत्मवादी कहता है, जो असृष्ट है, वही आत्मा है। शरीर का सृजन करके वे इतना ही सिद्ध करेंगे कि शरीर आत्मा नहीं है। शरीर किसी दिन निर्मित हो जाएगा। मैं इसमें कोई कारण नहीं देखता हूं कि निर्मित क्यों नहीं हो जाएगा। बहुत से आत्मवादी भी डरे हुए होते हैं कि जिस दिन टेस्टट्यूब में, लेबोरेटरी में, प्रयोगशाला में शरीर निर्मित हो जाएगा, उस दिन आत्मा का क्या होगा? जिस दिन हम बच्चे को बिना मां-बाप की सहायता के, केमिकल, रासायनिक व्यवस्था से निर्मित कर लेंगे और वह ठीक मनुष्य जैसा खड़ा हो जाएगा, फिर उस दिन तो आत्मा नहीं है, सिद्ध हो गया!

उन आत्मवादियों को भी पता नहीं है कि आत्मवाद ने कभी शरीर को आत्मा कहा नहीं। किसी दिन वैज्ञानिक अगर यह कर सके, तो उससे सिर्फ उपनिषद का यह सूत्र ही सिद्ध होगा कि देखो, यह शरीर भी आत्मा नहीं है। इतना ही सिद्ध होगा, और कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।
अभी भी हम जानते हैं कि शरीर आत्मा नहीं है। अभी भी प्राकृतिक व्यवस्था से वह निर्मित होता है। कल कृत्रिम और वैज्ञानिक व्यवस्था से निर्मित हो सकेगा। आज भी जब मां और पिता के रासायनिक तत्व मिलकर उस अणु का निर्माण करते हैं जो शरीर का पहला घटक है, तो आत्मा उसमें प्रवेश करती है। कल अगर विज्ञान की प्रयोगशाला में वह घटक, वह सेल निर्मित हो गया, वह जैनेटिक सिचुएशन, वह स्थिति पैदा हो गई, जो मां-बाप के द्वारा पैदा होती रही है अब तक, तो वहां आत्मा प्रवेश कर जाएगी। लेकिन वह कोष्ठ, रासायनिक कोष्ठ, जो शरीर का पहला घटक है, वह आत्मा नहीं है। वह निर्मित है। स्वयंभू नहीं है। किसी के द्वारा बना है। किसी के ऊपर उसका होना निर्भर है। इसलिए उसे आत्मतत्व कहने को आत्मज्ञानी तैयार नहीं होंगे। वह आत्मतत्व नहीं है। और पीछे चलना पड़ेगा, और गहरे उतरना पड़ेगा।
तो मैं तो खुश होता हूं कि विज्ञान जितने जल्दी शरीर को निर्मित कर ले उतना अच्छा है। जितने जल्दी विज्ञान शरीर को निर्मित कर ले उतना अच्छा है। क्योंकि तब हमें जो शरीर के साथ तादात्म्य है, उसे तोड़ने में सहायता मिलेगी। तब हम ठीक ही जान पाएंगे कि शरीर एक यंत्र है, अब शरीर को स्वयं मानना नासमझी है। अभी भी नासमझी है, लेकिन अभी हमें पता नहीं चलता है कि शरीर यंत्र है। अभी भी यंत्र है। यह प्रकृति से उत्पन्न है। फिर हम प्रकृति के राज को समझकर स्वयं निर्माण कर लेंगे। तब शरीर के साथ तादात्म्य तोड़ने में सहयोग मिलेगा। स्वयं के भीतर प्रवेश करके उस जगह तक पहुंचना है, जिसे निर्मित न किया जा सके। और जहां तक निर्मित किया जा सके, वहां तक जानना कि आत्मतत्व नहीं है।
इसलिए विज्ञान जितने गहरे तक निर्माण कर ले, उतना धर्म के पक्ष में है। क्योंकि उतने दूर तक तय हो गया कि आत्मतत्व नहीं है, आत्मतत्व और आगे है। आत्मतत्व सदा ही, जहां तक निर्माण होगा, उसके बियांड, उसके पार, उसके अतीत है।
तो विज्ञान की बड़ी कृपा है कि वह निर्माण करता चला जाए। जहां तक निर्माण हो जाएगा वहां तक सीमा निर्धारित हो जाएगी कि अब यहां तक तो आत्मतत्व नहीं है। क्योंकि आत्मतत्व हम कहते ही स्वयंभू को हैं, जो अनिर्मित है, जो निर्मित नहीं हो सकता।
इस स्वयंभू का अर्थ, मूल में जो है। निश्चित ही, इस अस्तित्व के होने
के लिए कहीं कोई आधारभूत, अल्टीमेट, आत्यंतिक तत्व तो चाहिए, जो अनिर्मित हो। अगर हर चीज को निर्मित होने की जरूरत पड़े, तो निर्माण असंभव हो जाएगा। कहें कि जगत को बनाने के लिए परमात्मा की जरूरत है। फिर कहें कि परमात्मा को बनाने के लिए फिर किसी और परमात्मा की जरूरत है। फिर इस जरूरत का कोई अंत नहीं होगा। कहीं वह जगह न आएगी, जहां हम कह सकें कि बस ठीक है, यहां वह जगह आ गई, जिसके निर्माण की किसी को जरूरत नहीं है।
इसे ऐसा समझें तो और भी अच्छा और वैज्ञानिक होगा। आत्मतत्व स्वयंभू है, ऐसा न कहकर, ज्यादा वैज्ञानिक होगा कहना कि हम कहें, जो स्वयंभू है वह आत्मतत्व है। ऐसा न कहकर कि परमात्मा को किसी ने नहीं बनाया, यह कहना ज्यादा वैज्ञानिक होगा कि जिसे किसी ने नहीं बनाया है, जो अनबना है, हम उसे ही परमात्मा कहते हैं।
विज्ञान को भी अनुभव होता है। जगह-जगह सीमा आ जाती है और लगता है कि इसके पार जो है, वह निर्माण के बाहर है। जैसे अभी, विज्ञान निरंतर सोचता था, खोजता था तत्वों को, एलिमेंट्स को, तो पुराने वैज्ञानिक कहते थे, पांच तत्व हैं। पुराने धार्मिक नहीं, क्योंकि धार्मिक को तत्वों से प्रयोजन ही नहीं है। धार्मिक को तो सिर्फ एक से ही प्रयोजन है, स्वयंभू तत्व से। पुराने ढब के, पुराने ढंग के, चार या पांच हजार साल का पुराना जो वैज्ञानिक चिंतन था, वह कहता था, पंचतत्व से निर्मित है सब। गलती यह हो गई कि उन दिनों में कोई विज्ञान की किताबें अलग नहीं होती थीं, धर्म की किताबों में ही सब कुछ लिखा जाता था। धर्म की किताबें उस समय के ज्ञान का समुच्चय हैं। इसलिए

यह बात भी कि पंचतत्वों से सब निर्मित है, धर्म की किताबों में उपलब्ध है। लेकिन यह बात वैज्ञानिक है, यह बात धार्मिक नहीं है। धर्म को तो एक ही तत्व की खोज है--स्वयंभू तत्व की।
फिर विज्ञान खोज करता चला गया। उसने पाया कि पांच तत्वों का सिद्धांत गलत है। जब विज्ञान ने यह पाया कि पंचतत्व का सिद्धांत गलत है, तो नासमझ धार्मिक बड़े परेशान हुए। उन्होंने समझा कि सब गड़बड़ हो गई। क्योंकि हम तो मानते थे, पंचतत्व हैं। विज्ञान धीरे-धीरे नए तत्व खोजता चला गया और एक सौ आठ तक संख्या पहुंच गई।
लेकिन विज्ञान की नई खोज सिर्फ पुराने विज्ञान को गलत करती है। विज्ञान की कोई खोज धर्म को गलत नहीं कर सकती। उसका कारण है कि दोनों के आयाम अलग हैं। कोई कितनी ही अच्छी कविता निर्मित कर ले, किसी गणित के सिद्धांत को गलत नहीं कर सकता। कविता और गणित की कोई संगति नहीं है। कोई कितना ही गणित का गहरा सिद्धांत खोज ले, उससे कोई कविता गलत नहीं होने वाली है। क्योंकि काव्य का आयाम अलग है। वे कहीं कटते नहीं। वे कहीं एक-दूसरे को आर-पार नहीं करते। वे छूते भी नहीं। ये सब आयाम पैरेलल, रेल की पटरियों की तरह दौड़ते हैं समानांतर। कहीं अगर मिलते हुए मालूम पड़ते हैं, तो वह आपकी भ्रांति है। जब आप वहां जाएंगे तो पाएंगे, वे कहीं नहीं मिलते, वे समानांतर दौड़ते ही चले जाते हैं। रेल की पटरियों की तरह मिलने का भ्रम हो सकता है।
विज्ञान जब भी किसी चीज को गलत करता है, तो वह पुराने विज्ञान को गलत करता है। अगर विज्ञान ने कहा कि जमीन चपटी नहीं है, जमीन गोल है, तो ईसाइयत बहुत घबरा गई। क्योंकि बाइबिल में लिखा है कि जमीन चपटी है। लेकिन बाइबिल में जो लिखा है, जमीन चपटी है, यह बाइबिल के जमाने के वैज्ञानिकों की घोषणा है। यह कोई धार्मिक घोषणा नहीं है। इसलिए अगर विज्ञान ने खोज कर ली कि जमीन गोल है, तो ठीक है, पुरानी बात गलत हो गई। लेकिन पुराना विज्ञान गलत हुआ।
विज्ञान कभी भी धर्म को गलत नहीं कर सकता और न धर्म कभी विज्ञान को गलत कर सकता है। उनका कोई संबंध नहीं है। उनका कोई लेन-देन नहीं है। उनके बीच कोई कम्युनिकेशन भी नहीं है, वह आयाम ही भिन्न है। वे दिशाएं बिल्कुल अलग हैं।
यह पांच तत्वों की खोज एक सौ आठ तत्वों तक चली गई थी और विज्ञान ने पाया कि पुराने पांच तत्व गलत ही थे। गलत ही थे। असल में जिनको पहले तत्व कहा था, वे तत्व नहीं थे, कंपाउंड्स थे, एलीमेंट्स नहीं थे। जैसे मिट्टी, अब मिट्टी में हजार तत्व हैं। कोई मिट्टी में एक तत्व नहीं है। जैसे पानी, तो पानी में, अब विज्ञान कहता है, दो तत्व हैं, हाइड्रोजन और आक्सीजन। एक तत्व नहीं है पानी। पानी दो तत्वों का जोड़ है। जोड़ को विज्ञान तत्व नहीं कहता, संयोग कहता है, जोड़ कहता है। तो पानी तो कोई तत्व नहीं रहा। आक्सीजन और हाइड्रोजन तत्व हो गए। इस तरह एक सौ आठ तत्व विज्ञान ने खोज लिए। लेकिन फिर विज्ञान को भी धीरे-धीरे, जैसे-जैसे गहरी खोज हुई, एक बात ख्याल में आने लगी कि इन सब तत्वों के, एक सौ आठ तत्वों के घटक समान हैं। हाइड्रोजन हो कि आक्सीजन हो, उन दोनों का निर्माण विद्युत से ही होता है। तो फिर तो, फिर तो इसका मतलब हुआ कि हाइड्रोजन और आक्सीजन भी तत्व नहीं रह गए। तत्व तो विद्युत हो गई, इलेक्ट्रिसिटी हो गई। विद्युत के ही कुछ कणों का जोड़ हाइड्रोजन बनता है और कुछ कणों का जोड़ आक्सीजन बनता है। और ये एक सौ आठ तत्व विद्युत के ही कणों के जोड़ हैं। अगर तीन कण होते हैं, तो एक तत्व बन जाता है। दो कण होते हैं, तो एक तत्व बन जाता है। चार होते हैं, तो एक तत्व बन जाता है। लेकिन वे तीन हों कि चार हों कि दो हों, वे सभी इलेक्ट्रान्स हैं, बिजली के कण हैं। तो फिर विज्ञान को एक नई अनुभूति हुई और वह यह हुई कि तत्व तो सिर्फ विद्युत है, एक। बाकी ये एक सौ आठ तत्व भी गहरे में कंपाउंड हैं। ये भी जोड़ हैं। ये भी तत्व नहीं हैं। ये भी मूल नहीं हैं।
आज जो विज्ञान की स्थिति है उसमें वह यह मानने को तैयार हो गया है कि विद्युत अनिर्मित है--स्वयंभू है। और विद्युत एकमात्र तत्व है, जिससे सारा फैलाव है। विद्युत, चूंकि कंपाउंड नहीं है, मिला हुआ नहीं है दो तत्वों से, इसलिए अनिर्मित है। तत्व कहता विज्ञान उसे है, जो स्वयंभू है।

तो अब विज्ञान कहता है कि विद्युत स्वयंभू तत्व है। वह नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि जो चीज जोड़कर बन सकती है, वह बनाई जा सकती है। दो चीजों को आप जोड़ देंगे, तीसरी चीज बन जाएगी। तीन चीजों को जोड़ देंगे, चौथी चीज बन जाएगी।
लेकिन मौलिक तत्व, जो ओरिजिनल एलीमेंट है, जो बिना जोड़ का है, उसको आप कैसे बनाएंगे? उसको बना भी नहीं सकते, मिटा भी नहीं सकते। अगर हमें पानी को मिटाना हो, हम मिटा सकते हैं। हाइड्रोजन और आक्सीजन को अलग कर देंगे, पानी मिट जाएगा, क्योंकि वह जोड़ है। अगर हमें हाइड्रोजन को मिटाना है, तो हम उसे भी मिटा देंगे। अगर हमने उसके विद्युत के कणों को अलग कर दिया-- जिसको हम एटामिक एनर्जी कहते हैं, वह सिर्फ विद्युत के कणों को अलग करना है--तो हाइड्रोजन मिट जाएगी, हाइड्रोजन नहीं बचेगी। सिर्फ विद्युत ऊर्जा रह जाएगी। सिर्फ शक्ति रह जाएगी। लेकिन उस शक्ति को हम नहीं मिटा सकते, क्योंकि उसमें दो का जोड़ नहीं है, जिनको हम अलग कर सकें। हम सिर्फ इतना ही कर सकते हैं, या तो चीजों को जोड़ सकते हैं या तोड़ सकते हैं। सृजन नहीं कर सकते। तो तत्व वह है, जो असृजित है, जिसका हम सृजन नहीं कर सकते।
विज्ञान अभी कहता है कि इलेक्ट्रिसिटी, विद्युत ऊर्जा स्वयंभू तत्व है। लेकिन धर्म कहता है, आत्मतत्व स्वयंभू है। कोई हैरानी न होगी कि आज नहीं कल विज्ञान की और खोज विद्युत को भी तोड़ ले। और हम पाएं कि विद्युत भी स्वयंभू नहीं है। क्योंकि पहले हम पाते थे कि पानी तत्व है, फिर हमने तोड़ा तो पाया कि हाइड्रोजन और आक्सीजन तत्व है, पानी तत्व नहीं है। फिर हमने हाइड्रोजन को भी तोड़ लिया तो पाया कि हाइड्रोजन भी तत्व नहीं है, विद्युत तत्व है। अभी विद्युत या तो आत्मतत्व और विद्युत एक ही चीज सिद्ध हों, और या फिर विद्युत भी टूट जाए और हमें पता चले कि वह भी तत्व नहीं है। जहां तक मेरी समझ है, विद्युत भी टूट सकेगी। और जिस दिन विद्युत टूटेगी उस दिन हम पाएंगे कि चेतना, कांशसनेस, विद्युत के टूटते ही... ।
अब यह बहुत मजे की बात है कि पत्थर को कोई भी नहीं कह पाएगा कि एनर्जी है, शक्ति है। पत्थर पदार्थ है। पुराना भेद हमारा है मैटर और एनर्जी का, पदार्थ और शक्ति का। पदार्थ--पत्थर है पदार्थ। लेकिन जब पत्थर को तोड़ा गया, तोड़ा गया, और एनालिसिस, और विश्लेषण, और जब अंतिम जाकर अणु का विस्फोट हुआ, तो पदार्थ खो गया, बची ऊर्जा। और विज्ञान को एक पुराना जो निरंतर का द्वैत था, वह समाप्त कर देना पड़ा। मैटर और एनर्जी का जो पुराना द्वैत था कि एक है पदार्थ और एक है शक्ति, वह समाप्त कर देना पड़ा। पदार्थ के टूटने पर पता चला कि पदार्थ नहीं है, सिर्फ शक्ति ही है। मैटर इ.ज एनर्जी। कहना पड़ा कि पदार्थ ही ऊर्जा है। अब पदार्थ जैसी कोई चीज नहीं है।
आज विज्ञान की जो नवीनतम शोध है, उसमें पदार्थ जैसी कोई भी चीज नहीं है। पदार्थवादी को बहुत सचेत हो जाना चाहिए। अब पदार्थ जैसी कोई चीज ही नहीं, सिर्फ ऊर्जा है। जब तक पदार्थ के नीचे हम नहीं उतरे थे, तब तक दो चीजें थीं। पदार्थ था और ऊर्जा थी। निश्चित ही, एक पत्थर को उठाएं हाथ में और फिर बिजली के तार को छुएं, तो फर्क पता चलेगा। पत्थर को हाथ में उठाएं और बिजली के तार को छुएं, तो पत्थर पदार्थ मालूम होता है और बिजली के तार से जो बहती है वह ऊर्जा है। दोनों में बड़ा भेद है।
लेकिन अब विज्ञान कहता है कि पत्थर को भी तोड़ दें हम, तो आखिर में वही ऊर्जा मिल जाती है, जो बिजली के तार से बहती है। उसी को तोड़कर तो हिरोशिमा में हमने एक लाख आदमी मारे। वह बिजली का धक्का है। पदार्थ के विखंडन से, एक छोटे से अणु के विस्फोट से इतनी ऊर्जा पैदा हुई कि हिरोशिमा में एक लाख और नागासाकी में एक लाख बीस हजार आदमी मरे। बड़ी से बड़ी बिजली को भी छूकर इतने आदमी नहीं मर सकते। एक छोटे से कण से इतनी बिजली पैदा हुई। लेकिन वह कण खो गया बिजली होकर। तो अब विज्ञान कहता है कि हमारा पुराना जो द्वैत था-- पदार्थ और ऊर्जा का--वह नष्ट हो गया। अब तो ऊर्जा है।
अब मैं आपसे कहता हूं कि एक और अभी भेद रह गया है, ऊर्जा और चेतना का। एनर्जी और कांशसनेस का। बिजली को हम छूते हैं, तो पता लगता है, शक्ति है। लेकिन जब एक आदमी से हम बात करते हैं, तो सिर्फ इतना ही नहीं लगता कि यह शक्ति है--चेतना भी मालूम पड़ती है। बिजली दौड़ रही है, यह टेपरिकार्डर बोलेगा, तो टेपरिकार्डर वही बोलेगा जो मैं बोल रहा हूं। लेकिन जब

टेपरिकार्डर बोलेगा तो सिर्फ ऊर्जा है। लेकिन जब मैं बोल रहा हूं तो सिर्फ ऊर्जा नहीं है, चेतना भी है। इसलिए टेपरिकार्डर अदल-बदल नहीं कर सकेगा। जो मैंने बोला है, वही बोलेगा। और मैं चाहूं भी तो कल यह नहीं बोल सकूंगा जो आज बोल रहा हूं। क्योंकि मैं कोई यंत्र नहीं हूं। मुझे खुद भी पता नहीं है कि इस वचन के बाद कौन सा वचन निकलेगा। जब आप सुनेंगे तभी मैं भी सुनूंगा।
चेतना और ऊर्जा का फासला अभी कायम है। कहना चाहिए कि पुराना जो था जगत, वह द्वैत नहीं था, त्रैत था--पदार्थ, ऊर्जा, चेतना; मैटर, एनर्जी, कांशसनेस--वह त्रैत था। उसमें से एक तो गिर गया। पदार्थ गिर गया। अब द्वैत रह गया--ऊर्जा और चेतना। पदार्थ को गहरे में खोजने से पदार्थ नष्ट हो गया और हमने पाया कि ऊर्जा है। और मैं आपसे कहता हूं कि ऊर्जा को गहरे में खोजने से ऊर्जा भी गिर जाएगी, और हम पाएंगे कि चेतना है। उस चेतना का नाम आत्मतत्व है। जहां सब गिर जाएगा, न पदार्थ होगा, न ऊर्जा होगी, सिर्फ कांशसनेस।
इसलिए हमने उस परम तत्व को सच्चिदानंद कहा है। तीन शब्दों का उपयोग किया है उस आत्मतत्व के लिए। सत--सत का अर्थ होता है एक्झिस्टेंट, जो है। और जो कभी नहीं नहीं होता, जो सदा है। सत का अर्थ है, जो सदा है। जो कभी भी ऐसी स्थिति में नहीं होता कि आप कह सकें, नहीं है। है ही। सब कुछ बदलता चला जाए, वह है ही। चित का अर्थ होता है--चैतन्य, कांशसनेस। वह अकेला है ही, ऐसा ही नहीं, उसे पता भी है कि मैं हूं। एक चीज हो सकती है, एक पत्थर पड़ा है, वह है। तब वह सिर्फ एक्झिस्टेंट है। लेकिन इस पत्थर को यह भी पता है कि मैं हूं, तब वह चित भी है। तब वह कांशसनेस भी है। और तीसरा शब्द हम कहते हैं, आनंद। इतना ही नहीं कि वह आत्मतत्व है, इतना ही नहीं कि वह चैतन्य है, इतना ही नहीं कि वह है और उसे पता है कि मैं हूं। इतना भी कि जैसे ही उसे पता चलता है कि हूं, मैं हूं, उसे यह भी पता चलता है कि मैं आनंद हूं।
इस आत्मतत्व को स्वयंभू कहा है इस सूत्र में। उसे किसी ने बनाया नहीं है। उसे कोई मिटा नहीं सकेगा। इसीलिए--ध्यान रहे--स्वयंभू है, इसीलिए अमृत है। जो चीज बनेगी, वह मिटेगी। जो चीज निर्मित होगी, वह नष्ट होगी। कोई निर्माण शाश्वत नहीं हो सकता। कोई निर्माण नित्य नहीं हो सकता।
सब निर्मितियां समय में बनती हैं और समय में मिट जाती हैं। असल में जिस चीज का भी जन्म होगा, वह मरेगी। कितना ही मजबूत बनाएं, थोड़ी देर लगेगी मिटने में, लेकिन मिटेगी। महल चाहे कागज के पत्तों के बनाए जाएं--गिर जाते हैं। और चाहे सख्त पत्थर के बनाए जाएं--गिर जाते हैं। और चाहे फौलाद के बनाए जाएं--तो गिर जाते हैं। हां, देर लगती है, समय लगता है। ताश के पत्तों के घर को हवा का एक झोंका गिरा देता है। पत्थर की दीवारों के महलों को हवा के लाखों झोंके गिरा पाते हैं, लेकिन गिरा देते हैं। मात्रा का फर्क पड़ता है।
ताश के पत्तों के घर में और पत्थर के महलों में जो फर्क है, वह मात्रा
का फर्क है कि कितने हवा के झोंके गिरा पाएंगे। बुनियादी अंतर नहीं है। क्योंकि ताश का घर भी बनाया गया है इसलिए गिरेगा, और महल भी बनाए गए हैं इसलिए गिरेंगे। जहां एक छोर पर निर्माण होगा, वहां दूसरे छोर पर विध्वंस होगा।
स्वयंभू है, इसलिए आत्मतत्व अमृत है। क्योंकि एक छोर पर कभी बना नहीं इसलिए दूसरे छोर पर कभी मिटेगा नहीं। तो स्वयंभू में एक बात तो है कि अनिर्मित है और दूसरी बात है कि अमृत है, इम्मार्टल है, नष्ट नहीं हो सकता। यह भी आपसे कह दूं कि इससे विज्ञान भी राजी होता है कि जो तत्व दो से मिलकर बना है, वह मिटेगा। जो तत्व एक से बना है, वह नहीं मिट सकता। उसके मिटने का कोई उपाय नहीं है। क्योंकि उसके बनने का कोई उपाय नहीं है। बनाना हो तो चीजें मिलानी पड़ती हैं। मिटाना हो तो अलग कर देनी पड़ती हैं। बनाना जोड़ना है, मिटाना बिखराना है। लेकिन जो तत्व इकहरा है, जिसमें कोई दूसरा तत्व नहीं है, उसको मिटाया नहीं जा सकता है। उसको मिटाएंगे कैसे? उसे तोड़ा नहीं जा सकता। वह दो होता तो टूट जाता। वह एक ही है। वह सदा रहेगा।
तत्व स्वयंभू होगा और तत्व अमृत होगा। उस तत्व को उपनिषद आत्मतत्व कहते हैं। फिर कुछ और बातें भी गिनाई हैं जो इसके बाद अनिवार्य हैं।

कहा है कि वह स्वयंभू आत्मतत्व सर्वज्ञ है।
सर्वज्ञ का क्या अर्थ होगा? सर्वज्ञ के दो अर्थ हो सकते हैं। और आमतौर
से जो गलत अर्थ होगा दो में, वही प्रचलित है। अक्सर ऐसा होता है कि जो चीज प्रचलित होती है, अक्सर गलत होती है। ज्ञान इतना गूढ़ है कि बहुत प्रचलित नहीं होता। अज्ञान सबकी समझ में आ जाता है, सहज प्रचलित हो जाता है। सर्वज्ञ का एक अर्थ तो होता है, आल नोइंग--सब कुछ जानता है। यही अर्थ प्रचलित है। इसलिए जैसे उदाहरण के लिए जैनों ने महावीर को सर्वज्ञ कहा है। कहा था इसीलिए कि जब आत्मतत्व जान लिया गया तो आदमी सर्वज्ञ हो गया। क्योंकि आत्मतत्व का लक्षण है सर्वज्ञ होना--सब जान लिया। महावीर ने खुद कहा है, जिसने एक को जाना उसने सब जान लिया। तो फिर ठीक है, महावीर ने सब जान लिया। तो फिर पीछे अनुयायी जो है, वह सोचता है कि महावीर को यह भी पता होगा कि साइकिल का पंक्चर कैसे जोड़ा जाता है। लेकिन महावीर को साइकिल का भी कोई पता नहीं। तो फिर महावीर को पता होना चाहिए कि हवाई जहाज कैसे बनाया जाता है।
सर्वज्ञ का अगर यह अर्थ लिया, तो बड़ी भ्रांति होती है और इससे बड़ी तकलीफें हुईं। महावीर को जिस दिन इस तरह सर्वज्ञ माना जैनों ने, उसी दिन तकलीफ में पड़ गए। फिर उनकी इस बात की बुद्ध ने बहुत मजाक उड़ाई। बुद्ध ने बहुत जगह बहुत मजाक उड़ाई है। और महावीर के सर्वज्ञता की मजाक अनुयायियों की मजाक है। क्योंकि अनुयायियों ने जो दावा करना शुरू किया वह यह है कि महावीर सब जानते हैं। तो बुद्ध ने बहुत जगह मजाक में कहा है कि मैंने सुना है कि किसी के संबंध में कुछ लोग दावा करते हैं कि वे सर्वज्ञ हैं। लेकिन उन्हें मैंने ऐसे घर के सामने भीख मांगते देखा है जिस घर में कोई था ही नहीं। पीछे पता चला कि घर खाली है। उन्हें मैंने सुबह के धुंधले अंधेरे में चलते हुए देखा है और सुना है कि कुत्ते की पूंछ पर पैर पड़ गया तब उन्हें पता चला कि कुत्ता रास्ते में सोया हुआ है। यह बुद्ध ने मजाक उड़ाई है सर्वज्ञता के उस अर्थ की। सर्वज्ञता का वह अर्थ नहीं है। बुद्ध ने कहा है कि जिन्हें लोग सर्वज्ञ कहते हैं उनके संबंध में मैंने सुना है कि वह भी गांव के बाहर आकर लोगों से पूछते हैं कि यह रास्ता कहां जाता है! तो यह ठीक है, महावीर को भी पूछना पड़ता है कि रास्ता कहां जाता है। लेकिन यह मजाक महावीर की नहीं है। महावीर का ऐसा कोई दावा नहीं है। दावेदार अनुयायी हैं, जो कहते हैं कि उनके महावीर सब जानते हैं। कौन सा रास्ता कहां जाता है, यह भी जानते हैं।
नहीं, सर्वज्ञ का दूसरा ही अर्थ है, बहुत निगेटिव। यह बहुत पाजिटिव अर्थ गलत है। यह बहुत विधायक--सब जानते हैं। नहीं, सर्वज्ञ का निषेधात्मक अर्थ है कि जानने को कुछ शेष नहीं रहता। सर्वज्ञ का अर्थ है कि जानने को कुछ शेष नहीं रहता। ऐसा कुछ नहीं बचता जो जानने योग्य है। रास्ता कहां जाता है, यह भी कोई जानने योग्य बात है? घर में कोई है या नहीं, यह भी कोई जानने योग्य बात है? न जाना तो हर्ज क्या है! रास्ते पर कुत्ता सोया है या नहीं सोया है, यह भी कोई जानने योग्य बात है? न जाना तो हर्ज क्या है! सर्वज्ञ का मेरी दृष्टि में जो अर्थ है वह यह कि ऐसा कुछ भी नहीं बचता आत्मतत्व में, जो जानने योग्य है और न जान लिया गया हो। जो भी जानने योग्य है वह जान लिया गया, आत्मा को जानते ही--आल दैट इ.ज वर्थ नोइंग। कामचलाऊ जगत में बहुत सी बातें मालूम पड़ती हैं कि जानने योग्य हैं, लेकिन क्या फर्क पड़ता है। सर्वज्ञ का मेरे लिए जो अर्थ है वह है, ऐसा कुछ भी नहीं बचा जो जानने योग्य है। ऐसा कुछ भी नहीं बचा, जिसके कारण जीवन के आनंद में रत्तीभर भी फर्क पड़ता हो। ऐसा कुछ भी जानने को नहीं बचा, जिससे सच्चिदानंद होने में कोई भी भेद पड़ता है। रास्ता यह बाएं जाता है, तो पहुंचता होगा कहीं। यह रास्ता दाएं जाता है, तो पहुंचता होगा कहीं। लेकिन इससे सच्चिदानंद स्वरूप में कोई फर्क नहीं पड़ता है। और महावीर भटक भी जाएं और गलत गांव पहुंच जाएं, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता है। क्योंकि ठीक मंजिल पर पहुंचा हुआ आदमी कहीं भी भटके, क्या फर्क पड़ता है! और हम जो कि ठीक मंजिल पर नहीं पहुंचे, बिल्कुल ठीक गांव भी पहुंच जाएं, तो क्या होने को है? और हमें सब रास्ते बिल्कुल ठीक-ठीक पता हैं, हम बिल्कुल पीड़ब्लूड़ी. नक्शा हैं, तो भी क्या फर्क पड़ता है?

तो सर्वज्ञ का मैं अर्थ करता हूं... और मैं जानता हूं कि सर्वज्ञ का ऐसा अर्थ न किया जाए तो मखौल हो जाता है, मजाक हो जाती है। तो महावीर को बहुत मखौल व्यर्थ झेलनी पड़ी उनके पीछे चलने वाले लोगों की वजह से। क्योंकि उन्होंने जो दावे किए, वे बेमानी थे। वह इसलिए अब बड़ी तकलीफ है उनको।
अभी जैसे कि पहली दफा अंतरिक्ष यात्री चांद पर उतरे, तो जैन साधुओं को बड़ा कष्ट हुआ। कष्ट हुआ, क्योंकि वे कहते हैं कि उनके शास्त्र में लिखा है कि चांद कैसा है। चांद वैसा नहीं पाया गया। और शास्त्र को वे मानते हैं, उन्होंने कहा है जो सर्वज्ञ थे, तो उनकी बात गलत हो ही नहीं सकती! तो जैन साधुओं ने यहां तक कहा कि ये भ्रांति में हैं लोग कि चांद पर उतर गए हैं। ये चांद पर नहीं उतरे, बल्कि चांद के इस तरफ देवताओं के जो वाहन ठहरे रहते हैं, बैलगाड़ियां, रथ, ये उन पर उतर गए हैं। और वहीं से लौट आए हैं, ये चांद पर नहीं उतरे हैं।
एक जैन मुनि ने तो पैसा इकट्ठा करना शुरू कर दिया--और नासमझ मिल गए जिन्होंने लाखों रुपया भी दिया--यह सिद्ध करने के लिए कि वह सिद्ध करेंगे एक प्रयोगशाला में कि ये किसी देवता के वाहन पर उतरकर लौट आए वापस, चांद तक नहीं पहुंचे। चांद पर पहुंचेंगे तो चांद वैसा ही होगा जैसा हमारे शास्त्र में लिखा है, क्योंकि वह शास्त्र सर्वज्ञ का कहा हुआ है।
अगर ऐसा दावा किया तो वह शास्त्र दो कौड़ी का हो जाएगा। तुम्हारी नासमझी की वजह से वह शास्त्र दो कौड़ी का हो जाएगा। अगर तुम्हारे शास्त्र में कहीं भी कहा हुआ है कि चांद कैसा है और गलत होता है, तो वह शास्त्र का वक्तव्य उस जमाने के वैज्ञानिक का वक्तव्य है, आत्मज्ञानी का नहीं। और आत्मज्ञानी को क्या मतलब है कि वह वक्तव्य दे कि चांद पर किस तरह के पत्थर हैं और नहीं हैं। और अगर देता भी हो ऐसा वक्तव्य, तो वह आत्मज्ञानी की हैसियत से दिया गया नहीं है। पर इससे बड़ी मुश्किल होती है।
अब आइंस्टीन जैसा विचारक है, गणितज्ञ है। पर गणितज्ञ होने पर ही पूरा समाप्त थोड़े ही है, उसकी जिंदगी में और भी बहुत कुछ है। जब वह ताश खेलता है, तब गणितज्ञ नहीं है। और जब किसी स्त्री के प्रेम में पड़ जाता है, तब गणित का क्या लेना-देना है। तब अगर वह स्त्री से कह दे कि तुझसे सुंदर कोई भी नहीं, तो यह कोई मैथमेटिकल स्टेटमेंट नहीं है, कि इसको कोई कल दावा करे कि आइंस्टीन ने कहा, कि इतना बड़ा गणितज्ञ, तो उसने सारी दुनिया की स्त्रियों के सौंदर्य को नापकर, जोखकर कहा होगा कि यह स्त्री सबसे ज्यादा सुंदर है। यह तो कोई भी कहता रहा है। हर स्त्री को कहने वाले मिल जाते हैं। इसके लिए किसी के गणितज्ञ होने की जरूरत नहीं है। पर यह गणितज्ञ की हैसियत से नहीं कहा गया है। यह हैसियत एक प्रेमी की है। और प्रेम जिससे हो जाता है उससे सुंदर कोई भी दिखाई नहीं पड़ता। ऐसा नहीं है कि प्रेम उससे हो जाता है जो सबसे ज्यादा सुंदर है। प्रेम जिससे हो जाता है वह सबसे ज्यादा सुंदर दिखाई पड़ता है। वह प्रेम के द्वारा पैदा हुआ इल्यूजन है।
तो अगर किसी आत्मज्ञानी ने कोई वैज्ञानिक वक्तव्य भी दिए हों तो वे वक्तव्य वैज्ञानिक हैं, उनका कोई आत्मज्ञान से लेना-देना नहीं है। आत्मज्ञानी सर्वज्ञ है इस अर्थ में कि अब ऐसा कुछ भी नहीं बचा है जिसे जानने से उसके आनंद में कोई बढ़ती होगी। बस, उसका आनंद पूरा है। ऐसा कोई भी अज्ञान नहीं बचा है जो उसके आनंद में बाधा डालता हो। उसका सब अज्ञान नष्ट हो गया। उसका क्रोध, उसका मोह, उसका लोभ नष्ट हो गया। वह परम आनंदित है। सर्वज्ञ का अर्थ है, परम आनंद में प्रतिष्ठित। ऐसे ज्ञान को जान लिया जिसने, जिससे आनंद प्रतिष्ठित हो जाता है और दुख की संभावना विदा हो जाती है।
तो आत्मतत्व सर्वज्ञ है, इस अर्थ में। त्रिकालज्ञ के अर्थ में नहीं
कि तीनों काल का उसे पता है कि कल क्या होगा और परसों क्या होगा, कि इलेक्शन में कौन जीतेगा और कौन नहीं जीतेगा। ऐसा उसे कुछ भी पता नहीं है। ऐसा पता होने का कोई कारण भी नहीं है, कोई जरूरत भी नहीं है। यह सारा समय के भीतर में होने वाला खेल उसके लिए पानी पर खींची गई रेखाओं जैसा हो गया है। वह इसका कोई हिसाब नहीं रखता है। यह उसके लिए स्वप्नवत हो गया है कि कौन

जीतता है और कौन हारता है। यह बच्चों की दुनिया की बात हो गई। वह प्रौढ़ हो गया। उसे इस सबसे कोई लेना-देना नहीं है।
सर्वज्ञ, उस तत्व को जानकर सर्वज्ञता आ जाती है। अर्थात अज्ञान गिर जाता है। अर्थात लोभ, मोह, क्रोध, जो अज्ञान से पैदा होते हैं, वे गिर जाते हैं। अर्थात आनंद, जो ज्ञान से जन्मता है, वह उपलब्ध हो जाता है। वह दीया जल जाता है जो ज्ञान का है और जिसकी रोशनी में परम आनंद की प्रतिष्ठा है; शाश्वत, नित्य आनंद की प्रतिष्ठा है।
ऐसा जो आत्मतत्व है उसका तीसरा लक्षण कहा है, शुद्ध--सदा शुद्ध, सदा पवित्र, सदा निर्दोष। जब हम अशुद्ध हुए मालूम पड़ते हैं तब भी वह अशुद्ध नहीं हुआ। हमारी सारी अशुद्धि हमारी भ्रांति है। जैसा कल मैं रात कह रहा था कि सूर्य का प्रतिबिंब गंदे डबरे में भी उतना ही शुद्ध है, ऐसा ही वह आत्मतत्व रावण के भीतर भी उतना ही शुद्ध है जितना राम के भीतर। जरा भी फर्क नहीं है उसकी शुद्धि में। असल में शुद्ध होना उसका कोई सांयोगिक लक्षण नहीं है। उसका स्वभाव लक्षण है। इसलिए सांयोगिक लक्षण और स्वभाव लक्षण के भेद को समझ लें तो यह बात ख्याल में आ जाएगी।
दो तरह के लक्षण होते हैं। एक्सीडेंटल, सांयोगिक। सांयोगिक लक्षण वह है, जो फारेन है, विजातीय है। आपसे जुड़ता है, आपके भीतर से नहीं आता। जैसे एक आदमी बेईमान है। बेईमानी एक्सीडेंटल है, सांयोगिक है; स्वरूपगत नहीं है; सीखी गई है, अर्जित है। इसीलिए तो कोई आदमी चौबीस घंटे बेईमान नहीं रह सकता। बेईमान से बेईमान भी चौबीस घंटे बेईमान नहीं रह सकता। क्योंकि जो भी अर्जित है वह बोझ रूप है, उसे उतारकर रखना पड़ता है, विश्राम करना पड़ता है। वह स्वभाव नहीं है। इसलिए बेईमान से बेईमान आदमी किन्हीं के साथ ईमानदार होता है। और कई बार तो ऐसा होता है कि बेईमान आदमी आपस में जितने ईमानदार होते हैं, उतने ईमानदार आदमी भी आपस में ईमानदार नहीं होते। उसका कारण है कि जिसको हम ईमानदारी कहते हैं, वह भी अर्जित है। उससे भी छुटकारा लेना पड़ता है। जो भी चीज अर्जित है, एक्सीडेंटल है, उसके साथ आप सदा नहीं हो सकते। आपको बीच-बीच में छुट्टी देनी पड़ेगी। आपको थोड़ी छुट्टी लेनी पड़ेगी, नहीं तो बोझ हो जाएगा, तनाव बढ़ जाएगा।
इसलिए गंभीर आदमी को मनोरंजन करना पड़ता है। क्योंकि गंभीरता बोझ हो जाती है। महावीर को या बुद्ध को मनोरंजन की कोई जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि कोई गंभीरता का बोझ ही नहीं है। यह आप ध्यान में लें। हम आमतौर से समझते हैं कि वे इतने गंभीर हैं, इसलिए सिनेमागृह में नहीं बैठते, नाटक देखने नहीं जाते। नहीं, अगर इतने गंभीर हैं तो उनको नाटक देखने जाना ही पड़ेगा। नहीं, वे गंभीर हैं ही नहीं। इसका यह मतलब भी नहीं है कि वे गैर-गंभीर हैं। गंभीरता और गैर-गंभीरता बेईमानी हैं। वे तो वही हैं, जो निजता है, जो स्वभाव है। वे कुछ अर्जित नहीं करते ऊपर से, इसलिए किसी चीज से छुट्टी नहीं लेनी पड़ती। अगर किसी आदमी ने संतत्व को भी आदत बना ली, तो उसको हाली डे पर जाना पड़ेगा। उसको दो-चार-आठ दिन में, महीने पंद्रह दिन में संतत्व से छुट्टी लेनी पड़ेगी। और जब तक घंटे दो घंटे वह गैर-संत की दुनिया में प्रवेश न कर जाए, तब तक वापस फिर संत होना नहीं हो पाएगा। मुश्किल पड़ेगा। एक्सीडेंटल क्वालिटी.ज, सांयोगिक गुण हैं, जो हम सीखते हैं, अर्जित करते हैं, बाहर से हम पर आते हैं; भीतर से नहीं आते। सब कुछ हमारा सीखा हुआ है। जैसे समझें भाषा--भाषा सांयोगिक है, सीखी हुई है। तो कोई हिंदी सीख सकता है, कोई मराठी सीख सकता है, कोई अंग्रेजी, कोई जर्मन। हजार भाषाएं हैं। और हजार और हो सकती हैं, कोई अड़चन नहीं है। कोई अड़चन नहीं है। एक-एक आदमी एक-एक भाषा बोल सकता है, कोई अड़चन नहीं है। कोई अंत नहीं है, इतनी भाषाएं हम बना सकते हैं, सांयोगिक है।
लेकिन मौन? मौन सांयोगिक नहीं है। इसलिए दो आदमी बोलते हों तो बोलने में भेद हो सकता है, लेकिन दो आदमी पूरी तरह मौन हो जाएं तो उनमें कोई भेद नहीं हो सकता है। भाषा में विवाद हो सकता है, मौन में कोई विवाद नहीं हो सकता। और जब दो आदमी बिल्कुल मौन होते हैं तो उनकी भीतरी क्वालिटी में कोई फर्क नहीं रह जाता। दो साइलेंस में क्या फर्क होगा? दो मौन में क्या भेद होगा?

लेकिन मौन अगर ऊपर से थोपा हुआ हो तो भेद होगा, क्योंकि भीतर भाषा चलती रहेगी। सिर्फ चुप हैं दो आदमी तो भेद होगा। मैं चुप बैठा हूं, आप मेरे बगल में चुप बैठे हैं। तो मैं अपना सोचता रहूंगा, आप अपना सोचते रहेंगे। सोचना जारी रहेगा। ओंठ बंद रहेंगे। ओंठ तो लगेंगे, बिल्कुल एक से हैं, भीतर सब भेद चलता रहेगा। हम भीतर हजारों मील के फासले पर होंगे। पता नहीं आप कहां हों, और मैं कहा हूं। लेकिन अगर सच में मौन आ गया--ऊपर से अर्जित नहीं, भीतर से खिला हुआ; ऊपर से थोपा गया नहीं, भीतर से आविर्भूत--हम बिल्कुल ही चुप हो गए; भीतर भी शब्द खो गए, भाषा खो गई, तो मुझमें और आपमें कौन सा भेद होगा? कौन सा फासला होगा? हम एक ही जगह हो जाएंगे। हम एक जैसे हो जाएंगे। हमारी दो ज्योतियां धीरे-धीरे मौन होते-होते एक ज्योति बन जाएंगी। दो भी नहीं रह जाएंगी। क्योंकि दो को फासला करने वाली बीच की कोई बाउंड्री लाइन नहीं बचेगी। भेद से बनती है सीमा, अभेद में गिर जाती है। तो मौन तो--चिर मौन, अंतर मौन तो स्वभाव है। भाषा सांयोगिक है। जो-जो सांयोगिक है वह सदा रहने वाला नहीं है। इसलिए मजे की बात है, आप चौबीस घंटे क्रोध नहीं कर सकते, लेकिन चौबीस घंटे क्षमा में हो सकते हैं। सोचें इसे! चौबीस घंटे क्रोध में नहीं हो सकते। क्रोध में चढ़ेंगे, उतरेंगे। चौबीस घंटे क्रोध में नहीं हो सकते। लेकिन क्षमा में चौबीस घंटे होने में कोई बाधा नहीं है। चौबीस घंटे हो सकते हैं। घृणा में अगर जीना हो तो चौबीस घंटे नहीं जी सकते, नर्क हो जाएगी खुद के लिए। लेकिन अगर प्रेम में जीना हो तो चौबीस घंटे जी सकते हैं।
लेकिन जिसे हम प्रेम कहते हैं, उसमें भी हम चौबीस घंटे नहीं जी सकते। उसमें भी हम चौबीस घंटे नहीं जी सकते। जिसे हम प्रेम कहते हैं, वह भी पीरियाडिकल है, वह भी अवधि का है। चौबीस घंटे में दस-पांच मिनट प्रेमपूर्ण हो सकते हैं, बाकी नहीं हो सकते। और अगर कोई ज्यादा आग्रह करे कि और प्रेमपूर्ण हों, तो दस-पांच मिनट भी होना मुश्किल हो जाता है।
क्यों? क्योंकि जो स्वभाव है उसी में हम सदा हो सकते हैं। जो भी विभाव
है और बाहर से लिया गया है उसमें हम सदा नहीं हो सकते। उसे उतारना ही पड़ेगा। उस बोझ से हटना ही पड़ेगा।
आत्मा शुद्ध है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह कभी अशुद्ध हो जाती है और फिर हमें शुद्ध करनी पड़ती है। अगर आत्मा अशुद्ध हो सके, तो फिर हम शुद्ध न कर पाएंगे। फिर कौन शुद्ध करेगा? हम ही अशुद्ध हो गए। शुद्ध करने वाला भी नहीं बचेगा। कौन करेगा शुद्ध? जो शुद्ध कर सकता था, वह खुद ही अशुद्ध हो गया है। अब तो वह अशुद्ध आत्मा जो भी करेगी वह सभी अशुद्ध होगा।
नहीं, आत्मा अशुद्ध हो जाती है और हमें शुद्ध करनी पड़ती है, ऐसा नहीं है। आत्मा शुद्ध है। सिर्फ हम अशुद्ध गुणों को अपने चारों तरफ इकट्ठा कर लेते हैं। जैसे कि एक दीए के चारों तरफ हम काला पर्दा लटका दें। दीया इससे अंधेरा नहीं हो जाता। दीया अब भी अपनी रोशनी में ही जलता रहता है। लेकिन चारों तरफ का काला पर्दा, चारों तरफ रोशनी को पहुंचने से रोक देता है। और अगर दीया हमारे जैसा पागल हो और धीरे-धीरे भूल जाए कि मैं दीया हूं और समझने लगे कि मैं काला पर्दा हूं, तो कठिनाई जो पैदा हो जाएगी वही कठिनाई हमारे साथ है।
हमारा स्वयं के निज स्वभाव से तो संबंध टूट जाता है और शरीर और मन और विचार और वृत्ति और वासना का जो हमारे चारों तरफ जाल है, उससे हमारा तादात्म्य हो जाता है। हम कहने लगते हैं, यह हूं मैं, यह हूं मैं। वह जो भीतर है, वह किसी चीज के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है और कहने लगता है, यह हूं मैं। और इतना शुद्ध है वह भीतर का तत्व, इतना निर्मल है कि किसी भी चीज की जब छाया उसमें बनती है तो पूरी बन जाती है। और उस छाया को हम पकड़ लेते हैं। कहने लगते हैं, यह हूं मैं। शुद्धि के कारण ही यह दुर्घटना भी घटती है। अगर दर्पण होश में आ जाए और आप दर्पण के सामने खड़े हों और दर्पण अपने भीतर झांककर देखे और पाए कि आपकी तस्वीर बनी और आपको सामने खड़ा देखे, और दर्पण कहे कि यह हूं मैं, वही भूल हो जाती है।
शुद्ध है आत्मा। उसकी शुद्धि के कारण इतनी निर्मल झील की तरह है कि जो
भी उसके आसपास आता है, वह उसमें दर्पण की तरह झलकता है। जो भी! शरीर पास आता है तो दर्पण की तरह झलकता है, तो आत्मा कहती है, मैं हूं शरीर। और कितना

शरीर बदलता जाता है, फिर भी आपको ख्याल नहीं आता कि कितने शरीरों से आप अपना तादात्म्य कर लेते हैं!
अगर मां के पेट में जो पहला अणु बनता है, वह निकालकर आपके सामने रख दिया जाए और कहा जाए कि यह थे आप एक दिन, तो आप बिल्कुल इनकार करेंगे कि यह मैं! कभी नहीं। अगर आपके बचपन से लेकर बुढ़ापे तक के रोज दस-पांच चित्र लिए जाएं तो एक लंबी सीरीज,शृंखला चित्रों की हो जाए। और हर चित्र से आपने एक दिन कहा है कि यह हूं मैं। कहां बचपन का चित्र और कहां बुढ़ापे का चित्र! कहां जन्म लेता हुआ बच्चा और कहां कब्र में उतरता ताबूत! इन सबसे आप एक रहे हैं।
जो जब दर्पण में आपके झलका है, आपने कहा है, यह हूं मैं, दिस इ.ज मी--यही हूं मैं। कल फिर दर्पण पर दूसरी झलक आई और आपने कहा, यही हूं। कभी अपने बचपन के चित्र को उठाकर और फिर अपनी जवानी के चित्र को उठाकर देखें, कोई भी ताल-मेल है उनमें? कोई भी संबंध है? यह आप हैं? नहीं, एक दिन दावा किया था यह। फिर स्मृति में दावा बैठ गया, अभी भी हां कि एक दिन मैं यह था। अब यह हूं।
रोज शरीर बदल रहा है। वैज्ञानिक कहते हैं, सात वर्षों में शरीर का कण-
कण बदल जाता है, एक कण भी नहीं बचता पुराना। लेकिन आइडेंटिटी जारी रहती है। तादात्म्य जारी रहता है। हड्डी बदल जाती है, मांस बदल जाता है, सब खून बदल जाता है, सब सेल्स बदल जाते हैं, सब बदल जाता है सात साल में। सत्तर साल एक आदमी जीता है, तो दस बार टोटल शरीर बदल चुका होता है, पूरा शरीर दस बार बदल चुका होता है। शरीर प्रतिपल बदल रहा है। लेकिन नहीं, वह शुद्ध दर्पण है भीतर। जो भी झलक बनती है, जो भी तस्वीर बनती है, वह कह देती है, यह हूं। यही तादात्म्य टूट जाए, यही नासमझी टूट जाए, यह हम कहना छोड़ दें कि यह हूं मैं, और कहने लगें कि इस सबको जानने वाला हूं मैं, इस सबका साक्षी हूं मैं, विटनेस हूं मैं। मैंने बचपन को भी जाना था, वह मैं नहीं था। मैंने जवानी भी जानी, वह भी मैं नहीं था। मैं बुढ़ापा भी जानूंगा, वह भी मैं नहीं हूं। मैंने जन्म भी जाना, वह भी मैं नहीं हूं। मैं मृत्यु भी जानूंगा, वह भी मैं नहीं हूं। मैं तो वह हूं, जिसने यह सब कुछ जाना। यह लंबी सीरीज, यह फिल्मों का लंबा काफिला, यह सब जाना जिसने--वह हूं मैं। जानने वाला हूं मैं, जो जाना जाता है वह नहीं हूं मैं। जो प्रतिफलित होता है, प्रतिबिंबित होता है, वह नहीं हूं मैं। जिसमें प्रतिबिंबित होता है, वह हूं मैं। तब, तब आत्मा परम शुद्ध है। तब वह निर्मल दर्पण है। तब वह बिल्कुल निर्दोष झील है, जहां कोई लहर अशुद्धि की कभी नहीं उठी।
जब उपनिषद कहते हैं कि शुद्ध-बुद्ध है वह, शुद्ध है पूरा, लेशमात्र भी कोई अशुद्धि कभी आत्मा में प्रवेश नहीं की है, तो इस तादात्म्य को तोड़कर कहते हैं। हम भी उतने ही शुद्ध हैं। कोई कभी अशुद्ध हुआ नहीं, हो नहीं सकता है, उपाय नहीं है। लेकिन तादात्म्य अशुद्ध कर जाता है, तादात्म्य पापी बना देता है, पुण्यात्मा बना देता है।
ध्यान रहे, पुण्यात्मा भी शुद्ध नहीं है। क्योंकि पुण्य से तादात्म्य
है उसका। कोई कहता है कि लोहे की जंजीर हूं मैं, और कोई कहता है, सोने की जंजीर हूं मैं, इससे क्या फर्क पड़ता है? बाजार में कीमत अलग होगी सोने और लोहे की, लेकिन तादात्म्य जारी है। कोई कहता है, पापी हूं मैं; कोई कहता है, पुण्यात्मा हूं मैं। जब तक हम कहते हैं, यह हूं मैं, तब तक हम अशुद्ध अपने को नाहक किए चले जाते हैं। होते नहीं और फिर भी किए चले जाते हैं। जिस दिन हम कह देते हैं कि यह भी नहीं हूं मैं, यह भी नहीं हूं मैं--नेति-नेति जिस दिन हम कह देते हैं--नाट दिस, नाट दैट। यह भी नहीं हूं, वह भी नहीं; मैं तो वह हूं, जिसमें सब प्रतिबिंबित होता है। मैं तो वह दर्पण हूं, जिसमें सब छायाएं बनती हैं और खो जाती हैं। मैं वह शून्य हूं, जिसमें सब झलकता है और विदा हो जाता है।
न मालूम कितने जन्म झलके। न मालूम कितने शरीर झलके। न मालूम कितने रूप, न मालूम कितनी आकृतियां, न मालूम कितने अर्जित गुण, न मालूम कितनी योग्यताएं, कितने पद, कितनी उपाधियां। अनंत-अनंत यात्रा है, लेकिन झलक एक ही है। और झील सदा निर्मल है। झील के किनारे पर से यात्री गुजरते जाते हैं, झील में नए-नए प्रतिबिंब बनते जाते हैं; और झील सोचती चली जाती है, यह हूं

मैं। कभी राह से गुजरता है कोई चोर और झील कहती है, चोर हूं मैं। और कभी राह से गुजरता है कोई साधु और झील कहती है, साधु हूं मैं। और कभी राह से गुजरता है कोई पुण्यात्मा और झील कहती है, पुण्यात्मा हूं मैं। और कभी गुजरता है कोई पापी और झील कहती है, पापी हूं मैं। और झील कहे चली जाती है और राह के किनारे से काफिले गुजरते चले जाते हैं प्रतिबिंबों के--कैरावान्स आफ रिफ्लेक्शंस, कारवां प्रतिबिंबों के। और इतनी तेजी से गुजरते हैं वे कि एक प्रतिबिंब मिट नहीं पाता है कि दूसरा बन जाता है। बीच में क्षण नहीं मिलता कि हम देख लें उस झील को, जिसमें कोई प्रतिबिंब नहीं है।
ध्यान की प्रक्रिया उस बीच के गैप को देने की है--अंतराल, इंटरवल--जब कोई प्रतिबिंब नहीं बनता और बीच में हम झांककर देख लेते हैं कि मैं तो झील हूं, काफिला नहीं हूं। वह जो गुजरता है किनारे से, वह नहीं; वह जो चित्र मुझ पर बनते हैं, वह नहीं; मैं तो वह हूं, जिस पर सब बनता है और फिर भी अन-बना है।
मैं अन-बना छूट जाता हूं--असृष्ट, अनिर्मित।
ये तीन बातें ख्याल में ले लें। बाकी और जो बातें गिनाई हैं, वे इनके
ही भिन्न-भिन्न रूप हैं।
एक सूत्र और ले लें।

अन्धं तमः प्रविशंति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।। 9।।

जो अविद्या की उपासना करते हैं, वे घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं।
और जो विद्या में ही रत हैं, वे मानों उससे भी अधिक अंधकार में प्रवेश करते हैं।। 9।।

बहुत गहन और बहुत गहरे तल से कही गई है बात। बड़े साहस की उदघोषणा थी।
ऋषि ही कह सकते हैं।
कहा है कि जो अविद्या के मार्ग पर चलते हैं वे तो अंधकार में भटकते ही हैं, जो विद्या के मार्ग पर चलते हैं वे महा अंधकार में भटक जाते हैं। मनुष्य जाति के इतिहास में ऐसे साहस की उदघोषणा दूसरी खोजनी मुश्किल है। दूसरा समानांतर सूत्र पूरे मनुष्य जाति के इतिहास में खोजना मुश्किल है इतने साहस का, जिसमें कहा है, अज्ञानी तो भटकता ही है अंधकार में, ज्ञानी महा अंधकार में भटक जाते हैं। जिसने कहा है, उसने बड़े गहरे जानकर कहा है।
अज्ञानी भटकते हैं, यह हमारी समझ में आ जाएगा, इसमें कोई अड़चन नहीं है। बात सीधी और साफ है। निश्चित ही अज्ञानी भटकते हैं।
लेकिन ऋषि कहता है, अंधकार में--बहुत गहन अंधकार में नहीं, महा अंधकार में नहीं--अज्ञानी अंधकार में ही भटकते हैं। फिर ज्ञानी महा अंधकार में क्यों भटक जाते हैं? और अगर अज्ञानी अंधकार में भटकते हैं और ज्ञानी महा अंधकार में भटक जाते हैं, तो फिर भटकने से छूटने का उपाय कहां बचा? अज्ञानी क्यों अंधकार में भटकता है, बहुत गहन में नहीं। क्योंकि अज्ञान कितना ही भटकाए, ज्यादा नहीं भटका सकता। ज्यादा भटकाने वाला तत्व अज्ञान नहीं, अहंकार है। ज्यादा भटकाने वाला तत्व अज्ञान नहीं, अहंकार है। अज्ञान में भूलें हो सकती हैं, लेकिन अज्ञान सदा भूलों को सुधारने को तत्पर होता है। इसलिए बहुत नहीं भटकता। अज्ञान भूलें करने को सदा ही तैयार है, लेकिन सुधारने को भी सदा तैयार है। अज्ञान की अपनी विनम्रता है। ध्यान रखें, अज्ञान की अपनी ह्युमिलिटी है। इसीलिए बच्चे जल्दी सीख जाते हैं, बूढ़े जल्दी नहीं सीख पाते। क्योंकि बच्चे अज्ञानी हैं, वे सुधारने को तत्पर हैं। भूल बताई कि वे सुधार लेंगे। लेकिन ब.ूढों को अगर भूल बताई तो वे नाराज हो जाएंगे, सुधारेंगे नहीं। पहले तो सिद्ध करने की कोशिश करेंगे कि यह भूल ही नहीं है। बच्चे को भूल बताई तो वह राजी हो जाएगा कि भूल है। वह सुधार लेगा।
इसीलिए बच्चे इतने जल्दी सीख पाते हैं। बच्चे दिन में जो सीख लेते हैं, बूढ़े वर्ष में नहीं सीख पाते। सीखने की क्षमता क्षीण हो जाती है। क्या बात है? बूढ़े के सीखने की क्षमता बढ़नी चाहिए। नहीं, लेकिन बूढ़ा ज्ञान

को उपलब्ध हो जाता है। बच्चा सिर्फ अज्ञानी है, बूढ़ा और एक गहन अंधकार में गिरता है। उसको भ्रम पैदा होता है कि मैं कुछ जानता भी हूं। बच्चा जानता है कि मैं कुछ नहीं जानता हूं, इसलिए सीखने को तैयार है। जो भी आप बताएं, मैं राजी हूं। तो बच्चे अंधकार में ही भटक सकते हैं। बूढ़े महा अंधकार में भटक जाते हैं।
अज्ञानी विनम्र है और अज्ञान का बोध आ जाए तो महा विनम्र हो जाता है। अज्ञान का स्मरण आ जाए, याद आ जाए कि मैं अज्ञानी हूं, नहीं जानता हूं, तो अहंकार के खड़े होने के लिए जगह नहीं रह जाती। अहंकार कहां निर्माण करे अपने भवन को, कोई स्थान नहीं मिलता। यह भी मजे की बात है कि अज्ञान अगर बोधपूर्ण हो जाए कि मैं अज्ञानी हूं, तो भटकाव टूटने लगता है, बंद होने लगता है, भूल-चूक बंद होने लगती है। राह पर आने लगता है आदमी। और ज्ञानी अगर ख्याल से भर जाए कि मैं ज्ञानी हूं, तो महा अंधकार में उतरना शुरू हो जाता है।
अज्ञानी को ख्याल आ जाए कि मैं अज्ञानी हूं, तो प्रकाश की तरफ यात्रा शुरू हो जाती है। और ज्ञानी को ख्याल आ जाए कि मैं ज्ञानी हूं तो महा अंधकार की तरफ कदम उठने शुरू हो जाते हैं। क्योंकि अज्ञान की स्मृति विनम्रता में ले जाती है और ज्ञान का दंभ, ज्ञान का दावा अहंकार में ले जाता है। असली भटकाव अहंकार है।
अज्ञान गहन अंधकार नहीं है, संध्या की भांति है। नहीं, सूरज नहीं है, ज्ञान का प्रकाश अभी नहीं है। लेकिन अभी अहंकार की अंधेरी रात भी नहीं है। संध्या की तरह है। अज्ञान द्वार पर खड़ा है, जहां से प्रकाश में भी जा सकता है। लेकिन ज्ञानी का जैसे-जैसे दंभ मजबूत होता है और ख्याल आता है कि मैं जानता हूं, मैं जानता हूं, मैं जानता हूं--जितना यह मजबूत होता चला जाता है उतनी अंधेरी रात शुरू होने लगी, संध्या खो गई। अब वह गहरी रात में उतर रहा है। और जितना मजबूत होता चला जाएगा, उतनी रात अमावस की होती चली जाएगी। अहंकार महा अंधकार में ले जाता है, इसलिए बहुत मजे की घटना इस जगत में घटती है कि ज्ञानी अपने को कहने लगते हैं कि हम अज्ञानी हैं, नहीं जानते। और अज्ञानी दावे करते चले जाते हैं कि हम जानते हैं, हम ज्ञानी हैं। फिर उपाय क्या है? फिर मार्ग क्या है? अज्ञान भी भटका देता है, ज्ञान भी भटका देता है। फिर हम जाएं कहां? हम करें क्या? कहां से है मार्ग?
दो बातें ख्याल में ले लेनी जरूरी हैं। एक तो सदा अपने अज्ञान के स्मरण को बढ़ाते चले जाएं। अज्ञान का स्मरण अज्ञान की हत्या है। टु बिकम अवेयर आफ वन्स इग्नोरेंस--बस अज्ञान कटने लगा। वह बोध कि मैं अज्ञानी हूं, ऐसा ही है, जैसे किसी ने दीया जला लिया हो और कमरे के भीतर अंधेरे को खोजने चला गया। और कहा कि मैं दीया जलाकर देखूं तो, अंधेरा कहां है! दीया जलाया और अंधेरे को खोजने निकल पड़े। अंधेरा फिर कहीं नहीं मिलेगा। बोध घना हुआ भीतर कि मैं जानूं कि कहां-कहां अज्ञान है! और अज्ञान जहां-जहां है, वहां जाऊं और जागूं कि यहां-यहां अज्ञान है। जहां-जहां गए बोध के दीए को लेकर, वहां-वहां अज्ञान नहीं है।
तो पहली बात, अज्ञान की स्मृति, रिमेंबरेंस, स्मरण कि मैं अज्ञानी हूं। अगर कभी भी ज्ञान के जगत में प्रवेश करना हो तो अज्ञान के प्रति होश से भर जाना। और दिन-रात खोज में लगे रहना कि कहां-कहां मेरा अज्ञान है। और जहां अज्ञान दिखाई पड़े वहां तत्काल स्वीकार करना, क्षणभर की देर मत करना। और जो दर्शा दे कि यह अज्ञान है, उसके चरणों पर सिर रख देना, वह गुरु हो गया। और अपने अज्ञान को सिद्ध करने की कोशिश मत करना कि यह नहीं है, क्योंकि मन कोशिश करेगा। अहंकार कहेगा कि मानो मत। मैं और अज्ञानी! कभी नहीं।
इसलिए हम सब अपने अज्ञान की जिद किए चले जाते हैं। हम सब कहे चले जाते हैं कि यही ठीक है। जिन्हें कुछ भी पता नहीं है, वे ठीक के बड़े दावे करते चले जाते हैं। जिन्हें राह के किनारे पड़े पत्थर का भी कोई पता नहीं है, वे भी परमात्मा के संबंध में दावे किए चले जाते हैं कि मेरा ही परमात्मा ठीक है। जिन्हें कुछ भी पता नहीं है! लेकिन दावों का कोई अंत नहीं है।
अज्ञान बड़ा दावेदार है। वह दावे करता है। दावे से बचना। और अगर दावा
ही करना हो तो सिर्फ अज्ञानी होने का करना। कहना कि नहीं जानता हूं। और

जितने अवसर मिलें, जितनी सुविधाएं मिलें, जितनी स्थितियां मिलें, जहां आपका अज्ञान प्रगट होता हो, वहां जरूर रुक जाना और जान लेना कि अज्ञानी हूं। जो आपके अज्ञान की तरफ इशारा करे, उसे गुरु बना लेना।
लेकिन हम गुरु उसे बनाते हैं, जो हमारे ज्ञान को बढ़ाते हैं। जिसके पास जाकर हम थोड़ी ज्ञान की बातें सीखकर और दंभ से भरकर लौट आएं और कहें कि अब हम भी जानते हैं। जो हमारे ज्ञान के दंभ को घना करे, उसे हम गुरु कहते हैं। और गुरु असल में वही है, जिसके पास जाकर हमें पता लगे कि हमसे अज्ञानी और कोई भी नहीं है। जो हमारे ज्ञान को छीन ले, जो हमारे ज्ञान के दावों को तहस-नहस कर दे, जो हमारे अहंकार के भवन को भूमिसात कर दे, जो हमें गिरा दे जमीन पर और कह दे कि कुछ भी तो नहीं, कहीं तो नहीं, कुछ भी तो नहीं जाना है--वही है गुरु। जिससे ज्ञान मिलता है, वह नहीं--जिससे हमें अज्ञान का स्मरण मिलता है। और ध्यान रहे, अज्ञान का स्मरण ज्ञान में ले जाता है। और ज्ञान का संग्रह महा अंधकार में ले जाता है।
तो पहली तो बात--अज्ञान के प्रति जागना, होश से भरना, अज्ञान को पहचानना, खोजना; अपने को जानना कि महा अज्ञानी हूं।
दूसरी बात, जहां-जहां ख्याल आए कि मैं जानता हूं, वहां एक बार रिकंसीडर करना, पुनर्विचार करना। जहां-जहां ख्याल आए कि मैं जानता हूं, फिर से सोचना--सच में जानता हूं? और एक ही बार सोचना काफी हो जाएगा। ईमानदार होना और एक बार फिर से सोच लेना कहने के पहले कि मैं जानता हूं? अज्ञान के प्रति भी होश से भरना और ज्ञान के प्रति भी सचेत रहना कि सच में मैं जानता हूं? वस्तुतः मुझे पता है? और जब इसकी जांच करने बैठेंगे तो पता चलेगा--शब्दों का पता है, सिद्धांतों का पता है, शास्त्रों का पता है, सत्यों का कोई भी पता नहीं। जिनके मन में भरे हैं शास्त्र, भरे हैं शब्द, बोझ लिए हैं जो शब्दों का, वे ज्ञानी ही ऋषि के लिए इस सूत्र में मजाक का कारण बने हैं। कहा है, महा अंधकार में भटक जाएंगे। मगर दावा नहीं छूटता। सुना है मैंने, एक ईसाई पादरी एक सांझ अपने चर्च में बोलता है रविवार को। ज्ञानी है, लेकिन उस दिन ऐसा हो गया कि चश्मा लाना भूल गया। आधा ज्ञान मुश्किल में पड़ गया। क्योंकि सब लिखकर लाया था। चश्मे के बिना आधा ज्ञान मुश्किल में पड़ गया। पर अब बताना भी कठिन था कि चश्मा घर भूल आया हूं। लोग मौजूद थे, सुनने को तैयार थे। तो उसने सोचा कि बिना इसके ही आज काम चला लूं। कागज में से कुछ देख-देखकर, पढ़कर बोलना शुरू किया। भूलें होनी निश्चित थीं। क्योंकि जो भी कहा जा रहा था वह स्मृति से कहा जा रहा था। और आज स्मृति का बड़ा सहारा घर छूट गया था। ज्ञान से तो कुछ कहा नहीं जा रहा था, नहीं तो बिना आंखों के भी कहा जा सकता है, चश्मे की तो जरूरत ही क्या है! जानकर तो कुछ कहा नहीं जा रहा था। स्मरण, स्मृति से, मेमोरी से कुछ कहा जा रहा था। सहारा छूट गया था।
तो बीच में बोल रहा था जीसस के चमत्कारों के संबंध में, तो गलती हो गई। कहा कि जीसस जंगल में थे अपने शिष्यों के साथ। तो जीसस के चमत्कारों में एक चमत्कार है कि चौबीस हजार शिष्य साथ थे और केवल छह रोटियां थीं। तो जीसस ने सबको खिला दिया खाना, फिर भी रोटियां बच गईं। चौबीस हजार शिष्य थे--भूल हो गई उस दिन--उसने कहा कि छह शिष्य थे और चौबीस हजार रोटियां थीं और जीसस ने सबको खाना खिला दिया और देखो चमत्कार कि रोटियां फिर भी बच गईं।
अधिक लोग तो सोए थे, जैसा कि मंदिर और मस्जिद और चर्च में होता है। तो उन्होंने कुछ ख्याल न दिया। कुछ जो जाग रहे थे, उन्होंने सुना। लेकिन मंदिर और मस्जिद में जाने वाले लोग बुद्धि तो घर रख आते हैं। सुना जरूर, लेकिन समझे नहीं। सिर्फ एक आदमी थोड़ा बेचैन हुआ कि मामला क्या है? यह कैसा चमत्कार! छह आदमी, चौबीस हजार रोटियां! उसने खड़े होकर कहा, महाशय, यह कोई चमत्कार नहीं। यह कोई भी कर सकता है। पादरी गुस्से से भर गया। उसे पता भी नहीं था कि भूल हो गई है। वह समझ रहा था कि उसने यही कहा है कि छह रोटियां थीं और चौबीस हजार शिष्य थे। उसने कहा, कोई भी कर सकता है? तुम जीसस का अपमान कर रहे हो! उसने कहा कि महाशय, कोई भी क्या, मैं खुद ही कर सकता हूं।

पादरी की कुछ समझ में न आया। बाद में उसने लोगों से पूछा। किसी ने कहा
कि आपसे भूल हो गई। आप उलटा बोल गए। चौबीस हजार रोटियां बोल दीं आपने और छह शिष्य बोल दिए, तो यह तो कोई भी कर सकता है। इसमें कोई चमत्कार ही न... । पादरी ने कहा, यह तो बहुत दुखद हो गया। ज्ञानी को भारी धक्का पहुंचा। उसने कहा, अगली बार उस आदमी को ठीक रास्ते पर लगाना जरूरी है। वह दूसरी बार पूरी तैयारी करके आया। फिर उसने चर्चा के दौरान चमत्कार की बात निकाली। और कहा कि जीसस गए जंगल में। चौबीस हजार शिष्य थे--ठीक से सुन लेना--और छह रोटियां थीं और जीसस ने लोगों को खाना खिला दिया। सबके पेट भर गए, फिर भी रोटियां बच गईं।
फिर उसने उस आदमी की तरफ देखा, जिसने पिछली बार उसे दिक्कत में डाल दिया था। और कहा, क्यों भाई, अब भी कर सकते हो चमत्कार? उस आदमी ने खड़े होकर कहा कि हां, अब भी कर सकता हूं। तब तो वह पादरी बहुत घबरा गया। उसने कहा कि अब तुम कैसे कर सकते हो? उसने कहा कि पिछली दफे की जो रोटियां बची हैं उनके द्वारा! उसने कहा, और बच गईं।
शब्दों का जाल, कंठस्थ शब्द और शास्त्र मखौल ही हैं, मजाक ही हैं। कुछ अर्थ नहीं है बहुत उनमें। और दूसरे को ठीक करने की कोशिश बड़ी अज्ञानपूर्ण है। और अपनी भूल कभी स्वीकार न करने की कोशिश बड़ी अहंकारपूर्ण है। वह गरीब पादरी इतना भी न कह सका कि मुझसे भूल हो गई। छोटी सी बात थी, उसी दिन कह देता कि क्षमा करें। लेकिन अहंकार भूल मानने को कभी राजी नहीं। दूसरे से भूल मनवाने को राजी है।
तो दूसरी बात स्मरण रखना कि जहां भी ख्याल लगे कि मैं जानता हूं, वहां थोड़ा रिकंसीडरेट--फिर से एक बार सोचना। फिर से एक बार पूछना, सच, मैं जानता हूं, कि शब्द, शास्त्र, सिद्धांत, स्मृति... ? ध्यान है कुछ, जाना मैंने कुछ? जीया मैंने कुछ? कहीं मेरे प्राण अनुभव किए कुछ? नाचा हूं मैं उस परमात्मा के अनुभव में? जीया हूं? उसकी धड़कनें मैंने अपनी धड़कनों के निकट अनुभव की हैं? या कि सिर्फ रात दीए जलाए और शास्त्रों के शब्द कंठस्थ किए हैं? शास्त्र जिनको कंठस्थ हो जाते हैं, उनकी बुद्धि से केरोसिन की बास आने लगती है, मिट्टी का तेल--काफी धुआं इकट्ठा हो जाता है। पंडितों से ज्यादा अज्ञानी खोजना बहुत मुश्किल है।
इसलिए यह सूत्र कहता है, अज्ञानी तो भटकते ही हैं, पंडितजन महा अंधकार में भटक जाते हैं। पंडित बनने से तो अज्ञानी बन जाना अच्छा है। उससे रास्ता है, द्वार है। महा अंधकार में मत जाना, अंधकार में ही रहना बेहतर है। उससे प्रकाश में आने में सुविधा पड़ेगी। महा अंधकार से बड़ी यात्रा करनी पड़ेगी।
आज के लिए इतना।
अब हम ध्यान में लगें। अंधकार से प्रकाश की तरफ दो-चार कदम उठाएं।

ईशावास्य उपनिषद
सातवां प्रवचन

वह अव्याख्य है

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।। 10।।

विद्या से और ही फल बतलाया गया है तथा अविद्या से और ही फल बतलाया है। ऐसा हमने बुद्धिमान पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी।। 10।।

उपनिषद अविद्या का अर्थ मात्र अज्ञान नहीं करते हैं। और विद्या का अर्थ मात्र ज्ञान नहीं करते हैं। अविद्या से उपनिषद का अभिप्रेत भौतिक ज्ञान है। अविद्या से अर्थ है वैसी विद्या, जिससे स्वयं नहीं जाना जाता, लेकिन और सब जान लिया जाता है। अविद्या, पदार्थ विद्या का नाम है। साधारणतः भाषा कोश में खोजने जाएंगे तो अविद्या का अर्थ होगा अज्ञान। लेकिन उपनिषद अविद्या का अर्थ करते हैं ऐसा ज्ञान, जो ज्ञान जैसा प्रतीत होता है, फिर भी स्वयं व्यक्ति अज्ञानी रह जाता है। ऐसा ज्ञान, जिससे हम और सब जान लेते हैं, लेकिन स्वयं से अपरिचित रह जाते हैं। धोखा देता है जो ज्ञान का, ऐसी विद्या को उपनिषद अविद्या कहते हैं।
अगर ठीक से अनुवाद करें, तो अविद्या का अर्थ होगा साइंस। बहुत अजीब लगेगी यह बात। अविद्या का अर्थ होगा पदार्थज्ञान, परज्ञान। और विद्या का अर्थ होता है आत्मज्ञान। विद्या से सिर्फ ज्ञान अभिप्रेत नहीं है। विद्या से ट्रांसफार्मेशन, रूपांतरण अभिप्रेत है। जो ज्ञान स्वयं को बिना बदले ही छोड़ जाए, उसे उपनिषद ज्ञान नहीं कहेंगे, उसे विद्या नहीं कहेंगे। मैंने कुछ जाना और जानकर भी मैं वैसा ही रह गया, जैसा न जानने पर था, तो ऐसे जानने को उपनिषद विद्या न कहेंगे। विद्या कहेंगे तभी, जब जानते ही मैं रूपांतरित हो जाऊं। मैंने जाना कि मैं बदला। मैंने जाना कि मैं दूसरा हुआ। जानकर मैं वही न रह जाऊं, जो मैं न जानकर था। अगर मैं वही रह गया, तो वह अविद्या है। अगर मैं रूपांतरित हो गया, तो वह विद्या है। ऐसा ज्ञान जो सिर्फ एडीशन नहीं है, जो आपमें कुछ जानकारी नहीं जोड़ जाता, वरन ट्रांसफार्मेशन है, रूपांतरण है, आपको बदल जाता है, आपको और ही कर जाता है, आपको नया जन्म दे जाता है, उसे उपनिषद विद्या कहते हैं।
सुकरात ने ठीक इसी अर्थों में, उपनिषद के अर्थों में, एक छोटा सा सूत्र कहा है। और कहा है, नालेज इ.ज वर्चू। ज्ञान ही सदगुण है। यूनान में सैकड़ों वर्ष तक इस पर विवाद चला। क्योंकि साधारणतः हम सोचते हैं, अकेले ज्ञान से सदगुण का क्या संबंध है? एक आदमी जान लेता है, क्रोध बुरा है। फिर भी क्रोध तो नहीं जाता। एक आदमी जान लेता है, चोरी बुरी है। फिर भी चोरी तो बंद नहीं होती। एक आदमी जान लेता है, लोभ बुरा है। फिर भी लोभ तो जारी रहता है।
लेकिन सुकरात कहता है कि जिसने जान लिया कि लोभ बुरा है, उसका लोभ चला
ही जाएगा। जिसने जाना कि लोभ बुरा है और लोभ न गया, तो अविद्या है, तो जानने का धोखा है। फाल्स नालेज है। भ्रम पैदा हुआ। ज्ञान की कसौटी यही है कि वह आचरण बन जाए तत्क्षण, बनाना भी न पड़े। अगर कोई सोचता हो कि पहले हम जानेंगे और फिर आचरण में ढालेंगे, तो फिर वह विद्या नहीं है, अविद्या है। जानते ही-- जैसे कि आपके सामने रखी है कोई चीज और आपको पता चला कि जहर है, आपने जाना कि जहर है, कि हाथ उठता था प्याली को लिए ओंठों की तरफ, और रुक गया। जाना कि जहर है और हाथ से प्याली छूट गई। जानना ही आचरण बन गया तो विद्या है। और अगर जानने के बाद चेष्टा करनी पड़े, कोशिश करनी पड़े, एफर्ट करना पड़े और आचरण को बदलना पड़े, तो फिर आचरण थोपा हुआ है, जबर्दस्ती लादा गया है। ज्ञान से निर्मित नहीं है, आरोपित है।
और ऐसा ज्ञान जिसको आचरण बनाने के लिए आरोपित करना पड़े, जो अपने आप आचरण न बने, उसे उपनिषद अविद्या कहते हैं। उपनिषद उसे विद्या कहते हैं,

जिसे जाना नहीं कि जीवन बदला नहीं। इधर जला दीया, उधर अंधेरा खो गया। अगर ऐसा हम कोई दीया बना सकें कि दीया तो जल जाए और अंधेरा न खोए! अगर हम ऐसा कोई दीया बना सकें कि दीया जल जाए और अंधेरा न खोए और फिर दीया जलाकर हमको अंधेरे को मिटाने की भी चेष्टा करनी पड़े, अगर ऐसा कोई दीया हम बना सकें, तो वह अविद्या का प्रतीक होगा। दीया जला और अंधेरा नहीं रह जाता है। दीए का जलना अंधेरे का मिट जाना बन जाता है। तो ऐसा दीया, ऐसी विद्या उपनिषद को अभिप्रेत है।
इसमें दो बातें और ख्याल में ले लेनी जरूरी हैं।
ऐसा क्यों होता है कि हम जान तो लेते हैं, लेकिन रूपांतरण नहीं होता! न मालूम कितने लोग मुझे आकर कहते हैं कि हमें पता है, क्रोध बुरा है, जहर है, जलाता है, आग है, नर्क है। फिर भी क्रोध छूटता तो नहीं, जानते तो हम हैं। तो उनसे मैं कहता हूं कि तुम जानते हो, यहीं तुम्हारी भूल हो रही है। तुम सोचते हो, जानते तो हम हैं, अब हम क्या करें जिससे कि क्रोध बंद हो जाए। यहीं तुम्हारी भूल हो रही है। तुम जानते नहीं हो। तुम्हें पता नहीं है कि सच में ही क्रोध नर्क है। क्या यह संभव है कि किसी को पता हो कि क्रोध नर्क है और वह क्रोध के बाहर छलांग न लगा जाए?
बुद्ध ने एक जगह कहा है कि एक व्यक्ति को मैंने समझाया। दुख था उसका जीवन, पीड़ा से भरा था, चारों ओर सिवाए चिंताओं के उसके जीवन में कुछ भी न था। मैंने उससे कहा कि तू इन सारी चिंताओं को छोड़कर बाहर आ जा। मैं तुझे मार्ग बता देता हूं। उस आदमी ने कहा, मार्ग आप अभी बता दें, फिर बाद में मैं कोशिश करूंगा बाहर आने की--आहिस्ता, क्रमशः। तो बुद्ध ने कहा कि तू उस आदमी जैसा है, जिसके घर में आग लगी हो, हम उससे कहें कि तेरे घर में आग लगी है; और वह कहे कि आपने बताया तो बड़ी कृपा है, अब मैं क्रमशः, आहिस्ता, धीरे-धीरे बाहर निकलने की कोशिश करूंगा। बुद्ध ने कहा, अच्छा होता, वह आदमी कह देता कि तुम झूठ कहते हो, मुझे कोई आग दिखाई नहीं पड़ती। लेकिन वह यह नहीं कहता। वह यह कहता है कि माना, तुम ठीक कहते हो, आग लगी है, लेकिन मैं धीरे-धीरे निकलूंगा।
आग अगर सच में ही दिखाई पड़ जाए, तो कोई धीरे-धीरे निकलता है? छलांग लगाकर बाहर हो जाता है। बताने वाला भले पीछे रह जाए। जिसे पता चल गया कि आग लगी है, वह तो पहले बाहर हो जाएगा। धन्यवाद भी बाहर ही देगा घर के।
तो बुद्ध ने कहा कि तुम कहते हो कि माना कि आग लगी है, लेकिन तुम्हें
आग दिखाई नहीं पड़ती है। तुम व्यर्थ ही हां भर रहे हो। तुम खोजने का कष्ट भी नहीं उठाना चाहते। तुम मेरी बात को कसौटी पर कसने की चेष्टा भी नहीं करना चाहते। तुमने आंख खोलकर भी नहीं देखा चारों तरफ कि आग लगी है? तुम मान लिए और इसलिए तुम्हारे मन में अब यह सवाल उठता है कि आग तो लगी है, अब मैं धीरे- धीरे निकलूंगा। मुझे कोई विधि, कोई मैथड बता दें कि मैं कैसे बाहर हो जाऊं।
जब मुझसे कोई कहता है कि मैं जानता हूं कि क्रोध बुरा है और फिर भी क्रोध से छुटकारा नहीं होता, तो उससे मैं कहता हूं कि अच्छा हो कि तुम जानो कि तुम नहीं जानते हो कि क्रोध बुरा है। जानते तो तुम यही हो कि क्रोध अच्छा है। हम अच्छे को ही किए चले जाते हैं। लेकिन लोगों से हमने सुन लिया है कि क्रोध बुरा है। सुने हुए को ज्ञान मान लिया है। तो वह अविद्या है। वह विद्या नहीं है।
फिर, फिर विद्या कैसी होगी?
जानना पड़ेगा स्वयं ही कि क्रोध बुरा है। क्रोध से गुजरना पड़ेगा। क्रोध की आग में तपना पड़ेगा, क्रोध की पीड़ा और कष्ट झेलना पड़ेगा। क्रोध की अग्नि में जब सब अंग जलेंगे और प्राण उत्तप्त होंगे और जीवन धुआं-धुआं हो जाएगा, तब, तब किसी से पूछने नहीं जाना पड़ेगा कि क्रोध बुरा है। तब किसी से समझने नहीं जाना पड़ेगा कि क्रोध बुरा है। और तब क्रोध से बाहर कैसे हो जाएं, इसकी कोई विधि, कोई उपाय, कोई साधना नहीं खोजनी पड़ेगी। यह जानना ही कि क्रोध आग है, क्रोध से छुटकारा हो जाता है। ऐसे ज्ञान का नाम विद्या है। उस ज्ञान को उपनिषद विद्या कहते हैं, जो अपने में ही मुक्ति है। जो ज्ञान स्वयं में मुक्ति नहीं है, वह विद्या नहीं है।

हम सबके पास बहुत विद्या है। हम सभी कुछ न कुछ जानते हैं। कहना चाहिए, बहुत कुछ जानते हैं। उपनिषद से पूछें, तो हमारा जानना क्या है? हमारे जानने को उपनिषद अविद्या कहेगा। हमारे जानने को विद्या नहीं कहेगा। क्योंकि हमारा जानना हमें छूता ही नहीं है। हमें बदलता ही नहीं है। हमें स्पर्श ही नहीं करता। हम वही के वही रह आते हैं, जानना बढ़ता चला जाता है। जानना एक संग्रह की भांति है, हम दूर ही रह जाते हैं। जानने की तिजोरी में संग्रह बढ़ता चला जाता है, हम वही के वही रह जाते हैं। तिजोरी बड़ी होती चली जाती है, संग्रह बड़ा होता चला जाता है। एक्युमुलेशन है, जिसे हम अभी ज्ञान कह रहे हैं। इसे ज्ञान जिसने समझा, वह बुरी तरह भटक जाएगा। इसे अविद्या समझना।
विद्या तो सिर्फ उसे ही समझना जो आप में जुड़ती न हो, आपको बदलती हो। जो आपके साथ संगृहीत न होती हो, आपको रूपांतरित कर जाती हो। विद्या तो वही है, जिसे याद न रखना पड़े, जो आपका जीवन बन जाती हो। विद्या तो वही है, जो स्मृति न बने, जो आपका प्राण बन जाए। ऐसा नहीं कि आप स्मृति से समझें कि क्रोध बुरा है। ऐसा कि आपका आचरण कहे कि क्रोध बुरा है। ऐसा नहीं कि आप घर की दीवारों पर लिख दें कि लोभ पाप है, वरना आपकी आंखें कहें, आपके हाथ कहें, आपका चेहरा कहे कि लोभ पाप है। आपका समग्र व्यक्तित्व कहे कि लोभ पाप है, तब विद्या है।
उपनिषद ने विद्या को बड़ा आदर दिया है। उस शब्द को बड़ी कीमत दी है। वह जीवन को बदलने की कीमिया है। हम जिसे विद्या समझते हैं वह केवल आजीविका चलाने की व्यवस्था है। आजीविका चलाने की व्यवस्था। एक आदमी डाक्टर है, एक आदमी इंजीनियर है, एक आदमी दुकानदार है। उन सबके पास विद्याएं हैं, लेकिन उनसे जीवन नहीं बदलता है, सिर्फ जीवन चलता है। उनसे जीवन नया नहीं होता, सिर्फ सुरक्षित होता है। उनसे जीवन में कोई नए फूल नहीं खिलते, सिर्फ जीवन की जड़ें नहीं सूख पातीं। उनसे जीवन में कोई आनंद नहीं आता, लेकिन दुख के लिए सुरक्षा, आयोजन, व्यवस्था निर्मित हो जाती है।
हम जिसे विद्या कहते हैं, वह सिर्फ आजीविका को कुशलता से चलाए रखने की सुविधा है। उपनिषद उसे अविद्या कहते हैं। विद्या कहते हैं उसे, जिससे जीवन चलता नहीं, बदलता है। जिससे जीवन आगे की तरफ खिंचता नहीं, ऊपर की तरफ उठता है।
ध्यान रहे, अविद्या हारिजेंटल है--क्षितिज की रेखा में चलती है। विद्या वर्टिकल है--आकाश की तरफ उठती है। बैलगाड़ी की तरह है अविद्या, जमीन पर चलती है। हवाई जहाज की तरह टेकआफ नहीं है उसमें। जमीन को छोड़कर वह ऊपर नहीं उठ जाती। जमीन पर चलती चली जाती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक यात्रा पूरी हो जाती है, लेकिन तल नहीं बदलता, तल वही होता है। जहां हम जन्मते हैं, जिस तल पर, उसी तल पर हम मरते हैं। अक्सर झूला ही कब्र होता है। कोई बहुत फर्क नहीं होता है, तल वही होता है, वहीं के वहीं होते हैं। हारिजेंटल, क्षितिज की रेखा में चलते चले जाते हैं। सभी अपनी-अपनी कब्र खोज लेते हैं। लेकिन झूलों से बहुत दूर नहीं होती। और दूर हो, तो भी तल-भेद नहीं होता। तल वही होता है, स्तर वही होता है।
विद्या है वर्टिकल, आकाश की तरफ उठती, ऊर्ध्वगामी। ऊपर की तरफ जाती है। तल बदलता है। आप वही नहीं रहते। जाना कि आप दूसरे हुए। बुद्ध या महावीर या कृष्ण हमारे पास खड़े होते हैं, लेकिन हमारे पास होते नहीं।
हमारे बिल्कुल पड़ोस में खड़े होते हैं, हमारे शरीर से शरीर लगकर खड़ा होता है, फिर भी हमारे पास होते नहीं हैं। वे किन्हीं और ही शिखरों पर होते हैं। शरीर ही हमारे पास मालूम होता है। उनका अस्तित्व हमारे पास नहीं होता। विद्या से गुजरे हैं वे। ज्ञानी हैं।
उपनिषद का यह सूत्र कहता है, अविद्या के अपने गुण हैं, विद्या के अपने गुण हैं। अविद्या के अपने गुण हैं, अविद्या का अपना उपयोग है, युटिलिटी है। उपनिषद यह नहीं कहते कि अविद्या को नष्ट कर दो। उपनिषद कहते हैं, अविद्या को विद्या मत मानना--बस, इतना। ऐसा नहीं है कि आकाश की तरफ बढ़ते चले जाओ और जमीन पर जीयो मत। सच तो यह है कि जिन्हें भी आकाश में ऊपर उठना है, उन्हें भी अपने पैर जमीन पर ही टिकाए रखने पड़ते हैं।

नीत्से ने कहीं कहा है कि जिस वृक्ष को आकाश छूना हो, उसकी जड़ों को पाताल छूना पड़ता है। जितना ऊंचा जाता है वृक्ष, उतना ही नीचे भी जाता है। जो वृक्ष आकाश के तारों को छूने की चेष्टा करता है, अभीप्सा करता है, उसकी जड़ों को नीचे, और नीचे उतरते जाना होता है। जितनी गहरी जड़ें, उतना ही ऊपर उठ पाता है।
अविद्या के इनकार में नहीं हैं उपनिषद। यह भी बड़ी भ्रांति हुई। इसे आपसे कहना चाहूंगा। क्योंकि इस भ्रांति के कारण पूरब ने इतना सहा दुख, इतनी पीड़ा उठाई है, जिसका कोई हिसाब नहीं है।
उपनिषद को ठीक समझा नहीं जा सका। या तो हम यह भूल करते हैं कि अविद्या
को विद्या मान लेते हैं। उपनिषद इसके विरोध में हैं। वे कहते हैं, अविद्या विद्या नहीं है--यह डिसटिंक्शन, यह भेद-रेखा ठीक से समझ लेना--तो हम दूसरी भूल करते हैं। हम भूल करने की जिद में हैं। या तो हम यह भूल करेंगे या हम विपरीत भूल करेंगे। या तो हम भूल करते हैं कि अविद्या को विद्या मान लेते हैं। अभी हमारे जितने विद्यालय हैं, उन सबको अविद्यालय कहा जाना चाहिए उपनिषद के हिसाब से। क्योंकि वहां विद्या का कोई भी संबंध नहीं है। हमारे जो विद्यापीठ हैं, वे अविद्यापीठ हैं। और हमारे जो विद्यापीठों के कुलपति हैं, वे अविद्याओं के कुलपति हैं। वहां से सिर्फ अविद्या... ।
लेकिन उपनिषद अविद्या के विरोध में नहीं हैं। उपनिषद कहते हैं, उन्हें विद्या मत समझ लेना, इस भूल में मत पड़ जाना। भेद को साफ समझ लेना। वह अविद्या है और अविद्या का अपना गुण है, अपनी युटिलिटी है। ऐसा नहीं है कि डाक्टर की जरूरत नहीं है। ऐसा नहीं है कि इंजीनियर बेमानी है। ऐसा भी नहीं है कि दुकानदार न हो तो अच्छा है। नहीं, दुकानदार भी जरूरी है, डाक्टर भी, इंजीनियर भी, सड़क साफ करने वाला भी, मकान बनाने वाला राजगीर भी, सब जरूरी हैं। सबकी उपयोगिता है। लेकिन उस आजीविका की विद्या को अगर किसी ने जीवन की कला समझ लिया, तो भूल हो गई। तो फिर वह सिर्फ रोटी-रोजी कमाएगा और मर जाएगा।
जीसस का वचन है, यू कैन नाट लिव बाई ब्रेड अलोन--सिर्फ रोटी से नहीं जी सकोगे तुम। यद्यपि इसका यह मतलब नहीं है कि रोटी के बिना जी सकोगे तुम। अकेली रोटी से नहीं जी सकोगे तुम। अकेली रोटी भी कोई जीवन होगी? जीवन की जरूरत है रोटी, जीवन नहीं है। रोटी के बिना जीवन नहीं विकसित हो सकेगा, नहीं खड़ा रह सकेगा, लेकिन फिर भी रोटी जीवन नहीं है।
नींव में हम पत्थर भरते हैं मकान के। नींव में भरे हुए पत्थर के बिना मकान खड़ा नहीं होगा। लेकिन ध्यान रखना, नींव में भरे हुए पत्थर मकान नहीं हैं। और अगर सिर्फ नींव भरकर आप बैठ गए, तो आप इस भ्रांति में मत रहना कि मकान बन गया। इसका यह मतलब भी नहीं है कि नींव नहीं भरी तो मकान बन जाएगा। नींव तो भरनी ही पड़ेगी। वह नेसेसरी ईविल है। वह जरूरी बुराई है, जो करनी पड़ेगी।
उपनिषद कहते हैं कि अविद्या का अपना गुण है। वह गुण है, आजीविका। वह गुण है, जीवन का जो बाह्य रूप है, जो शरीरगत जीवन है, उसको चलाए रखने की व्यवस्था। पर उसे ही सब कुछ मत समझ लेना। वह जरूरी है, लेकिन काफी नहीं है। इट इ.ज नेसेसरी, बट नाट इनफ--आवश्यक तो है, पर्याप्त नहीं है। उतने से सब नहीं हो जाएगा।
पूरब के मुल्कों ने, विशेषकर भारत ने दूसरी भूल की। कहा कि जब उपनिषद
के ऋषि कहते हैं, ज्ञानी कहते हैं कि अविद्या है यह, तो छोड़ो अविद्या। हम विद्या ही पकड़ें। इसलिए पूरब में विज्ञान विकसित न हो पाया। जिसे हमने मान लिया कि अविद्या है, उसे छोड़ दिया। इसलिए पूरब गरीब, दीन और दरिद्र और गुलाम हो गया। अविद्या को या तो हम इतना पकड़ने को राजी थे कि आत्महीन हो जाते या हम अविद्या को इतना छोड़ने को उत्सुक हो गए कि शरीर से, बाह्य जीवन से दीन-हीन हो गए।
उपनिषद कहते हैं, दोनों की उपादेयता है। दोनों अलग आयाम में, अलग डायमेंशन में जरूरी हैं। अविद्या की अपनी जगह है। अविद्या छोड़ देने की नहीं, अविद्या को सब कुछ नहीं मान लेना है। विद्या का अपना गुण है।
और इस सूत्र में एक बात और ऋषि ने कही है कि ऐसा हमने उनसे सुना, जो जानते हैं।

इसे भी थोड़ा समझ लेना जरूरी है।
कहते हैं, ऐसा हमने उनसे सुना है, जो जानते हैं।
क्या उपनिषद का यह ऋषि, जिसने यह वचन कहा, स्वयं नहीं जानता है? क्या इसने सुना है जो, वही कह रहा है? इसे स्वयं पता नहीं है? सुनी हुई बात कही जा रही है?
नहीं, इस बात को भी थोड़ा ठीक से समझ लेना जरूरी है, क्योंकि इससे बड़ी भ्रांति हुई है। पुराने दिनों में, जब ये उपनिषद के वचन रचे गए, तब अभिव्यक्ति का जो रूप था, उसे समझ लेना चाहिए। कोई भी व्यक्ति कभी ऐसा नहीं कहता था कि मैं जानता हूं। कारण थे उसके। कारण यह नहीं था कि वह नहीं जानता था। कारण यह था कि जानने के बाद मैं नहीं बचता। इसलिए अगर यह उपनिषद का ऋषि कहे कि ऐसा मैं जानकर कह रहा हूं, तो उस जमाने के लोग हंसे होते और कहते कि अभी तुम मत कहो, क्योंकि अभी तुम जान न सकोगे, क्योंकि अभी मैं मौजूद हूं। तो उपनिषद का वह ऋषि जानता है भलीभांति, पर वह कहता है, ऐसा हमने उनसे सुना है, जो जानते हैं। और मजा यह है, जिनसे उसने सुना है, उन्होंने भी ऐसा ही कहा है कि यह हमने उनसे सुना है, जो जानते हैं। और जिनके संबंध में वे कह रहे हैं, उन्होंने भी ऐसा ही कहा है कि हमने उनसे सुना है, जो जानते हैं।
इसके पीछे राज है। इसके पीछे व्यक्तिगत दावा नहीं है। इसके पीछे कोई इगोइस्टिक क्लेम नहीं है। इसके पीछे ऐसा नहीं है कि मैं जानता हूं। क्योंकि जानने वाले का मैं कहां बचता है। इसलिए कहते हैं, जो जानते हैं। और, और मजे की बात आपसे कहना चाहूं कि जो जानते हैं, उनसे हमने सुना है; इसमें वह व्यक्ति स्वयं भी सम्मिलित है, जो जानते हैं उनमें। यह थोड़ा कठिन पड़ेगा। यह थोड़ा कठिन पड़ेगा।
जैसा मैंने सुबह आपसे कहा कि जब मैं आपसे कुछ कह रहा हूं तो जैसा आप सुन रहे हैं, ऐसा मैं भी सुन रहा हूं। जो बोलने वाला सुनने वाला भी नहीं है, उस बोलने वाले को कुछ भी पता नहीं है। सत्य रेडीमेड नहीं होते, पूर्व-निर्मित नहीं होते। आविर्भूत होते हैं, सहज-जात होते हैं, स्पांटेनियस होते हैं। ऐसे ही निकलते हैं, जैसे वृक्षों से फूल निकलते हैं और सुगंध निकलती है। तो अगर मैं कुछ आपसे कह रहा हूं, तो दो तरह से कहा जा सकता है। एक तो कि मैंने उसे पहले तय किया हो, तैयार किया हो, फिर आपसे कहूं। तब वह बासा होगा। तब वह ताजा नहीं रहा। तब वह जीवंत भी नहीं रहा। तब वह मुर्दा हो गया। तब वह मरा हुआ हो गया। लेकिन जो आ रहा है वह आपसे कहता हूं, तो जिस भांति आप उसे सुन रहे हैं पहली बार, उसी तरह मैं भी सुन रहा हूं। तो मैं भी एक श्रोता हूं। आप ही श्रोता हैं, ऐसा नहीं; मैं भी फिर श्रोता हूं। तो जो उपनिषद का ऋषि कहता है कि जो जानते हैं, उनसे हमने सुना है; इसमें जिन्होंने जाना है, उनसे तो सुना ही है, अगर खुद भी जाना है तो वह भी सुना है। उसके लिए भी ऋषि अपने को श्रोता ही कह रहा है, सुनने वाला ही कह रहा है। और भी एक कारण है। जब भी कोई व्यक्ति परम सत्य को उपलब्ध होता है, तो परम सत्य ऐसा मालूम नहीं पड़ता कि मैंने बना लिया है। परम सत्य ऐसा मालूम पड़ता है कि मुझ पर उतरा है, अवतरित हुआ है। परम सत्य ऐसा मालूम नहीं पड़ता कि मेरा क्रिएशन, मेरा निर्माण है। बल्कि ऐसा मालूम पड़ता है कि मेरे समक्ष एक रिविलेशन, एक उदघाटन, एक इलहाम।
अगर कोई मोहम्मद से पूछे कि कुरान तुमने लिखी है? तो मोहम्मद कहेंगे
कि क्षमा करना, ऐसे पाप की बात मुझसे मत कहना। मैंने कुरान सुनी है। मैंने कुरान देखी है। मैंने कुरान लिखी है--सुनकर, देखकर। मैंने नहीं लिखी है। इसलिए मोहम्मद पैगंबर हैं। पैगंबर का अर्थ है मैसेंजर--वन हू हैज डिलीवर्ड दि मैसेज, जिसने सिर्फ खबर पहुंचा दी। उसे खबर दी गई थी, सत्य उसके सामने प्रगट हुआ था, उसने आकर आपको कह दिया कि सत्य ऐसा है। यह सत्य उसका निर्मित नहीं है।
इसलिए हमने ऋषियों को द्रष्टा कहा। स्रष्टा नहीं कहा, द्रष्टा कहा।
क्रिएटर्स नहीं, सीअर्स। नहीं कहा कि उन्होंने सत्य का सृजन किया, कहा कि उन्होंने सत्य को देखा। इसलिए हमने, जो उन्होंने देखा, उसको दर्शन कहा।
चाहे दर्शन हम कहें, चाहे श्रवण हम कहें।
यह ऋषि कहता है, सुना है हमने उनसे, जो जानते हैं।

वह यह कह रहा है कि सत्य हमसे मुक्त और पृथक है। हम उसे बनाते नहीं हैं। हम उसे निर्माण नहीं करते। हम केवल सुनते हैं, जानते हैं, देखते हैं। हम साक्षी भर हैं। साक्षी कहें, द्रष्टा कहें, श्रोता कहें--पैसेविटी पर ध्यान रखें।
ऋषि कह रहा है कि हम पैसिव हैं, एक्टिव नहीं। एक तो आप जब कुछ निर्मित करते हैं, तो आप एक्टिव होते हैं, सक्रिय होते हैं। जब आप कुछ ग्रहण करते हैं... । एक चित्रकार एक फूल बना रहा है, तब वह एक्टिव एजेंट है, तब वह सक्रिय काम कर रहा है। पर एक चित्रकार एक गुलाब के फूल के पास खड़े होकर उसका दर्शन कर रहा है, तब वह पैसिव एजेंट है। तब वह कुछ कर नहीं रहा है, सिर्फ ग्राहक है, रिसेप्टिव है। सिर्फ अपने दरवाजे खुले छोड़ दिए हैं। खिड़कियां, द्वार मन के खुले छोड़ दिए। फूल को कहा, आ जा! निमंत्रण दे दिया। हृदय पर लटका दिया--स्वागत है, और चुप खड़ा हो गया। तब वह रिसेप्टिव है। तब फूल भीतर जाएगा, हृदय पर उसकी पखुड़ियां स्पर्श करेंगी, प्राणों में उसकी सुगंध गूंजेगी। तो जो ग्राहक की भांति फूल को अपने भीतर ले गया है, उसके प्राण के कोने-कोने तक फूल समा जाएगा। लेकिन यहां वह जो ग्राहक है, वह पैसिव है। वह सिर्फ ग्रहण कर रहा है।
उपनिषद का यह ऋषि कहता है, ऐसा सुना हमने। इसमें वह खबर दे रहा है कि सत्य केवल उन्हें ही उपलब्ध होता है, जो पैसिव हैं। पैसिविटी इ.ज दि डोर-- ग्रहणशीलता द्वार है। जैसे कि सूरज निकला है दरवाजे के बाहर। हम सूरज को भीतर ला नहीं सकते, द्वार खोलकर बैठ सकते हैं लेकिन। और द्वार खुला है तो सूरज भीतर आ जाएगा। उसकी किरणें धीरे-धीरे नाचते-नाचते घर के भीतर के कोने तक पहुंचने लगेंगी। तो हम यह नहीं कह सकते कि हम सूरज को घर के भीतर ले आए। ले आना, जरा ज्यादा कहना होगा। हम इतना ही कह सकते हैं कि हमने सूरज को आने में बाधा न दी। हमने द्वार बंद न रखा। हम द्वार खुला करके बैठे। जरूरी नहीं था कि हमारा द्वार खुला होता तो भी सूरज आता। हालांकि यह जरूरी है कि हमारा द्वार बंद होता तो कभी न आता। जरूरी नहीं है कि द्वार खुला हो तो सूरज आए ही। द्वार खुला हो और सूरज न आए, तो हम कुछ कर न सकेंगे। लेकिन द्वार न खुला हो, तो फिर सूरज नहीं आ सकता है। मेरा मतलब समझ रहे हैं आप? द्वार खुला हो तो सूरज का आना जरूरी नहीं है। आए उसकी मर्जी, न आए उसकी मर्जी। लेकिन द्वार बंद हो तो सूरज का न आना सुनिश्चित है। अब उसकी मर्जी भी हो आने की तो भी नहीं आ सकता। इसका मतलब यह है कि हम अगर चाहें तो सत्य के प्रति अंधे हो सकते हैं। फिर सत्य कुछ भी न कर सकेगा। चाहें तो सत्य के प्रति आंख वाले हो सकते हैं। लेकिन तब सत्य को हम निर्मित नहीं करते हैं, सिर्फ दर्शन होता है।
जीवन में जो भी मूल्यवान है, जो भी सुंदर है, जो भी श्रेष्ठ है, जो भी सत्य है, जो भी शिव है, वह सभी ग्राहक मन को उपलब्ध होते हैं। द्वार देने वाला मन उन्हें पाता है। इसलिए ऋषि नहीं कहते ऐसा कि हमने, मैंने... ! नहीं, वे कहते हैं, जिन्होंने जाना, उनसे हमने सुना। जहां ज्ञान है, वहां से हमने सुना। जहां ज्ञान है, वहां से हमने पाया। इसमें मैं को पूरी तरह पोंछ डालने की आकांक्षा है। इसीलिए तो किसी उपनिषद पर कोई हस्ताक्षर नहीं है। नहीं जानते, कौन बोल रहा है, कौन कह रहा है, किसका वचन है! कोई हस्ताक्षर नहीं है। कुछ पता नहीं है कि कौन आदमी है जिसने यह कहा! इतने महासत्य बिना हस्ताक्षर के कोई कह गया! असल में महासत्य बिना हस्ताक्षर के ही कहे जा सकते हैं। क्योंकि महासत्य के जन्म के पहले ही वह मिट जाता है।
यह ऋषियों का अपने को बिल्कुल हटा देना बीच से! कुछ पता नहीं चलता कि कौन इन वचनों को कहा है। यह भी पक्का नहीं है कि ये वचन एक ही आदमी के हों। इसमें एक वचन एक का हो सकता है, दूसरा दूसरे का, तीसरा तीसरे का हो सकता है। लेकिन फिर भी एक मजा है। ये विभिन्न लोगों के वचन हैं, फिर भी इनमें एक संगति है, एक हार्मनी है, एक संगीत है। ये कितने ही भिन्न रहे होंगे लोग, ये एक-एक वचन को अलग-अलग लोगों ने कहा होगा, लेकिन फिर भी भीतर कहीं गहरे में बिल्कुल एक जैसे हो गए होंगे।
कभी जाएं किसी जैन मंदिर में, तो वहां चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियां हैं। एक मूर्ति में दूसरी मूर्ति में कोई भी भेद नहीं है। तो नीचे थोड़ा सा चिह्न होता है, जिसमें फर्क है। वह हमने अपने हिसाब के लिए निशान लगा रखे

हैं। नहीं तो पहचानना मुश्किल होगा, कौन महावीर हैं? कौन पार्श्वनाथ हैं? कौन नेमिनाथ हैं? हमने अपनी पहचान के लिए नीचे निशान लगा रखे हैं। नीचे के निशान पोंछ दें, फिर मूर्तियां बिल्कुल एक जैसी हो जाएंगी। चेहरे भी बिल्कुल एक जैसे।
यह बात ऐतिहासिक तो नहीं हो सकती। महावीर का चेहरा पार्श्वनाथ से एक जैसा नहीं हो सकता। और फिर चौबीस तीर्थंकर बिल्कुल एक ही शकल-सूरत के हो गए हों, यह जरा मुश्किल मालूम पड़ता है। दो आदमी नहीं होते एक शकल-सूरत के, तो चौबीस आदमी एक ही शकल-सूरत के खोज लेना तो मिरेकल है! पर क्या जिन्होंने बनाई थीं मूर्तियां, उनको इतनी समझ न आई कि किसी दिन कोई हंसेगा और कहेगा कि ये ऐतिहासिक नहीं हैं?
नहीं, उनको पूरी समझ थी। लेकिन हमने किन्हीं और भीतरी चेहरों की मूर्तियां बनाई हैं, बाहर के चेहरों को छोड़कर। वह एक भीतर एक सिमिलेरिटी है। महावीर के ऊपर के चेहरे में तो निश्चित ही फर्क रहा होगा पार्श्वनाथ से--लंबाई, नाक-नक्श, आंख, चेहरा सब अलग रहा होगा--लेकिन फिर भी एक जगह आती है जिंदगी में जहां मैं खो जाता है। फिर वहां भीतर तो कोई फासला नहीं रह जाता, फिर एक फेसलेसनेस--चेहरे से छुटकारा हो जाता है। फिर ऊपर के चेहरे बेमानी हैं।
इसलिए हमने ऊपर की मूर्तियां नहीं बनाई हैं। वह मूर्तियां भीतर की सिमिलेरिटी, वह भीतर की जो समता है, वह भीतर का जो एक जैसा पन है, उसकी फिकर की है। इसलिए एक जैसी मूर्तियां हैं।
ये उपनिषद के वचन अलग-अलग लोगों के हैं। और कुछ आश्चर्य न होगा कि यह
भी हो सकता है कि दो कड़ी का जो पद है, उसमें एक कड़ी एक की हो और दूसरी दूसरे की हो।
ऐसा हुआ। अंग्रेजी का महाकवि कूलरिज मरा तो उसके घर में चालीस हजार कविताएं अधूरी मिलीं। मरने के पहले उसके मित्रों ने बहुत बार कूलरिज को कहा कि इतनी अदभुत कविताएं अधूरी क्यों छोड़ रखी हैं! ये तुम पूरी कर दो। तुमसे बड़ा महाकवि दुनिया में नहीं होगा। चालीस हजार कविताएं अधूरी! इनको तुम पूरा कर दो। किसी में तीन पंक्तियां हैं, चौथी नहीं है। किसी में सात पंक्तियां हैं, आठवीं नहीं है। किसी में ग्यारह पंक्तियां हैं, बारहवीं नहीं है। एक पंक्ति के पीछे अटकी है। तुम पूरी क्यों नहीं कर देते? कूलरिज ने कहा कि ग्यारह ही आईं, बारहवीं की मैं प्रतीक्षा कर रहा हूं, दस वर्ष हो गए। अभी बारहवीं पंक्ति आई नहीं, तो मैं कैसे जोडूं? कभी किसी को आ जाएगी तो जोड़ देगा। आती नहीं है। मैं चाहूं तो बना सकता हूं, लेकिन वह झूठी होगी। वह लकड़ी की टांग हो जाएगी। असली आदमी में लकड़ी की टांग हो जाएगी। ये ग्यारह पंक्तियां तो जिंदा हैं, ये उतरी हैं। ये मैंने बनाई नहीं। किसी रिसेप्टिव मोमेंट में, किसी ग्राहक क्षण में मुझ पर आ गईं। मैंने उनको नीचे लिख दिया। बारहवीं अभी तक नहीं आई। अब मैं प्रतीक्षा कर रहा हूं। अगर इस जिंदगी में आ गई तो जोड़ दूंगा, अन्यथा इनको छोड़ जाऊंगा। कभी किसी और की जिंदगी में आ सकती है। कोई और किसी दिन द्वार बन जाए, बारहवीं पंक्ति वह जोड़ देगा।
जरूरी नहीं है कि इसमें दो पंक्तियां एक ही व्यक्ति की हों। ये उन व्यक्तियों की पंक्तियां हैं, जिन्होंने अपनी तरफ से कुछ नहीं लिखा। जो उन पर उतर आया है, उसे कह दिया।
इसलिए निश्चित रूप से यह कहना ऋषि का कि सुना हमने, जो जानते हैं वे ऐसा कहते हैं--संपूर्ण रूप से निरहंकार मनोदशा की स्वीकृति है, सूचना है, खबर है। मैं नहीं हूं, सिर्फ एक द्वार है--इसकी घोषणा है।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।। 11।।

जो विद्या और अविद्या--इन दोनों को ही एक साथ जानता है, वह अविद्या से
मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व प्राप्त कर लेता है।। 11।।

दोनों को जानता है जो, अविद्या को भी और विद्या को भी, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमृत को जान लेता है।
बड़ी अनूठी कड़ी है। कहा मैंने कि उपनिषद अविद्या के विरोधी नहीं हैं।
विद्या के पक्षपाती हैं, अविद्या के विरोधी जरा भी नहीं हैं।
कहा है, अविद्या को जानता है जो, वह अविद्या से मृत्यु को पार कर लेता है।
अविद्या की सारी लड़ाई मृत्यु से है। एक डाक्टर लड़ रहा है मृत्यु से,
एक इंजीनियर लड़ रहा है मृत्यु से। हमारी सारी साइंस लड़ रही है मृत्यु से। हमारा सारा व्यवसाय जीवन का लड़ रहा है मृत्यु से, बीमारी से, असुरक्षा से, खतरे से। जीवन मिट न जाए, उसके बचाने में लगी है सारी अविद्या। सारी अविद्या का संघर्ष मृत्यु से है। तो जो अविद्या को जानता है, वह मृत्यु को पार कर लेता है। वह जी लेता है ठीक से।
तो अविद्या से मृत्यु को पार कर लेना। लेकिन अविद्या से अमृत न मिलेगा। सिर्फ मृत्यु पार होती रहेगी। अविद्या से सिर्फ हम जी लेंगे। लेकिन जीवन का सार नहीं मिलेगा, मात्र जी लेंगे। कहना चाहिए--वेजीटेशन। गुजर जाएंगे जिंदगी के रास्ते से। भोजन मिल जाएगा, मकान मिल जाएगा, दवा मिल जाएगी, औषधि मिल जाएगी, सब मिल जाएगा। जिंदगी ठीक से गुजर जाएगी, सुविधा से गुजर जाएगी, लेकिन अमृत न मिलेगा। अगर किसी दिन अविद्या मृत्यु को बिल्कुल रोक दे, तो भी अमृत नहीं मिलेगा।
अभी विज्ञान इस चेष्टा में संलग्न है। असल में विज्ञान का सारा संघर्ष ही मृत्यु से बचाव के लिए है। इसलिए विज्ञान सदा ही उत्सुक है कि किस भांति मृत्यु को टाला जाए। अंतहीन टाला जा सके। और किसी दिन ऐसी स्थिति आ जाए कि हम मृत्यु को चाहें तो सदा के लिए टाल सकें। अगर पिछले तीन हजार साल के अविद्या के, विज्ञान के विकास को हम समझें, तो सारा संघर्ष मृत्यु से है। और विज्ञान उसमें बहुत दूर तक सफल भी हुआ है।
आज से हजार साल पहले दस बच्चे पैदा होते थे तो नौ मर जाते थे। आज जिन मुल्कों में विज्ञान प्रभावी हो गया है, वहां दस बच्चे पैदा होते हैं तो एक मरता है, नौ बचते हैं। दस हजार साल पुरानी हड्डियां जो मिली हैं, तो एक भी हड्डी ऐसी नहीं मिली, जिसकी उम्र पच्चीस साल से ज्यादा रही हो। यानी जिसकी वह हड्डी है, वह आदमी पच्चीस साल से ज्यादा उम्र का नहीं था। दस हजार साल पुरानी एक भी हड्डी नहीं मिली पूरी पृथ्वी पर कि दस हजार साल पहले कोई आदमी की हड्डी बची हो जो पच्चीस साल से ज्यादा जीया हो।
आज सोवियत रूस में एक हजार आदमियों से ऊपर लोग डेढ़ सौ वर्ष के ऊपर हैं। सौ वर्ष सामान्य बात हुई चली जाती है। इसलिए आपको कभी-कभी हैरानी होती है कि अखबार में खबर आ जाती है कि रूस में किसी नब्बे वर्ष के बूढ़े ने विवाह किया, तो हमें बड़ा ऐसा लगता है कि बूढ़ा बड़ा नासमझ है। आपको पता होना चाहिए कि बूढ़ा अभी बूढ़ा नहीं है, और कोई बात नहीं है। नब्बे वर्ष का बूढ़ा जब शादी करता है तो आप अपने बूढ़े से हिसाब मत लगाना, आपका बूढ़ा तो बीस साल पहले मर चुका होगा। वह नब्बे साल का बूढ़ा उस कौम में है, जहां डेढ़ सौ वर्ष तक उम्र खींची जा सकती है। तो जब डेढ़ सौ वर्ष तक उम्र खिंच जाए, तो आप जवानी का वक्त कब तक रखिएगा? कम से कम सौ साल तो मानिएगा!
तो जहां-जहां विज्ञान सफल हुआ है वहां मौत को धक्के दिए गए हैं। और अभी सफलता और बढ़ती चली जाती है। अब इसमें कुछ बहुत असंभावना नहीं दिखती कि हम आदमी के शरीर को, बहुत शीघ्र, इस सदी के पूरे होते-होते इस स्थिति में आ जाएंगे कि अगर जिलाए रखना चाहें, तो कोई कारण नहीं होगा कि हम न जिला सकें। अंतहीन भी जिलाया जा सकता है।
इसलिए भी पश्चिम, विशेषकर अमरीका के कुछ विचारकों में एक बात चलनी शुरू हुई है, विचार तीव्र हुआ है, और वह यह कि इसके पहले कि वैज्ञानिक सफल हो जाएं आदमी की उम्र को लंबा करने में, हमें प्रत्येक आदमी को मरने का जन्मसिद्ध अधिकार है, यह कांस्टीट्यूशन में जोड़ लेना चाहिए। नहीं तो बहुत मुश्किल होगी। क्योंकि अगर कोई सरकार किसी आदमी को न मरने देना चाहे, तो उस आदमी का कोई हक नहीं होगा। अभी तक हमने दुनिया में कानून बनाए थे कि किसी आदमी को मारने का हक नहीं है। लेकिन अभी सारी दुनिया के विशेष मुल्कों में, जहां विज्ञान सफल हो रहा है जीवन को लंबा करने में--जैसा कि

स्विट्जरलैंड में या स्वीडन में या नार्वे में--जहां उम्र बहुत ऊपर चली गई, तो वहां अथनासिया के लिए आंदोलन चलता है। वहां के विचारशील लोग जोर से एक आंदोलन चला रहे हैं कि जो आदमी मरना चाहता है, उसे कोई डाक्टर बचाने के लिए हकदार नहीं है। और अगर कोई डाक्टर बचाता है तो वह उस व्यक्ति के मौलिक सिद्धांत पर, जीवन के अधिकार पर हमला करता है।
क्योंकि खतरनाक है। एक आदमी डेढ़ सौ साल का है, अब डेढ़ सौ साल का आदमी शायद ही और जीना चाहे। अगर बिल्कुल ही बुद्धिहीन हो तो बात अलग है। नहीं तो डेढ़ सौ साल का आदमी अब चाहेगा कि विश्राम करे, विदा हो जाए। लेकिन डाक्टर उसको चाहें तो अस्पतालों में उसे लटकाए रख सकते हैं। उसे जिंदा रख सकते हैं। और डाक्टरों को भी अभी हक नहीं है किसी को मरने में सहायता देने का। इसलिए डाक्टर भी यह नहीं कह सकते कि हम मरने में सहायता दें। हम तो पूरी कोशिश करेंगे तुम्हें बचाने की, तुम मर जाओ वह बात अलग है। इसलिए आंदोलन चलता है कि हम आदमी को मरने का हक दे दें, कि कोई आदमी अगर तय कर ले कि मुझे मरना है तो उसे कोई रोक नहीं सकेगा।
यह बहुत जल्दी अर्थपूर्ण बात हो जाएगी। क्योंकि आदमी के शरीर में अब
तक ऐसी कोई बात नहीं पाई जा सकी है, जिसके कारण मृत्यु अनिवार्य हो। अगर मृत्यु घटित होती है तो उसका कुल कारण इतना है कि आदमी के शरीर के हिस्से अभी रिप्लेसेबिल नहीं हो सके हैं। हम उसके कुछ पार्ट्स को अभी बदल नहीं पाते हैं इसलिए तकलीफ है। जैसे-जैसे हम उसके शरीर के हिस्सों को बदलने में समर्थ होते चले जाएंगे, वैसे-वैसे आदमी को मरना अनिवार्यता नहीं रह जाएगी, स्वेच्छा का कृत्य हो जाएगा। ध्यान रखिए, बहुत शीघ्र दुनिया में कोई आदमी सिवाय दुर्घटना के अतिरिक्त अपने आप नहीं मरेगा। तो दुनिया में मृत्यु कम और आत्मघात--वह आत्मघात होगा जब आदमी डाक्टर को कहेगा, मुझे मार डालो-- आत्मघात सामान्य प्रक्रिया मृत्यु की हो जाएगी।
उपनिषद बहुत प्राचीन समय में यह कहते हैं कि अविद्या से मृत्यु के पार... । मृत्यु को जीता भी जा सकता है अविद्या से। अभी जो पश्चिम का चिकित्सा-शास्त्र कर रहा है, वह उपनिषद घोषणा करते हैं। वे कहते हैं, अविद्या से मृत्यु को जीता भी जा सकता है। इतने दूर हटाई जा सकती है मौत, क्योंकि मौत... भीतर हमारे जो तत्व है उसकी तो कोई मौत होती नहीं। मौत होती है हमारे शरीर की। फिर हमारे भीतर के तत्व को नया शरीर ग्रहण करना पड़ता है। अगर हम पुराने शरीर को ही काम योग्य बनाए रख सकें, तो नए शरीर को ग्रहण करने की कोई जरूरत नहीं है। और नया शरीर ग्रहण करना बहुत नान-इकनामिकल है, बहुत गैर-आर्थिक है।
क्योंकि एक बूढ़ा आदमी मरता है। आप सोचें कि प्रकृति को इकनामी नहीं आती। असल में प्रकृति को कोई अर्थशास्त्र का अनुभव नहीं है। बच्चों को पैदा करती है, बूढ़ों को मार देती है। बूढ़े हमारे सब सीखे-सिखाए, सारी मेहनत किए हुए; और बच्चे पैदा कर देती है बिल्कुल बिना सीखे हुए, बिल्कुल बेकाम। जिनके साथ हमने सत्तर साल मेहनत की, जिनमें किसी तरह थोड़ी-बहुत बुद्धि की मात्रा आई, उनको समाप्त कर देती है और फिर निर्बुद्धियों को पैदा कर देती है। उनको फिर हम बड़ा करें। बहुत नान-इकनामिकल है! इकनामिकल तो यही होगा कि सत्तर साल का आदमी मरने न दिया जाए, क्योंकि सत्तर साल का अनुभव खोता है व्यर्थ। और सत्तर साल का आदमी मरेगा, फिर नया जन्म लेगा--फिर बीस साल शिक्षा, पच्चीस साल शिक्षा में व्यतीत होंगे, तब कहीं वह फिर उस स्थिति में आ पाएगा मुश्किल से, जिस स्थिति में मरा था। यह व्यर्थ है। तो विज्ञान, अविद्या, इस दिशा में संलग्न रही है। और वह इस चेष्टा में है कि हम, यह जो अपव्यय होता है, इसे रोकें।
अगर हम आइंस्टीन को बचा सकें, तो बड़ा अपव्यय बचेगा। और आइंस्टीन अगर तीन सौ साल जिंदा रह सके, तो दुनिया के ज्ञान में जो वृद्धि होगी, वह आइंस्टीन तीन दफे जन्म ले तो नहीं होगी। क्योंकि यह तीन सौ साल की कंटीन्युअस प्रौढ़ता होगी। और बार-बार इसमें बीच में डिस्कंटीन्यूटी नहीं होगी। बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस, तीस-तीस साल का गैप बीच में आकर नष्ट नहीं करेगा। तो अगर आइंस्टीन को हम तीन सौ साल जिंदा रख लें, तो आइंस्टीन ज्ञान में इतनी वृद्धि कर जाएगा, जिसका कि कोई हिसाब नहीं है।

और ज्ञान का कोई अंत नहीं है। मनुष्य का एक छोटा सा मस्तिष्क, इस छोटे
से मस्तिष्क में कोई पचास करोड़ सेल हैं, और एक-एक सेल की इतने ज्ञान को संरक्षित करने की क्षमता है कि वैज्ञानिक कहते हैं कि अभी पृथ्वी पर जितने पुस्तकालय हैं, एक व्यक्ति के मस्तिष्क में सब समाए जा सकते हैं। पचास करोड़ कोष्ठ इतनी बड़ी शक्ति है कि सारी पृथ्वी पर जितना ज्ञान है अभी, वह एक व्यक्ति उसका मालिक हो सकता है। यह दूसरी बात है कि हमारे पास अभी इतना ज्ञान उस व्यक्ति के भीतर डालने की व्यवस्था नहीं है। हमारे डालने की व्यवस्था बहुत आदम है।
एक बच्चे को सिखाते हैं, बीस साल लग जाते हैं, तब कहीं उसको बी.ए. करवा पाते हैं। कुछ हल नहीं होता। बीस साल शिक्षा देने के बाद इतना ही हो पाता है कि हम कह सकते हैं कि यह आदमी अशिक्षित नहीं है। बस, इतना ही हो पाता है। कुछ खास हो नहीं पाता। सत्तर साल भी शिक्षा दें, तो भी कुछ बहुत विशेष नहीं होने वाला है। ज्ञान इतना है और उस ज्ञान को व्यक्ति के मस्तिष्क में डालने की सुविधा और व्यवस्था अभी इतनी नहीं है। इसलिए बड़ी नई व्यवस्थाएं खोजी जा रही हैं कि शिक्षण के नए प्रयोग खोज लिए जाएं।
तो रूस में स्लीप टीचिंग पर भारी काम चलता है कि बच्चे को दिन में पढ़ाना और रातभर वह बेकार सोया रहता है, तो रात के बारह घंटे खराब चले जाते हैं, तो रात टेप लगाकर उसके कान में, रातभर वह सोया रहे और टेप रातभर उसको शिक्षा भी देता रहे। नींद को भी शिक्षा के लिए माध्यम बनाने के बड़े उपाय चलते हैं, और दूर तक सफलता मिली है। और बहुत जल्दी जो शिक्षा अभी हम पंद्रह वर्ष में दे पाते हैं, वह हम सात वर्ष में दे पाएंगे। क्योंकि रात का भी उपयोग कर लेंगे। और भी सुविधा की बात है कि शिक्षक जब जागते में बच्चे को शिक्षा देता है तो बच्चे और शिक्षक के अहंकार में संघर्ष खड़ा हो जाता है, जिसकी वजह से बहुत बाधा पड़ती है। नींद में कोई संघर्ष खड़ा नहीं होता, शिक्षा सीधी आत्मसात हो जाती है। शिक्षक होता ही नहीं। विद्यार्थी भी नहीं होता। विद्यार्थी सोया होता है, शिक्षक मौजूद नहीं होता। सिर्फ टेप-रिकार्डर होता है। वह धीरे-धीरे रातभर में बच्चे में शिक्षा डाल देता है। बच्चा उसको सीधा स्वीकार कर लेता है।
अविद्या के द्वारा मृत्यु को जीता जा सकता है, यह उपनिषद की घोषणा समस्त विज्ञानपीठों के ऊपर लिख दी जानी चाहिए। और उपनिषद का ऋषि ऐसा कहता है कि अविद्या से मृत्यु को जीता जा सकता है, क्योंकि मृत्यु सिर्फ शारीरिक दुर्घटना है। शरीर को अगर हम थोड़ी व्यवस्था दे सकें तो मृत्यु लंबाई जा सकती है, दूर तक ढकेली जा सकती है। कोई अड़चन नहीं है।
अभी अमरीका में एक आदमी मरा है पंद्रह वर्ष पहले। लेकिन अभी तक कोई आदमी मर जाए तो उसे वापस पुनरुज्जीवित करने के विज्ञान के पास उपाय नहीं हैं। लेकिन वैज्ञानिकों का ख्याल है कि 1980 के पूरे होते-होते हमारे पास उपाय होंगे कि कोई व्यक्ति मर जाए तो हम उसे रिवाइव कर लें। तो वह आदमी दस करोड़ डालर की वसीयत करके गया है कि मेरी लाश को कम से कम 1980 तक पूरी तरह सुरक्षित रखा जाए, क्योंकि 1980 में रिवाइव मैं हो सकूं। तो रोज कोई एक लाख रुपया खर्च उसकी लाश को बिल्कुल वैसा ही सुरक्षित रखने में किया जा रहा है कि उसमें रत्तीभर फर्क न पड़े। जैसा वह मरने के क्षण में था, वैसा ही 1980 तक उसकी लाश को ले जाया जा सके--ठीक वैसा ही। ताकि 1980 में, जब कि विज्ञान हमारे हाथ में आ जाए, हम उसके शरीर को वापस पुनरुज्जीवन दे सकें। इससे अध्यात्मवादी बहुत घबराते हैं। वे कहते हैं, अगर ऐसा हो गया तो इसका मतलब हुआ फिर, फिर आत्मा का क्या हुआ? अगर 1980 में यह आदमी जिंदा हो जाए, तो फिर आत्मा का क्या हुआ?
लेकिन यह आदमी एक ही शर्त पर जिंदा हो सकेगा। विज्ञान शरीर को रिवाइव
कर ले, इतना जरूरी है हिस्सा, लेकिन पर्याप्त नहीं। अगर उसकी आत्मा भटकती हो अभी तक और नए शरीर को ग्रहण न किया हो, तो प्रवेश कर जाएगी। और मुझे लगता है, इस आदमी की भटकेगी। इतनी बड़ी वसीयत करके गया है। दस करोड़ डालर का मामला है, कोई छोटा मामला नहीं है। आदमी भटकेगा। वह बीस साल प्रतीक्षा करेगा। और अगर शरीर उसका पुनरुज्जीवित हो सकता है तो वह वापस पुनर्प्रवेश कर जाएगा। ऐसे ही जैसे मकान गिर जाए, फिर बन जाए, हम घर में वापस आ जाते हैं।

अविद्या से मृत्यु को जीता जा सकता है, लेकिन अमृत को नहीं पाया जा सकता।
यह दूसरा सूत्र और भी जरूरी है। मृत्यु को भी जीत ले किसी दिन विज्ञान
और हम आदमी को इस हालत में कर दें कि वह करीब-करीब इम्मार्टल हो जाए, न मरे, तो भी क्या हुआ? तो भी अमृत का कोई अनुभव नहीं हुआ। तो भी हमने उसे नहीं जाना, जो अमृत है। तब भी हम उसी को जान रहे हैं, जो सत्तर साल जीता था, अब सात सौ साल जीता है। तब सत्तर साल जीता था, अब सात हजार साल जीता है। लेकिन जो जीने के भी पहले था, जन्म के भी पहले था और जो मरने के बाद भी बच जाता है, उसका हमें कोई अनुभव नहीं है। अमृत को तो जानना हो तो विद्या से ही जाना जा सकता है।
इसलिए उपनिषद अविद्या को बड़ी कीमत देते हैं। मृत्यु से संघर्ष में वही उपाय है। लेकिन अमृत की उपलब्धि में वह उपाय नहीं है। मृत्यु से संघर्ष एक निगेटिव, एक नकारात्मक प्रक्रिया है। अमृत की उपलब्धि एक विधायक, एक पाजिटिव अचीवमेंट है, एक विधायक उपलब्धि है। अमृत की उपलब्धि उसे जानने की चेष्टा है, जो जन्म के पहले भी था और जो मैं मर जाऊं तो भी रहेगा। जो अभी भी है, कल भी था, परसों भी था। जब यह देह नहीं थी तब भी था और जब यह देह नहीं रहेगी तब भी होगा। उसे जानना अमृत की उपलब्धि है। और इस शरीर को खींचे चले जाना मृत्यु से संघर्ष है। इस शरीर को लंबाए चले जाना, जन्म और मृत्यु की सीमा को बड़ा किए चले जाना मृत्यु से संघर्ष है। और जन्म और मृत्यु के जो पार है, उसकी अनुभूति में उतर जाना अमृत की उपलब्धि है। अमृत की उपलब्धि, उपनिषद कहते हैं, विद्या से होगी।
इस विद्या के दो-चार सूत्र भी समझ लेने चाहिए। इस अमृत की उपलब्धि की विद्या का सूत्र क्या होगा?
पहली बात, जो व्यक्ति भी सोचता है कि मैं शरीर हूं, वह कभी अमृत की दिशा में गति नहीं कर पाएगा। इसलिए विद्या का पहला सूत्र है, शरीर से तादात्म्य छिन्न-भिन्न कर लेना। जानते रहना निरंतर, स्मरण करना निरंतर, बार-बार होश रखना, पुनः-पुनः ख्याल में लाना--मैं शरीर नहीं हूं। यह जितना गहरा बैठ जाए कि मैं शरीर नहीं हूं, उतना ही अमृत की दिशा में गति हो पाएगी। और जितना यह गहरा बैठ जाए कि मैं शरीर हूं, उतनी ही अविद्या, उतनी ही मृत्यु से संघर्ष की यात्रा चलेगी।
और जैसा जीवन है, उसमें मैं शरीर हूं, यह चौबीस घंटे स्मरण आता है। पैर में जरा चोट लगी, स्मरण आता है, मैं शरीर हूं। पेट में जरा भूख लगी, स्मरण आता है, मैं शरीर हूं। सिर में जरा दर्द हुआ, स्मरण आता है, मैं शरीर हूं। बुखार आ गया, स्मरण आता है, मैं शरीर हूं। बुढ़ापा उतरने लगा, स्मरण आता है, मैं शरीर हूं। जवानी उठने लगी, स्मरण आता है, मैं शरीर हूं। सब तरफ जीवन में, सब तरफ से इशारा मिलता है कि मैं शरीर हूं। इसका तो कोई इशारा नहीं मिलता कहीं से कि मैं शरीर नहीं हूं। और मजा यह है कि वही सत्य है, जिसका कोई इशारा नहीं मिलता; और वही असत्य है, जिसके लिए रोज इशारे मिलते हैं। लेकिन इशारे मिलते हैं इसलिए कि हमारे इशारे समझने में, इशारों को डी- कोड करने में बड़ी बुनियादी भूल हो रही है। कुछ कहा जाता है, कुछ हम समझते हैं। बड़ी मिसअंडरस्टैंडिंग है। पूरी जिंदगी एक बड़ी मिसअंडरस्टैंडिंग है। इशारे कुछ और कहते हैं, हम कुछ और समझते हैं। कहा कुछ और जाता है, हम अर्थ कुछ और निकालते हैं। पेट में लगती है भूख, तब मैं कहता हूं, मुझे भूख लगी है। गलत। हमने, जो सूचना मिली, उसका गलत अर्थ लिया। सूचना केवल इतनी थी कि मुझे पता चल रहा है कि पेट में भूख लगी है। मुझे पता चल रहा है कि पेट में भूख लगी है, सूचना कुल इतनी है। लेकिन हम कहते हैं, मुझे भूख लगी है। हम कैसे इस नतीजे पर पहुंचते हैं, आज तक कोई नहीं बता पाया। यह बीच का हिस्सा कैसे गिर जाता है! मुझे पता चलता है कि पेट में भूख लगी है। मुझे भूख कभी नहीं लगती। लेकिन मैं कहता हूं, मुझे भूख लगी है। सिर में दर्द होता है, तब मुझे पता चलता है--पता चलता है मुझे--कि सिर में दर्द हो रहा है। लेकिन मैं कहता हूं, मेरे सिर में दर्द हो रहा है। ऐसा भी मैं बाहर कहता हूं कि मेरे सिर में दर्द हो रहा है, भीतर तो मैं ऐसा कहता हूं, मुझमें दर्द हो रहा है।

शरीर की सूचनाओं में भूल नहीं है। शरीर की सूचनाओं को जब हम डी-कोड करते हैं। जब उसकी सूचनाओं को हम समझने की चेष्टा में व्याख्या करते हैं, तब भूल हो जाती है। व्याख्या में भूल है।
स्वामी राम निरंतर ठीक-ठीक बोलते थे। तो लोग उन्हें पागल समझने लगे। पागलों की दुनिया है। वहां कोई ठीक-ठीक आदमी हो तो पागल समझ लिया जाए, अड़चन नहीं है। राम कभी नहीं कहते थे कि मुझे भूख लगी है। कभी वह कहते कि सुनो भाई, इधर भूख लगी है। थोड़ी सी हैरानी हो जाती कि दिमाग खराब हो गया! आपका दिमाग तो ठीक है? तो ठीक कह रहा है बेचारा, तो दिमाग ठीक है, यह सवाल उठता है। कभी आकर घर कहते कि आज बड़ा मजा आया। रास्ते से गुजरते थे, कुछ लोग राम को गाली देने लगे। राम को--यह नहीं कहते कि मुझको। यह नहीं कि मैं निकलता था, मुझे लोग गाली देने लगे। कहते कि कुछ लोग मिल गए, बड़ा मजा आया, राम को गाली देने लगे। हम भी सुनते थे। हमने कहा, देखो राम! मिला मजा!
पहली बार जब स्वामी राम अमरीका गए और जब ऐसा बोलने लगे थर्ड पर्सन में, तो बड़ी कठिनाई हुई। यहां तो उनके मित्र उनको जानते थे कि ठीक है, इनका दिमाग थोड़ा... ! लेकिन वहां बड़ी मुश्किल हुई, लोग बिल्कुल समझ ही न पाएं कि वे क्या कह रहे हैं।
लेकिन वही ठीक कहते हैं। वह बिल्कुल ही ठीक कहते हैं। पेट को ही भूख लगती है, आपको कभी भूख नहीं लगी। आज तक नहीं लगी। लग नहीं सकती। क्योंकि आत्मतत्व में भूख का कोई उपाय नहीं है। आत्मतत्व के पास भूख का कोई यंत्र नहीं है। आत्मतत्व के पास भूख की कोई सुविधा नहीं है। आत्मतत्व में न कुछ कम होता, न ज्यादा होता। आत्मतत्व के लिए कोई कमी नहीं होती जिसको पूरा करने के लिए भूख लगे। शरीर में रोज कमी होती है। क्योंकि शरीर रोज मरता है। असल में मरने की वजह से भूख लगती है।
अब आपको यह बहुत हैरानी लगेगी कि आप चूंकि रोज मर जाते हैं, इसलिए जितना हिस्सा मर जाता है उसको रिप्लेस करना पड़ता है भोजन से। और कुछ नहीं है। आपके भीतर कुछ हिस्सा मर जाता है। उस मरे हुए हिस्से को आपको वापस जीवित हिस्से से पूरा करना पड़ता है, तब आप जिंदा रह पाते हैं।
इसीलिए तो एक दिन उपवास कर लें, तो एक पौंड वजन कम हो जाता है। क्या हुआ? वह एक पौंड हिस्सा आपका मर गया। उसको आपने रिप्लेस नहीं किया। उसको फिर से स्थापित करना पड़ेगा। इसलिए वैज्ञानिक कहते हैं कि एक आदमी नब्बे दिन तक भूखा रह सकता है। इससे ज्यादा मुश्किल पड़ जाएगा। क्योंकि नब्बे दिन तक उसके भीतर अर्जित, इकट्ठी चर्बी होती है, जितने से वह अपना काम चला सकता है। मरता जाएगा और पूरा करता रहेगा भीतर। कमजोर होता जाएगा, वजन कम होता जाएगा, जीर्ण-क्षीण होता चला जाएगा, लेकिन जिंदा रह लेगा।
भोजन से हम अपने मरे हुए तत्व की कमी पूरी कर देते हैं। जो कमी हो गई है, उसको पूरा कर देते हैं। लेकिन आत्मा तो मरती नहीं, उसका कोई तत्व कम नहीं होता, इसलिए आत्मा को भूख का कोई कारण नहीं। पर एक और मजे की बात है। आत्मा को भूख नहीं लगती, शरीर को भूख पता नहीं चलती। शरीर को भूख लगती है, आत्मा को भूख पता चलती है।
यह करीब-करीब मामला वैसा ही है जैसा एक बार आपको पता ही होगा, एक जंगल में आग लग गई थी। और एक अंधे और लंगड़े को जंगल के बाहर निकलना पड़ा था। अंधा देख नहीं पाता था। आग थी भयंकर। चल तो सकता था, पैर मजबूत थे, लेकिन चलना खतरनाक था। जहां खड़ा था, कम से कम वहां अभी आग नहीं थी। अंधा आदमी भागे, बचने का उपाय करे, और जल जाए! पास में लंगड़ा भी था, वह चल नहीं सकता था। बेशक उसको दिखाई पड़ता था कि आग आ रही है।
वह अंधे और लंगड़े समझदार रहे होंगे, जैसा कि सामान्य रूप से अंधे और लंगड़े रहते नहीं। समझदार इतने होते नहीं। आंख वाले नहीं होते, अंधे कैसे होंगे! पैर वाले नहीं होते, तो लंगड़े कैसे होंगे!
उन दोनों ने एक समझौता कर लिया। लंगड़े ने कहा कि अगर बचना है हमें तो
एक ही रास्ता है कि मैं तुम्हारे कंधों पर आ जाऊं। तुम्हारे पैर का उपयोग करो, मेरी आंख का। मैं देखूंगा, तुम चलो, तो हम बच सकते हैं। बच गए वे। आग के बाहर निकल आए।
जीवन के बाहर, आत्मा और शरीर की जो यात्रा है जीवन के भीतर और बाहर, वह अंधे-लंगड़े की यात्रा है। वह एक गहरा समझौता है। आत्मा को अनुभव होता है,

घटना कोई नहीं घटती। शरीर में घटनाएं घटती हैं, अनुभव कोई नहीं होता। अनुभव सब आत्मा को होते हैं, घटनाएं सब शरीर में घटती हैं। इसीलिए तो उपद्रव हो जाता है। इसलिए उपद्रव ऐसे ही हो जाता है। उस दिन भी शायद हुआ होगा। कहानी में ईसप ने लिखा नहीं है। जिसने यह कहानी लिखी है अंधे-लंगड़े की, उसने लिखा नहीं है, लेकिन हुआ जरूर होगा। जब अंधा तेजी से दौड़ा होगा और लंगड़े ने तेजी से देखा होगा--दोनों को तेजी की जरूरत थी, आग थी जंगल में--तो यह पूरी संभावना है कि अंधे को ऐसा लगा हो कि मैं देख रहा हूं और लंगड़े को ऐसा लगा हो कि मैं भाग रहा हूं। इसकी बहुत संभावना है।
बस, वैसा ही हमारे भीतर घट जाता है।
इसको तोड़ना पड़ेगा। इसको अलग-अलग करना पड़ेगा। ये उलझे तार हैं। शरीर में सब घटनाएं घटती हैं, आत्मा सब अनुभव करती है। इन दोनों को अलग-अलग कर लें, तो विद्या का सूत्र पकड़ में आने लगे। अमृत की यात्रा शुरू हो जाए।
बस, आज के लिए इतना ही। फिर कल सुबह।
अब अमृत की यात्रा पर निकलें।
दो-तीन बातें आपसे कह दूं। आज चूंकि हाल है, इसलिए परिणाम बहुत ज्यादा होंगे। बंद है जगह, तो इतने लोगों के प्राणों की आकांक्षा और संकल्प के वाइब्रेशंस, इतनी तरंगें बहुत व्यापक परिणाम लाएंगी। कोई भी बच नहीं सकेगा। फिर तीन दिन भी हो गए हैं, तो गहराई बढ़ेगी। जो पीछे रह गए हों, आज अगर खुद न भी चल पाते हों, तो दूसरों की तरंगों पर सवारी कर जाएं। लेकिन आज कोई खड़ा न रह जाए।
जो मित्र देखने ही आ गए हों, वे कृपा करके बाहर निकल जाएं। कोई व्यक्ति देखने वाला भीतर न रहे, उसे नुकसान हो सकता है। जो देखने आ गया हो, वह चुपचाप बाहर निकल जाए। भीतर तो वही लोग रहेंगे जो करेंगे।

ईशावास्य उपनिषद
आठवां प्रवचन

वह चैतन्य है

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः।। 12।।

जो असंभूति की उपासना करते हैं, वे घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं।
और जो संभूति में रत हैं, वे मानो उनसे भी अधिक अंधकार में प्रवेश करते हैं।। 12।।

अस्तित्व का प्रगट रूप है प्रकृति--जो दिखाई पड़ता है आंखों से, हाथों
से स्पर्श में आता है, इंद्रियां जिसे पहचान पाती हैं, इंद्रियों को जिसकी प्रत्यभिज्ञा होती है। कहें कि जो दृश्यमान परमात्मा है, वह प्रकृति है। लेकिन यह तो उनका अनुभव है, जिन्होंने परमात्मा को जाना। वे कहेंगे कि परमात्मा की देह प्रकृति है। लेकिन हम तो केवल देह को ही जानते हैं। वह परमात्मा की है देह, ऐसा हमारा जानना नहीं है। वह जो अप्रगट चैतन्य है, उसकी ही आकृति है प्रकृति, उसका ही प्रगट रूप है--ऐसा तो वे जानते हैं, जो उस अप्रगट को भी जानते हैं। हमारा जानना तो इतना ही है कि जो यह प्रगट है, यही सब कुछ है।
उपनिषद कहते हैं कि जो इस प्रगट प्रकृति की ही उपासना में रत हैं, वे अंधकार में प्रवेश करते हैं।
हम सभी रत हैं। उपासना में वे ही लोग रत नहीं हैं, जो मंदिरों में प्रार्थना और पूजा कर रहे हैं। उपासना में वे लोग भी रत हैं, जो इंद्रियों के मंदिर में पूजा और प्रार्थना कर रहे हैं।
उपासना शब्द का अर्थ होता हैः पास बैठना। उप आसन--निकट बैठना।
जब आप स्वाद में रस लेते हैं तब आप स्वाद की इंद्रिय के पास बैठ गए हैं। तब आप उससे अभिभूत हैं। तब स्वाद की उपासना चल रही है। जब आप कामवासना में रस लेते हैं तब आप काम-इंद्रिय के निकट बैठ गए हैं। काम-इंद्रिय की उपासना चल रही है। वे जो स्वयं को नास्तिक कहते हैं, वे भी उपासना में रत हैं। ईश्वर की उपासना में नहीं, प्रकृति की उपासना में रत हैं। उपासना से तो बचना कठिन है, किसी न किसी के पास तो बैठ ही जाना होगा। अगर परमात्मा के पास न बैठेंगे तो प्रकृति के पास बैठ जाएंगे। अगर आत्मा के पास न बैठेंगे तो शरीर के पास बैठ जाएंगे। अगर अलौकिक के पास न बैठेंगे तो लौकिक के पास बैठ जाएंगे। पास तो बैठ ही जाएंगे। सिर्फ एक संभावना को छोड़कर हर हालत में उपासना जारी रहेगी--सिर्फ एक संभावना को छोड़कर। उसकी मैं पीछे बात करूंगा।
उपनिषद का यह सूत्र कहता है कि जो प्रकृति की उपासना में रत हैं, वे अंधकार में प्रवेश करते हैं।
अंधकार में इसलिए प्रवेश करते हैं कि प्रकृति की उपासना से प्रकाश का कोई भी संबंध नहीं जुड़ पाता। असल में प्रकृति की उपासना का मूलभूत आधार, शर्त एक है, और वह है अंधेरा। किसी भी वासना को पूरा करना हो तो चित्त जितने अंधेरे से भरा हो उतनी आसानी पड़ेगी। अगर चित्त में प्रकाश हो तो वासना को पूरा करना मुश्किल हो जाएगा। चित्त जितना मूर्च्छा में हो, वासना की दौड़ उतनी सुगम हो जाएगी। चित्त जितना सोया हो, जितनी तंद्रा में हो।
समस्त इंद्रियों के रस किसी गहन मूर्च्छा में लिए जाते हैं। जागेंगे
तो इंद्रियों के पार जाने लगेंगे। सोएंगे तो इंद्रियों के पास आने लगेंगे। जितनी होगी निद्रा, उतनी होगी निकटता। इसलिए प्रकृति के उपासक को मूर्च्छित होना ही होगा। इंद्रियों के उपासक को किसी न किसी तरह की बेहोशी खोजनी ही पड़ेगी। इसलिए अगर इंद्रियों के उपासक धीरे-धीरे मूर्च्छा के अनेक-अनेक उपायों को खोज लेते हैं, इंटाक्सिकेंट्स को खोज लेते हैं, शराब को खोज लेते हैं, तो आश्चर्य नहीं। असल में इंद्रियों का

भक्त बहुत दिन तक शराब से दूर नहीं रह सकता। इसलिए जहां जितना इंद्रियों का उपासक बढ़ेगा वहां उतनी ही शराब और बेहोशी के नए-नए उपाय बढ़ते चले जाएंगे।
इंद्रियों की साधना के लिए, उपासना के लिए चित्त जितना अजागरूक हो, जितना विवेकशून्य हो, उतना अच्छा है। क्रोध करना हो, कि लोभ करना हो, कि काम से भरना हो तो चित्त का मूर्च्छित होना जरूरी है, बेहोश होना जरूरी है। इस बेहोशी की स्थिति में ही हम प्रकृति की उपासना कर पाते हैं।
तो उपनिषद का यह सूत्र अर्थपूर्ण है। कहता है कि अंधकार में प्रवेश
कर जाते हैं वे लोग, जो प्रगट, दिखाई पड़ रहा है, प्रत्यक्ष है जो, उसकी उपासना में रत हो जाते हैं। प्रकृति की उपासना में जो रत हैं, वे अंधकार में प्रवेश करते हैं। लेकिन और भी एक बात कही है कि और महा अंधकार में प्रवेश करते हैं वे, जो कर्म प्रकृति की उपासना में रत हैं।
एक तो इंद्रियों की सहज उपासना है, जो पशु भी करते हैं। एक पशु है, वह
भी इंद्रियों की उपासना में रहता है। लेकिन कोई पशु कर्म प्रकृति की उपासना में रत नहीं रहता। अब इसे थोड़ा समझ लेना पड़ेगा। यह आदमी की विशेष दिशा है--कर्म प्रकृति की उपासना।
एक आदमी पद के लिए दौड़ रहा है। किसी भी पद पर होने से किसी विशेष इंद्रिय के तृप्त होने की सीधी कोई संभावना नहीं है। परोक्ष संभावना है कि किसी पद पर होने से वह किन्हीं इंद्रियों को परोक्ष रूप से तृप्त करने के लिए ज्यादा सुविधा पा जाए। लेकिन प्रत्यक्ष, सीधी कोई संभावना नहीं है। पद पर होने से इंद्रियों का कोई सीधा लेना-देना नहीं है। पद की दौड़ का जो रस है, वह इंद्रियों को नहीं, अहंकार को मिलता है--मैं कुछ हूं। हां, मैं कुछ हूं, तो जो कुछ भी नहीं हैं, उनसे ज्यादा इंद्रियों को तृप्त कर लेने में मुझे सुविधा मिल जाएगी। लेकिन मैं कुछ हूं, इसका अपना ही रस है। तो कर्म की उपासना में जो रस हम लेते हैं, वह अहंकार की तृप्ति का रस है। उपनिषद कहते हैं कि ऐसा आदमी महा अंधकार में चला जाता है। पशुओं से भी गहन अंधकार में चला जाता है।
क्योंकि पशु जो रस ले रहे हैं वह प्राकृतिक ही है। एक आदमी खाने में
रस ले रहा है। एक अर्थ में पाशविक है। एक अर्थ में पशुओं जैसा है। लेकिन एक आदमी राजनीति में रस ले रहा है और पदों पर खड़ा होता चला जा रहा है, यह पशु से भी गया-बीता है। यह स्वाभाविक भी नहीं है। यह जो ले रहा है रस, यह परवर्टेड है, यह नेचुरल भी नहीं है। किसी पद पर होने में जो रस है, वह किसी इंद्रिय को, प्राकृतिक इंद्रिय को तृप्ति नहीं देता है। एक बहुत अप्राकृतिक ग्रोथ, ग्रंथि एक हमारे भीतर अहंकार की बढ़ती है, उसको रस देता है कि दूसरा कुछ भी नहीं है और मैं कुछ हूं। डामिनेशन का रस है, दूसरे के ऊपर मालकियत करने का रस है। दूसरे को मुट्ठी में दबा देने का रस है। दूसरे की गर्दन को कस लेने का रस है।
तो कर्म प्रकृति की उपासना का अर्थ है, अहंकार को तृप्त करने की जो-जो दिशाएं--चाहे यश, चाहे पद, चाहे धन। माना कि धन हो पास तो आदमी अपनी इंद्रियों की वासनाओं को तृप्त करने में ज्यादा सहूलियत पाता है। धन पास न हो तो मुसीबत होती है। लेकिन कुछ लोग धन को धन के लिए ही उपासना करते हैं। इसलिए नहीं कि धन पास में होगा तो वे एक सुंदर स्त्री को खरीद सकेंगे। इसलिए भी नहीं कि धन पास में होगा तो वे अच्छा भोजन खरीद सकेंगे। इसीलिए कि धन पास में होगा तो वे समबडी, वे कुछ हो जाएंगे। कुछ खरीदने का सवाल नहीं है बड़ा। और अक्सर ऐसा होता है कि धन इकट्ठा करते-करते इंद्रियों तक को भोगने की क्षमता खो जाती है। फिर तो धन की ही गिनती है कि आंकड़े कितने हैं बैंक बैलेंस में, उसका ही रस रह जाता है। वैसा आदमी बड़े कर्म में रत होता है सुबह से सांझ। न रात सोता है, न दिन ठीक से जागता है। दौड़ता रहता है, धन इकट्ठा करता चला जाता है, ढेर लगाता जाता है।
एक आदमी यश इकट्ठा करता चला जाता है। एक आदमी ज्ञान इकट्ठा करता चला जाता है। जहां से भी, मैं कुछ हूं, इस रस को पोषण मिलता हो, वहीं से हमारे कर्मों का विराट जाल शुरू होता है।
ध्यान रखें, पशुओं के जगत में इतना उपद्रव नहीं है, जितना मनुष्य के जगत में है। यद्यपि सब पशु प्रकृति के उपासक हैं, पक्के उपासक हैं, वे कोई

और दूसरी उपासना नहीं करते। भोजन चाहिए, सुरक्षा चाहिए, काम-तृप्ति चाहिए, निद्रा चाहिए, यात्रा पूरी हो जाती है। एक पशु इससे ज्यादा नहीं मांगता। एक अर्थ में पशु की मांग बड़ी सीमित है। एक अर्थ में पशु बड़ा संयमी है। उसकी मांग बहुत ज्यादा नहीं है। बहुत थोड़ी सी मांग है। अल्प मांग है। उसकी इंद्रियां जो मांगती हैं वह पूरा हो जाए, फिर उसे कोई फिक्र नहीं है। वह राष्ट्रपति होने को उत्सुक नहीं होता। उसे भोजन मिला तो वह विश्राम में चला जाता है। कामवासना की भी पशुओं की मांग बड़ी संयमित है। मनुष्य को छोड़कर, पशुओं के पूरे विराट जगत में कामवासना सावधिक है, पीरिआडिकल है। एक समय होता है, जब पशु काम की मांग करता है। वैसे वर्षभर के लिए वह शेष समय के लिए काम के बाहर होता है, वह काम की मांग नहीं करता।
सिर्फ मनुष्य अकेला पशु है पृथ्वी पर, जिसकी कामवासना सतत है, चौबीस घंटे है, तीन सौ पैंसठ दिन। कोई सुनिश्चित अवधि नहीं है जब वह कामातुर होता हो। वह पूरे समय कामातुर होता है। कामातुरता उसके पूरे जीवन पर फैल जाती है।
कोई पशु इतना कामातुर नहीं है। पशु को भोजन मिल गया तो बात समाप्त हो गई। कल के लिए, परसों के लिए, वर्ष के लिए, दो वर्ष के लिए भोजन को इकट्ठा करने की भी बहुत आकांक्षा पशु में नहीं है। अगर पशु दूर से दूर की भी फिक्र करता है तो वह शायद एकाध वर्ष की--कोई पशु। लेकिन आदमी अकेला पशु है, जो पूरे जीवन के संग्रह के लिए ही कोशिश नहीं करता, जीवन के बाद, मृत्यु के बाद भी अगर कोई अस्तित्व है तो उसके लिए भी संग्रह करता है।
इजिप्त की ममीज में, कब्रों में, आदमी मर जाए तो सारा साज-सामान उसके साथ रख देते थे। जितना बड़ा आदमी हो उतना सामान रखना पड़ता था। सम्राट मरता था तो उसकी सारी पत्नियों को भी जिंदा उसके साथ दफना देते थे, क्योंकि उसको उस पार जरूरत पड़ सकती है। सारा धन, भोजन, बड़ा इंतजाम है। ये जो पिरामिड्स खड़े हैं, ये मुर्दा लोगों के लिए किए गए इंतजाम हैं इजिप्त में। जीवित स्त्रियों को पति के साथ दफना दिया जाएगा, क्योंकि मरने के बाद... । मरने के बाद की तो कोई पशु फिक्र नहीं करता। मरने तक की भी फिक्र नहीं करता। समय की उसकी आकांक्षा भी बड़ी सीमित है। अनेक-अनेक रूपों में आदमी परलोक का भी इंतजाम करता है। मंदिर बना देता है, दान दे देता है, इस आशा में कि परलोक में भंजा लेगा। परलोक में दिखा देगा कि मैंने इतना दान किया था। उसका उत्तर मुझे, उसका प्रत्युत्तर मिल जाए।
इंद्रियों की उपासना इतनी जटिल नहीं है। और इसीलिए जितना पुराना समाज है--आदिवासी हैं, प्रिमिटिव्स हैं--बहुत जाल नहीं है जीवन में, इसलिए बहुत तनाव नहीं है। क्योंकि बहुत अर्थों में पशुओं के जैसी ही सिर्फ इंद्रियों की उपासना है। यह कर्म प्रकृति की उपासना नहीं है।
जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य होता है, वैसे-वैसे इंद्रियों के ऊपर भी अहंकार की प्रतिष्ठा होनी शुरू हो जाती है। और अगर कोई आदमी अपने अहंकार के लिए अपनी इंद्रियों की बलि दे देता है तो हम उसका बड़ा सम्मान करते हैं, हम बड़ा सम्मान करते हैं। अगर एक आदमी पद की दौड़ में भोजन की फिक्र छोड़ देता है, पत्नी की फिक्र छोड़ देता है, बच्चों की फिक्र छोड़ देता है, तो हम कहते हैं, महात्यागी है। पद की दौड़ में! प्रतिष्ठा की दौड़ में! हम कहते हैं-- देखो, न भोजन की फिक्र है उसे, न वस्त्रों की चिंता है, न घर-द्वार की चिंता है। लेकिन ख्याल करें पीछे कि वह अपनी पशु प्रकृति को अहंकार के लिए समर्पित कर रहा है।
उपनिषद कहते हैं, वैसा व्यक्ति तो महा अंधकार में चला जाता है। उससे
तो बेहतर वही है, जो सिर्फ इंद्रियों की उपासना में रत है। उसका जाल गहन नहीं है। और इंद्रियों की मांग बहुत ज्यादा नहीं है, अहंकार की मांग अनंत है। इंद्रियों के साथ एक और खूबी है कि सभी इंद्रियों की मांग अल्प, अत्यल्प और सीमित है। पुनरुक्त होती है, लेकिन असीम नहीं है। इस फर्क को समझ लें।
इंद्रियों की मांग पुनरुक्त होती है, रिपीट होती है, लेकिन असीम नहीं है। आज आपको भूख लगी है, खाना दे दिया, भूख चली गई। कल फिर लगेगी भूख। रिपीट होगी, पुनरुक्त होगी। लेकिन किसी की भी भूख असीम नहीं है। ऐसा नहीं है कि आप खाते ही चले जाएं और भूख न मिटे। कामवासना आज पकड़ेगी, फिर चौबीस घंटे

बाद लौट आएगी। लेकिन आज जब कामवासना तृप्त हो जाएगी तो आप अचानक पाएंगे कि काम के बिल्कुल बाहर हो गए हैं। कामवासना भी असीम नहीं है। पुनरुक्त होती है, लेकिन सीमित है।
लेकिन अहंकार असीम है। पुनरुक्त होने की जरूरत ही नहीं पड़ती, चलता ही चला जाता है। कितना ही भरो, वह नहीं भरता। अहंकार दुष्पूर है। उसको भरा नहीं जा सकता। एक पद दो, वह दूसरे पद की मांग तत्काल शुरू कर देता है। मिला भी नहीं पहला पद कि वह दूसरे की तैयारी शुरू कर देता है। एक आदमी को कहो कि मिनिस्टर बनाएं, तो उसी रात वह चीफ मिनिस्टर का सपना देखने लगता है--उसी रात। क्योंकि ठीक है, जो हो गया वह हो गया। अब आगे की यात्रा अहंकार तत्काल शुरू कर देता है।
अहंकार पुनरुक्त नहीं होता, ध्यान रखना, वासनाएं पुनरुक्त होती हैं।
और पुनरुक्त इसीलिए होती हैं कि हरेक वासना की सीमित मांग है, वह पूरी हो जाती है तो वह शांत हो जाती है। फिर जब जगती है दोबारा तब फिर मांग करती है।
इसलिए पशु चिंतित नहीं हैं बहुत। इसलिए पशु पागल नहीं होते, न्यूरोटिक नहीं हैं। पशु आत्महत्या नहीं करते। पशुओं को मानसिक चिकित्सा की और साइकोएनालिसिस की कोई जरूरत नहीं पड़ती। पशुओं के लिए किसी फ्रायड का, किसी जुंग का, किसी एडलर का कोई प्रयोजन नहीं है, कोई अर्थ नहीं है। अगर पशु को गौर से देखें तो पशु बहुत शांत है। बहुत भयंकर पशु भी बहुत शांत है। अगर शेर को आपने भोजन के बाद देखा हो तो बिल्कुल शांत पाएंगे। जरा भी अशांति नहीं होगी। एकदम हिंसक, लेकिन हिंसा उसकी उसी समय तक, जब तक उसे भोजन नहीं मिला। भोजन मिला कि वह बिल्कुल ही अहिंसक हो जाता है, एकदम गांधीवादी हो जाता है! उसे कोई... फिर भोजन उसके पास में भी पड़ा रहे तो भी देखता नहीं। अक्सर सिंह जब भोजन करता है, उसके बाद विश्राम करता है, तब छोटे-मोटे जानवर--जो उसके भोजन बन सकते हैं--उसके बचे हुए भोजन को उसके पास ही बैठकर करते रहते हैं। नहीं, कल जब भूख वापस लौटेगी तब वह फिर उत्सुक हो जाएगा हिंसा के लिए, लेकिन तब तक बात समाप्त हो गई, तब तक कोई बात नहीं। लेकिन आदमी के अहंकार की भूख समाप्त ही नहीं होती। जितना भरो उतना बढ़ती है।
फर्क समझ लेना आप इंद्रिय और अहंकार का। इंद्रिय को भरो, भर जाती है। फिर खाली होगी, फिर रिक्त होगी, फिर भरना पड़ेगी। लेकिन अहंकार भरता ही नहीं। भरते चले जाओ, जितना भरो उतना बढ़ता है। वह आग में जैसे घी डाला हो बुझाने के लिए, ऐसा अहंकार में पड़ी हुई सारी पूर्तियां घी बन जाती हैं आग में पड़ी हुई। और भभकता है, और बड़ा होता है। जितना आपने बड़ा किया, वह उससे और बड़े होने की मांग करता है। जो भी आप अहंकार को देते हैं, वह केवल उसको और बढ़ने की ही सुविधा बनता है। इसलिए अहंकार जिस क्षण से मनुष्य को पकड़ता है, उसी क्षण से पशुओं से भी ज्यादा अशांति, तनाव, चिंता, बेचैनी आदमी को पकड़नी शुरू हो जाती है।
आज पश्चिम में वापस इंद्रियों पर लौट जाने का विराट आंदोलन है। वापस इंद्रियों पर लौट जाने का। जिनको आप हिप्पी कहते हैं, या बीटनिक कहते हैं, या प्रवोस कहते हैं। आज पश्चिम में जो युवक और युवतियां बड़ा आंदोलन चला रहे हैं, वह आंदोलन है वापस इंद्रियों पर लौट जाने का। वे कहते हैं, तुम्हारी यह शिक्षा, तुम्हारी ये डिग्रियां, तुम्हारे ये पद, तुम्हारा यह धन, तुम्हारी ये कारें, तुम्हारे ये महल कुछ भी हमें नहीं चाहिए। हमें खाना मिल जाए, हमें प्रेम मिल जाए, हमें सेक्स मिल जाए, पर्याप्त है। हमें तुम्हारा ये नहीं चाहिए।
और मैं मानता हूं कि यह बड़ी भारी घटना है। ऐसा अभी मनुष्य जाति के इतिहास में कभी नहीं हुआ कि इतने व्यापक आंदोलन पर लोगों ने कहा हो कि हम कर्म प्रकृति को छोड़कर सिर्फ इंद्रियजन्य, वह जो प्रगट प्रकृति है इंद्रियों की, वासनाओं की, उसके लिए ही राजी हैं। पर्याप्त है उतना, हमें ज्यादा नहीं चाहिए।
यह इस बात की खबर है कि कर्म और अहंकार का जाल इतना भयंकर हो गया है कि आदमी पशु होने को राजी है, लेकिन अब अहंकार से छूटना चाहता है। यद्यपि पशु होने से आदमी अहंकार से छूट नहीं सकेगा। अहंकार से तो आदमी सिर्फ

परमात्मा होकर ही छूटता है। इंद्रियों में गिरकर थोड़ी राहत मिलेगी, लेकिन कल फिर कर्म का जाल शुरू हो जाएगा। क्योंकि आज से दो हजार साल पहले इंद्रियों के साथ ही आदमी जी रहा था, लेकिन उसमें से अहंकार निकल आया। आज हम फिर वापस रिग्रेस कर जाएं, कल फिर अहंकार निकल आएगा। कोई उपाय नहीं है पीछे लौटने का। आदमी को आगे ही जाना होगा।
इस सूत्र में उपनिषद ने कहा है कि प्रकृति की उपासना में रत तो अंधकार में भटकते हैं। अहंकार की उपासना में रत महा अंधकार में भटक जाते हैं। फिर कौन अंधकार के पार होता है? कौन?
दो ही तरह की उपासनाएं दिखाई पड़ती हैं। या तो इंद्रियों के उपासक हैं,
या अहंकार के उपासक हैं। और अक्सर अहंकार के उपासक इंद्रियों की उपासना के विरोधी होते हैं। एक आदमी त्याग किए चला जा रहा है। अगर हम त्यागी की मनोदशा को चीर-फाड़ करके देख सकें, उसका आपरेशन कर सकें, तो आप हैरान होंगे कि त्यागी का रहस्य और राज अहंकार की तृप्ति है, सम्मान है। उसने तीस दिन का उपवास कर लिया है, गांव में बैंड-बाजे बज रहे हैं, स्वागत हो रहा है। तीस दिन का उपवास उसने झेल लिया है। हम कहेंगे कि महात्याग किया है, तीस दिन भूखा रहना साधारण बात तो नहीं! बिल्कुल साधारण बात नहीं है। लेकिन बिल्कुल साधारण है, अगर अहंकार को तृप्ति मिलती हो। तीस दिन क्या आदमी तीस साल भूखा रह जाए, अगर अहंकार को तृप्ति मिलती हो। अहंकार किसी भी इंद्रिय का त्याग करवाने को सदा तैयार है, सदा तैयार है।
और इस राज को हम बहुत पहले समझ गए, इसलिए जिससे भी त्याग करवाना हो उसके अहंकार की हम तृप्ति करना शुरू करते हैं। मनुष्य जाति इस राज को ठीक से समझ गई है। इसलिए आप त्यागी का सम्मान करते हैं। सम्मान के बिना कोई त्याग करने को राजी नहीं होगा। यद्यपि त्यागी वही है, जो सम्मान के बिना त्याग कर सकता हो। आप अपने सम्मान को खींच लें त्यागियों से, सौ में से निन्यानबे त्यागी कल आपको कहीं नहीं मिलेंगे, खो जाएंगे। सम्मान को खींचकर आप देखें, तो आपको पता चलेगा।
हमें ख्याल में नहीं है कि गांव में एक आदमी अगर एक ही बार भोजन करता
है और पूरा गांव उसके पैर छू लेता है, तो आपने उसको इतना भोजन दे दिया, जो कि जीवनभर चलने के लिए काफी है। अहंकार को दे दिया। शरीर को काटेगा वह आदमी, अहंकार को भरता चला जाएगा। और इसलिए अहंकार की इस पूजा के लिए कुछ भी करवाया जा सकता है। और करीब-करीब सब कुछ करवा लिया गया है। पूरे मनुष्य जाति के इतिहास में हजार-हजार रूपों में, आदमी से कुछ भी करवाया जा सकता है।
यूरोप में कोड़ा मारने वाले साधुओं का एक बड़ा व्यापक आंदोलन था मध्ययुग में। जो साधु जितने कोड़े अपने को मारे, उतना सम्मान मिलता था। क्योंकि वह शरीर पर उतनी तितिक्षा कर रहा है। तो बड़े अदभुत साधु पैदा हुए मध्ययुग में। जिनका कुल गुण इतना था कि वे सुबह से उठकर अपने मांस को कोड़ों से चीर-फाड़ डालते, लहूलुहान कर लेते। और गांव में प्रसिद्धि होती कि फलां आदमी पचास कोड़े मारता है, फलां आदमी सौ कोड़े मारता है। बस, इतना गुण था, और कोई गुण न था। लेकिन इसके लिए बड़ा आदर मिलता था। तो कोड़े मारने में लोग निष्णात हो गए।
आपको हैरानी लगेगी कि यह क्या पागलपन है! जिस आदमी में और कुछ नहीं था, सिर्फ कोड़े मार सकता था, उसको आदर देने का क्या कारण?
आप जरा अपने साधुओं को सोचेंगे तो पता चलेगा कि उनमें क्या गुण हैं? किसी साधु में यही गुण है कि वह पैदल चलता है। किसी साधु में यही गुण है कि वह एक बार भोजन करता है। किसी साधु में यही गुण है कि वह स्त्री को नहीं छूता। किसी साधु में यही गुण है कि वह नंगा रहता है। ये गुण हैं! इनमें कुछ भी तो नहीं है। सार क्या है? कितने ही चलो पैदल! सारे जानवर पैदल चल रहे हैं।
नहीं, लेकिन सार एक है कि वे जो पैदल नहीं चल पाते, पैदल चलने में कठिनाई अनुभव करते हैं, जो कि स्वाभाविक है, वे इनको आदर देते हैं। कार में चलने वाला पैदल चलने वाले के पैर छूता है। पैदल चलने वाले ने कार को दो कौड़ी का कर दिया। तुम्हारे कार का अहंकार मिट्टी में रख दिया। चलते होओगे कार में, लेकिन पैर तो छूना पड़ता है उसका, जो पैदल चलता है!

पैदल चलने वाला शायद कार अर्जित न कर पाता। वह जरा कठिन मामला था। लेकिन पैदल तो चल पा सकता है। आपके अहंकार को तोड़ने के दो उपाय थे। या तो आपसे बड़ी कार ले आता वह, जो कि जरा कठिन है। और या फिर पैदल चल जाता, जो कि बिल्कुल सरल है। वह पैदल चलकर आपके अहंकार को मिट्टी में मिला देगा। उसने अकड़ कायम कर ली है। लेकिन गुण क्या है? गुणवत्ता क्या है? कौन सी क्वालिटेटिव, कौन सी गुणात्मक क्रांति हो गई उस आदमी में, जो पैदल चल रहा है? लेकिन हम उसको सम्मान देंगे।
सम्मान हम इसलिए देंगे कि जो हम नहीं कर पा रहे हैं, हमें लगता है कि तकलीफदेह है, वह कर रहा है। तो हमें लगता है कि बड़ा त्याग कर रहा है। और उस आदमी को सम्मान मिलता है, तो सम्मान के लिए कोई आदमी सारी पृथ्वी का चक्कर लगा सकता है। पैदल क्या, जमीन पर घसिटते हुए लगा सकता है। जमीन पर घसिटते हुए भी लोग लगाते हैं। काशी तक की यात्रा कर लेते हैं जमीन पर घसिटते हुए। और उनके पीछे सौ दो सौ आदमी चलने लगते हैं, क्योंकि वह जमीन पर घसिटकर काशी जा रहे हैं। और भी कोई गुण हैं इसके अलावा? नहीं, उसकी कोई जरूरत नहीं है। त्यागी अक्सर इंद्रियों के खिलाफ अहंकार की पूर्ति करते चले जाते हैं। मैं तो उसे त्यागी कहता हूं, जो इंद्रियों से तो मुक्त होता है और अहंकार को तृप्त नहीं करता। तभी त्याग है, अन्यथा कोई अर्थ नहीं। जो इन दोनों से मुक्त होता है, जिसकी उपनिषद चर्चा कर रहे हैं। जो न तो प्रकृति की उपासना में रत है और न अहंकार की उपासना में रत है। जो इन दोनों उपासनाओं में रत नहीं है, वह प्रकाश में प्रवेश करता है।
और ध्यान रखना, इंद्रियों की उपासना बहुत प्रगट उपासना है। और अहंकार
की उपासना बहुत सूक्ष्म। इसलिए अहंकार की उपासना को पहचानना अक्सर कठिन होता है। प्रकृति की उपासना तो प्रगट दिखाई पड़ती है।
एक आदमी भोजन में ज्यादा रस लेता है, तो प्रगट दिखाई पड़ता है। एक आदमी सुंदर कपड़े पहनता है, तो प्रगट दिखाई पड़ता है। लेकिन जो आदमी सुंदर कपड़े पहनकर गांव में निकलता है, उसकी आकांक्षा क्या होती है? यही आकांक्षा होती है न कि लोग देखें! यही आकांक्षा होती है न कि लोग जानें, लोग मानें कि वह कुछ है! आखिर लाख या दो लाख रुपए का मिंक कोट पहनकर कोई स्त्री निकलती है तो किसलिए? कोई दो लाख रुपए के कोट का कोई कोट जैसा उपयोग नहीं होता। मतलब कोट से कोई दो लाख का लेना-देना नहीं है। दो-चार सौ रुपए का कोट काफी कोट है। लेकिन दो लाख रुपए के कोट का क्या अर्थ होता होगा? निश्चित ही कोट का कोई प्रयोजन नहीं है, लेकिन दूसरी स्त्रियों की आंखों में जो जलन जग जाती होगी, उसका रस है। जो दूसरी स्त्रियों की दीनता प्रगट हो जाती होगी उस कोट के सामने, उसमें रस है।
लेकिन यह दिखाई पड़ता है, इसमें बहुत अड़चन नहीं है। इसमें बहुत कठिनाई नहीं है कि एक आदमी दो लाख रुपए का कोट पहन ले, तो हमें समझ में आता है कि क्या है, क्या। लेकिन एक आदमी नग्न खड़ा हो जाए बाजार में? कहीं उसका भी रस तो यही नहीं है कि लोग देखें कि वह कुछ है! अगर है, तो मिंक कोट में और दिगंबरत्व में कोई फर्क न रहा। फर्क इतना ही रहा कि मिंक कोट खरीदना हो तो लंबे उपद्रव में पड़ना पड़ेगा, दो लाख कमाने पड़ेंगे। और नग्न खड़ा होना हो और मिंक कोट का ही मजा मिल जाता हो, तो सरल अभ्यास है।
इंद्रियों की उपासना बहुत साफ है, आबियस है, साफ दिखाई पड़ती है। अहंकार की उपासना सूक्ष्म और सूक्ष्म और सूक्ष्म होती चली जाती है।
नहीं, ध्यान अपने पर रखना, दूसरे की फिक्र मत करना आप कि दूसरा क्या कर रहा है? कोई दूसरा नग्न खड़ा है, तो वह किसलिए खड़ा है, आप नहीं जान सकेंगे।
बात इतनी सूक्ष्म है कि वह खुद भी जान ले तो पर्याप्त है। आप नहीं जान सकेंगे। हो सकता है, उसकी नग्नता सिर्फ निर्दोषता हो, सिर्फ इनोसेंस हो। एक महावीर नग्न खड़े होते हैं, तो निश्चित ही नग्नता का उपयोग महावीर मिंक कोट की तरह नहीं कर सकते, क्योंकि मिंक कोट उनके पास बहुत थे। महावीर के पास बहुत कीमती कोट थे। वह समबडी होने का रस तो उनके लिए बहुत था। तो महावीर जैसा आदमी जब नग्न खड़ा हो जाता है, तो किसी अहंकार की उपासना में जा रहा होगा, इसकी संभावना न के बराबर है। बिल्कुल न के बराबर है। लेकिन वह भी हम बाहर से नहीं जान सकते, वह महावीर पर ही छोड़ देना चाहिए कि वह भीतर से जाने। आपके पड़ोस में कोई खड़ा है नग्न, आप नहीं जान सकते कि वह क्यों खड़ा है!

यह उस पर ही छोड़ दें कि वह जाने। यह उसे ही पहचानने दें। यह बात सूक्ष्म और भीतरी है।
इंद्रियों की तृप्ति करनी हो तो हमें बाहर जाना पड़ता है। अहंकार की तृप्ति करनी हो तो बाहर जाने की भी जरूरत नहीं है, सिर्फ भीतर भी पूरा हो सकता है।
मैंने सुना है कि एक संन्यासी एक जंगल में अकेला रहता है, दूर। उसने कोई शिष्य नहीं बनाया। फिर कोई यात्री साधु वहां से निकलता है और उससे कहता है कि आप बड़े विनम्र हैं, आपने एक भी शिष्य नहीं बनाया। इतने बड़े ज्ञानी, फिर भी आप किसी के गुरु नहीं बने। मैं अभी एक दूसरे संन्यासी के पास से आ रहा हूं, उनके हजारों शिष्य हैं।
वह साधु मुस्कुराता है, सिर्फ मुस्कुराता है। और वह कहता है कि उनकी मुझसे तुम क्या तुलना कर रहे हो! मेरी उनसे तुम क्या तुलना कर रहे हो! मैं तो नितांत, नितांत एकांतजीवी हूं। मैं किसी तरह का मोह नहीं बनाता। मैंने एक शिष्य का भी मोह नहीं बनाया। मैं किसी तरह का अहंकार निर्मित नहीं करता। मैं गुरु होने का भी अहंकार निर्मित नहीं करता हूं। मैं बिल्कुल निरहंकारी हूं। उस आदमी ने कहा कि आप ही जैसा एक निरहंकारी साधु मैंने और देखा था।
उस साधु का चेहरा बदल गया, मुस्कुराहट खो गई। प्रतियोगी सामने खड़ा हो गया तो अहंकार पीड़ा पाता है। पहले वह प्रसन्न हो रहा था, क्योंकि वह जिस साधु की बात कर रहा था, उसमें उसके अहंकार को चोट नहीं लगती थी, भरता था। अब उसने कहा कि ऐसा ही एक साधु मैंने और देखा था, इससे बड़ी पीड़ा होती है। मेरे ही जैसा कोई और? इससे चित्त को बड़ा दुख होता है।
तो वह नितांत एकांतजीवी व्यक्ति भी उस निर्जन एकांत में भी अहंकार को
भर रहा है। वह इससे ही भर रहा है कि मैं अकेला रहता हूं। वह इससे ही भर रहा है कि मैंने शिष्य नहीं बनाए। कोई इससे भर सकता है कि मैंने शिष्य बनाए, कोई इससे भर सकता है कि मैंने शिष्य नहीं बनाए। कोई कह सकता है, मुझसे बड़ा कोई भी नहीं। और कोई कह सकता है कि मैं तो दीन-हीन हूं, आपके पैर की धूल हूं, लेकिन मुझसे बड़ी धूल कोई भी नहीं है। मुझसे आगे की धूल की बात मत करना, मैं आखिरी हूं। तब कोई फर्क नहीं पड़ता है। तब कोई फर्क नहीं पड़ता है। पर इसे पहचानने को स्वयं के भीतर ही जाना पड़ेगा।
दोनों उपासनाओं से जो मुक्त हो जाता है, वह प्रकाश में प्रवेश करता है। इंद्रियों की उपासना से, अहंकार की उपासना से। प्रगट प्रकृति की उपासना से और सूक्ष्म अस्मिता की उपासना से।
पर उपनिषद एक बात बड़ी गहरी कहते हैं कि पहली उपासना इतने गहरे अंधकार में नहीं ले जाती, क्योंकि इंद्रियां अंततः आपको दी गई हैं, प्रकृति से। आपने उन्हें निर्माण नहीं किया। अहंकार आपका निर्मित है। अहंकार अर्जन है। इंद्रियां तो गिवेन हैं।
आप पैदा हुए तो भूख साथ लेकर आए। स्वाद से आप भला किसी दिन मुक्त हो जाएं, भूख से आप किसी दिन मुक्त नहीं हो सकेंगे। भूख तो मरते दम तक साथ रहेगी। भूख जरूरत है। इंद्रियां तो आप लेकर आए और इंद्रियों से कितने ही मुक्त हो जाएं, तो भी इंद्रियों की जरूरत से मुक्त नहीं होंगे। इंद्रियों की वासना से मुक्त हो सकते हैं, लेकिन इंद्रियों से मुक्त नहीं हो सकते। इंद्रियों की विक्षिप्तता से मुक्त हो सकते हैं, लेकिन इंद्रियों की आवश्यकता से मुक्त नहीं हो सकते। वह तो महावीर भी नहीं हो सकते, बुद्ध भी नहीं हो सकते, कोई भी नहीं हो सकता। वह तो जीवन का अनिवार्य अंग है कि भोजन आपको चाहिए पड़ेगा।
हां, इतना हो सकता है--और वही इंद्रियों की उपासना से जो मुक्त होता है, उसको हो जाता है--इतना हो जाता है, वह पागल नहीं रह जाता। इतना हो जाता है कि वह इंद्रियों की वासना को विकासमान नहीं करता, वर्धमान नहीं करता। न्यूनतम--जो आवश्यक है--वहां ठहर जाता है। दो रोटी से काम चल जाता है उसके शरीर का, तो दो रोटी पर रुक जाता है। पचास रोटी की उसकी मांग नहीं होती। एक कपड़े से तन ढंक जाता है, तो एक कपड़े से तन ढंक लेता है। लेकिन कपड़ों के ढेर लगाने की उसकी आकांक्षा नहीं होती। एक झोपड़े के नीचे उसको छाया मिल जाती है, तो ठीक है। बहुत बड़े महल की वह मांग नहीं करता।

यह भी प्रत्येक को स्वयं ही निर्णय करना पड़ता है कि कितनी उसकी आवश्यकता है, क्योंकि हमारी आवश्यकताएं भी भिन्न-भिन्न हैं। उसमें इमीटेशन नहीं हो सकता। किसी की दो रोटी की आवश्यकता न्यूनतम हो सकती है और किसी की पांच रोटी की आवश्यकता न्यूनतम हो सकती है। और किसी के लिए पांच रोटी न्यूनतम आवश्यकता है और किसी दूसरे के लिए पांच रोटी बहुत बड़ा विलास हो सकती है। इसलिए इसे कोई दूसरे से कभी इमीटेट, कभी दूसरे के अनुकरण से तय न करे। अपने ही भीतर खोजे।
और खोज का एक सरल मापदंड है। इंद्रिय की न्यूनतम आवश्यकता कभी भी चिंता से नहीं भरती। इंद्रिय जैसे ही न्यूनतम आवश्यकता से, अनिवार्य के बाहर जाती है और गैर-अनिवार्य की मांग करती है, तभी चिंता, एंग्जायटी शुरू होती है। तो चिंता को मापदंड समझ लेना। जैसे ही आपको चिंता होनी शुरू हो, तो आप समझना कि आप कुछ ज्यादा की मांग कर रहे हैं, जो गैर-जरूरी है। क्योंकि गैर-जरूरी से ही चिंता पैदा होती है, जरूरी से चिंता पैदा होती ही नहीं। दि अननेसेसरी, वह जो गैर-जरूरी है, जिसके बिना भी चल सकता था, लेकिन आप चलाने को राजी नहीं हैं, उसी से चिंता पैदा होती है।
तो अगर चित्त में चिंता आती हो, तो समझ लेना कि इंद्रियों की जरूरत से ज्यादा में आप पड़े हैं। चिंता सूचक है। जैसे कि भूख लगी है और आपने भोजन लिया। कब आपको पता चलेगा कि भोजन जरूरत से ज्यादा हो रहा है? जैसे ही पेट पर बोझ पड़ना शुरू हो जाए, जैसे ही पेट पर भार पड़ना शुरू हो जाए, जैसे ही पेट के भरने से तृप्ति तो न मिले, पीड़ा शुरू हो जाए, तो आप समझ लेना कि जरूरत से ज्यादा है। पेट चिंतित हो गया।
यह मैंने उदाहरण के लिए कहा। ऐसे ही हर इंद्रिय चिंतित हो जाती है, अगर आपने जरूरत से ज्यादा भोजन किया। जितनी उसकी जरूरत थी, वहां तक वह स्वस्थ होती है, शांत होती है, तृप्त होती है। जैसे ही जरूरत से ज्यादा बोझ पड़ा, अस्वस्थ होती है, बीमार होती है, रुग्ण होती है, परेशान होती है। भूख की तृप्ति तो बड़ी तृप्तिदाई है। लेकिन भूख से ज्यादा का बोझ बहुत ही रुग्णदाई है, बहुत रोगकारक है।
एक बहुत सोच-समझ के आदमी लुईकोन ने एक छोटा सा वक्तव्य दिया है। और कहा है कि जो भोजन हम करते हैं, उसमें से आधे से हमारा पेट भरता है और आधे से डाक्टर का। क्योंकि आधा हमारे लिए जरूरी है और आधा बीमारी के लिए।
भूख से इतने लोग नहीं मरते पृथ्वी पर, जितने ज्यादा खाने से मरते हैं।
और भूख में एक तेजस्विता है। लेकिन ज्यादा खाने में एक तामस है, एक अंधेरा उतर जाता है।
प्रत्येक को अपना ही निर्णय करना पड़ेगा। क्योंकि प्रत्येक की जरूरतें और इंद्रियों की मांगें और व्यवस्थाएं भिन्न हैं। पर जैसे ही चिंता पैदा होती हो, जैसे ही रोग पैदा होता हो... । इंद्रियां बहुत शीघ्र सूचना देती हैं। इंद्रियां बहुत सेंसिटिव हैं, बहुत संवेदनशील हैं। शीघ्र सूचना देती हैं कि जरूरत से ज्यादा हो गया। यह जरूरी नहीं है। यह जो किया जा रहा है, गैर-जरूरी है। तो गैर-जरूरी को हटा दें।
इंद्रियां तो रहेंगी अंत तक, क्योंकि जीवन इंद्रियों के पहियों पर चल रहा है। लेकिन अहंकार अनिवार्य नहीं है। अहंकार हमारा अर्जन है। वह हमने निर्मित किया है। और हम जीते-जी बिल्कुल निरहंकार में प्रवेश कर सकते हैं। इसलिए अहंकार महा अंधकार में ले जाता है, क्योंकि वह मनुष्य के द्वारा निर्मित है। वह बिल्कुल ही गैर-जरूरी है।
इंद्रियों में कुछ जरूरी है, कुछ गैर-जरूरी हम जोड़ते हैं। जो हम जोड़ते हैं, वही उपद्रव है। अहंकार पूरा का पूरा गैर-जरूरी है। वह पूरा का पूरा हम ही निर्मित करते हैं। इसलिए वह महा अंधकार में ले जाता है। इंद्रियां अंधकार में ले जाती हैं, गैर-जरूरी के जोड़ से। अहंकार महा अंधकार में ले जाता है, क्योंकि पूरा ही गैर-जरूरी है।
जीते-जी बिल्कुल बिना अहंकार के जीया जा सकता है। सच तो यह है कि जो जितने बिना अहंकार के जीता है, उतना ही गहन जीता है। और जो जितने अहंकार से जीता है, उतना ही क्षुद्र और सतह पर जीता है। क्योंकि अहंकार गहरे जाने ही नहीं देता। अहंकार सरफेस पर, सतह पर अटकाए रखता है। क्यों? इसे भी थोड़ा ख्याल में ले लेना चाहिए।

असल में अहंकार का मजा तो दूसरे की आंख में है। आपको अगर जंगल में अकेला छोड़ दें तो अहंकार का कोई मजा नहीं रह जाता। फिर हीरे का हार पहनने का कोई अर्थ नहीं होगा। और पहनेंगे तो जानवर हंसेंगे। हीरे का हार होगा, तो भी सिर्फ गले पर भार मालूम पड़ेगा। तबीयत होगी, उतारकर रख दो, बोझ है। जंगल में अहंकार को क्या करिएगा?
नहीं, अहंकार का तो सारा रस ही दूसरे की आंख में जो प्रतिबिंब बनता है, उसमें है। निश्चित ही, दूसरे की आंख में जो प्रतिबिंब बनते हैं, वे सतह पर होंगे। हमारे बाहर चारों तरफ होंगे। घर के बाहर जैसे फेंसिंग लगाते हैं हम, बस अहंकार फेंसिंग की तरह है। चाहे कितनी ही रंगीन हो और कितनी ही खूबसूरत हो, लेकिन दूसरे की आंख से निर्मित होती है। और अहंकार बिना दूसरे के निर्मित नहीं होता है, इसलिए पर-निर्भर है। इसलिए दूसरे से सदा भयभीत रहना पड़ता है। क्योंकि दूसरे के हाथ में है उसकी तृप्ति, वह कभी भी खींच ले। आज सुबह नमस्कार की थी और कल न करे, तो गिर गई, ईंट खिसक गई। चित्त बेचैन हो जाएगा कि अब क्या करना? गांव के लोग तय कर लें कि इस आदमी को भूल जाओ। निकले तो सोचो ही मत कि निकल रहा है। कोई ख्याल ही मत करो कि है। तो वर्चुअल डेथ हो जाएगी, मर गए जैसे।
दूसरे की आंख में रस है अहंकार का। और दूसरे की आंख बाहर है। उसमें जो
रस ले रहा है, वह भीतर गहरे नहीं जा सकता। वह गहरे जी नहीं सकता। वह सिर्फ आवरण और वस्त्रों में जीएगा।
गहरे जीवन में तो वही उतर सकता है, जो आत्मा में उतरे। और आत्मा में वही उतरता है, जो अहंकार को भूले। दूसरे की आंख को भूले, अपनी आंख के भीतर चले। अपने को देखे। दूसरा अपने को कैसा देखते हैं, इसकी फिक्र छोड़ दे। दूसरों के ओपीनियन का ख्याल छोड़ दे कि दूसरे क्या कहते हैं। इसका ही ख्याल रखे कि मैं क्या हूं। यह सवाल बिल्कुल बेकार है कि दूसरे क्या कहते हैं। दूसरों से लेना-देना क्या है? दूसरों की गवाही काम नहीं पड़ेगी। जीवन में कोई दूसरों की गवाही का उपयोग नहीं है। जीवन में तो पूछा जाएगा मैं।
सुना है मैंने, एक यहूदी फकीर हुआ। मर रहा था। आखिरी क्षण था। पुरोहित गांव का आया था अंतिम विदाई का मंत्र पढ़ने। तो उसने यहूदी फकीर से कहा कि स्मरण करो मूसा का, मो.जे.ज का! परमात्मा के निकट जाने के करीब हो। उस मरते फकीर ने आंख खोलीं और उसने कहा कि मूसा का नाम मत लो। क्योंकि जब मैं परमात्मा के सामने होऊंगा--उस फकीर का नाम था मौनीज--तो उसने कहा, जब मैं ईश्वर के सामने होऊंगा तो वह मुझसे यह नहीं पूछेगा कि तू मूसा क्यों नहीं हुआ। वह मुझसे पूछेगा कि मौनीज क्यों नहीं हुआ? मुझसे मूसा का तो पूछेगा नहीं। अभी मैं वहां जा रहा हूं, वह मुझसे पूछेगा कि जो मैंने तुझे भेजा था, तू मौनीज हो पाया कि नहीं? तू जो पोटेंशियल बीज लेकर गया था, वह फूल बना कि नहीं? अभी मूसा का नाम मत लो। अभी तो मेरा सवाल है।
उस पुरोहित ने झुककर उससे कहा कि मरते वक्त अपनी प्रतिष्ठा पर पानी
मत फेर, क्योंकि चारों तरफ लोग खड़े हैं, वे सुन लेंगे कि मूसा के लिए उसने ऐसा वचन कहा कि मूसा की बात छोड़ो। मूसा तो यहूदियों के लिए भगवान हैं। पुरोहित ने झुककर कहा, मरते वक्त जीवनभर की प्रतिष्ठा पर पानी मत फेर। उस फकीर ने फिर से आंख खोलीं और उसने कहा कि जीवनभर उस पागलपन में पड़ा रहा, अब मरते वक्त तो मुझे मुक्त होने दो। वह प्रतिष्ठा को छोड़ता हूं अब। मरते वक्त तो मुझे प्रतिष्ठा से मुक्त हो जाने दो। अब इनकी फिक्र छोडूं मैं, ये जो चारों तरफ मेरे खड़े हैं लोग। क्षणभर में मैं इनसे छूट जाऊंगा। ये मेरे गवाह नहीं होने वाले हैं। ईश्वर इनसे पूछेगा नहीं कि मेरे संबंध में क्या कहते हो। ईश्वर तो मुझे देखेगा कि मैं क्या हूं। मुझे मेरी फिक्र करने दो। असल में अहंकार सदा, दूसरे मेरे संबंध में क्या कहते हैं, इसका लेखा- जोखा है। और आत्मा सदा इस बात की प्रतीति है कि मैं क्या हूं? दूसरे क्या कहते हैं, इससे कोई भी तो संबंध नहीं है। दूसरे गलत भी कह सकते हैं। दूसरे सही भी कह सकते हैं। यह दूसरे जानें।
इंद्रियों की उपासना को कम करने का अर्थ है, इंद्रियां जरूरत पर ठहर जाएं। और अहंकार की उपासना को कम करने का अर्थ है, अहंकार शून्य पर आ जाए। ये दो संभावनाएं पूरी हो जाएं तो व्यक्ति इंद्रियों के पास भी नहीं बैठता,

अहंकार के पास भी नहीं बैठता। आत्मा के पास बैठ जाता है। तब एक नई उपासना शुरू होती है--प्रभु के निकट होने की।
और प्रभु के निकट होना कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रभु के निकट होने
का अर्थ प्रभु से एक हो जाना ही होता है। उसके पास हम दूर नहीं बच सकते। जब तक हम ये दो उपासनाओं में रत हैं, तब तक हम दूर रह सकते हैं। उसके पास होने का अर्थ, एक हो जाना है। ऐसे ही जैसे कोई आदमी छत पर से छलांग लगाए और छलांग लगाने के पहले पूछे कि मैं छलांग लगा रहा हूं, छलांग लगाने के बाद जमीन तक पहुंचने के लिए मैं क्या करूं? तो हम उससे कहेंगे, तुम छलांग लगाओ, बाकी काम जमीन कर लेगी। तुम्हें फिर कुछ और करना नहीं है। तुम छत छोड़ो। छत भर से तुम एक कदम उठा लो बाहर। फिर बाकी तुम्हें कुछ न करना पड़ेगा। बाकी जमीन कर लेगी।
इंद्रियां और अहंकार की उपासना की छत से कोई छलांग भर लगा जाए, फिर बाकी काम परमात्मा कर लेता है। फिर ऐसा नहीं कि हम उसके पास पहुंचते हैं, हम उसमें ही पहुंच जाते हैं। उसका ग्रेविटेशन, उसकी कशिश भारी है। जमीन में तो कोई कशिश नहीं है। खींच लिए जाते हैं।
हमने इस देश में जिस व्यक्ति को पूर्ण अवतार कहा है--कृष्ण को--उसके नाम का मतलब ग्रेविटेशन होता है, कृष्ण का मतलब। कृष्ण का मतलब है, जो खींच लेता है, आकृष्ट कर लेता है, आकर्षित कर लेता है। जिसमें कर्षण है, कशिश है, ग्रेविटेशन है, जो खींच ले।
बड़ी ताकत है पृथ्वी के खींचने की। लेकिन आप रोक सकते हैं अपने को, न आएं पृथ्वी तक। एक छोटा सा तिनका भी रोक सकता है पृथ्वी की इतनी बड़ी ताकत को। कहीं भी क्लिंगिंग अगर है, कहीं भी अगर कोई चीज आपने पकड़ रखी है, तो यह पृथ्वी की कशिश काम नहीं करेगी। अनक्लिंगिंग--कहीं से भी आपने कुछ भी छोड़ दिया, आपके हाथ खाली हो गए, कुछ नहीं पकड़ा--पृथ्वी फौरन खींच लेगी। कितने ही दूर हों, खींच लिए जाएंगे। और कितने ही पास हों, अगर कुछ भी पकड़ रखा है, तो नहीं खींचे जा सकेंगे।
परमात्मा खींच लेता है उसे, जिसकी दो कशिश से मुक्ति हो जाती है। इधर इंद्रियों की कशिश से, और उधर अहंकार की कशिश से। प्रकाश में प्रवेश हो जाता है।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।। 13।।

कार्यब्रह्म (संभूति) की उपासना से और ही फल बतलाया गया है; तथा अव्यक्त ब्रह्म
(असंभूति) की उपासना से और ही फल बतलाया है। ऐसा हमने बुद्धिमानों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की थी।। 13।।

उपनिषद ब्रह्म के दो रूपों की बात करते हैं। रूप ही दो हैं, तत्व तो एक है। या और भी ठीक होगा कहना कि जानने वाले दो तरह के हैं, तत्व तो एक है। एक तो ब्रह्म का अव्यक्त, अनमेनीफेस्ट, कारण-रूप, दि कॉजल। और एक ब्रह्म का कार्यरूप, दि मेनीफेस्ट, प्रगट, व्यक्त, कार्यरूप। बीज है कारण, वृक्ष है कार्य। बीज में छिपा है सब, वृक्ष में सब प्रगट हो गया है।
तो एक तो बीज ब्रह्म है, जो हमें कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता। कहीं भी हमें जो दिखाई पड़ेगा, वह बीज ब्रह्म नहीं है, वह वृक्ष ब्रह्म है। वह व्यक्त ब्रह्म है। जो प्रगट हो गया है, वह हमें दिखाई पड़ता है। जो अप्रगट है, वह हमें दिखाई नहीं पड़ता है। इस प्रगट ब्रह्म की भी प्रार्थना और पूजा हो सकती है। इस प्रगट ब्रह्म की पूजा, इस प्रगट ब्रह्म की उपासना बहुत रूपों में हो सकती है। यहां जो अभिप्राय है, वह दो अर्थों में है।
उपनिषद जब कहे गए, तब देवताओं की भारी उपासना प्रचलित थी। देवता शब्द
को ठीक से समझ लेना चाहिए। देवता ब्रह्म के कार्यरूप की शुद्धतम अभिव्यक्ति है--शुद्धतम। पत्थर भी उसी की अभिव्यक्ति है। दिव्य हम उसे कहते हैं, जो प्रगट होते हुए भी जिसमें अप्रगट झलकता हो। जिन्हें हम अवतार कहें, तीर्थंकर कहें, ईश्वर-पुत्र कहें--जीसस हों, मोहम्मद हों, महावीर

हों, कृष्ण हों, राम हों--ये व्यक्ति जैसे देहलीज पर खड़े हैं, बीच के द्वार पर। प्रगट हैं, दरवाजे के बाहर से हमें दिखाई पड़ते हैं। सामने का चेहरा उनका साफ है, ठीक हमारे जैसा है। फिर भी ठीक हमारे जैसा नहीं है। कुछ अप्रगट की झांईं, कुछ उस बीज ब्रह्म की झांईं भी उनमें दिखाई पड़ती है। उनके सारे प्रगट व्यवहार में से कहीं-कहीं अप्रगट भी झलक जाता है और ध्वनि दे जाता है। ऐसी समस्त चेतनाएं दिव्य हैं। दिव्य का अर्थ हुआ, प्रगट हैं और अप्रगट की भी झलक देते हैं।
उपनिषद कहते हैं, इनकी पूजा और प्रार्थना, इनकी अर्चना का भी फल है। क्योंकि एक कदम प्रगट से अतीत उनमें कुछ है। जो उन्हें बहुत गौर से देखेगा उसके लिए प्रगट रूप मिट जाएगा और अप्रगट रूप रह जाएगा। इसलिए एक अड़चन सदा हुई। राम अगर खड़े हैं, तो राम के भक्त को राम आदमी नहीं दिखाई पड़ते। राम का भक्त अप्रगट के साथ इतना तादात्म्य बांध लेता है कि प्रगट खो जाता है। राम की रूपरेखा खो जाती है। ब्रह्म ही रह जाता है। इसलिए राम का भक्त जब राम-राम कह रहा है तो वह दशरथ के बेटे राम से उसका कोई लेना-देना नहीं है। जब वह राम कह रहा है तो उसका दशरथ के बेटे से कोई प्रयोजन ही नहीं है, कोई संबंध ही नहीं है। वह तो बीज ब्रह्म की ही बात कर रहा है।
लेकिन जो राम का भक्त नहीं है, उसको राम में वह हिस्सा दिखाई नहीं पड़ता है, जो अप्रगट है। वह बीज ब्रह्म दिखाई नहीं पड़ता। वह जो प्रगट है, शरीर जिसने लिया है, वही दिखाई पड़ता है। दशरथ का बेटा दिखाई पड़ता है। सीता का पति दिखाई पड़ता है। रावण का दुश्मन दिखाई पड़ता है। किसी का मित्र, किसी का... लेकिन जो दिखाई पड़ता है वह प्रगट। और इसलिए जब राम का भक्त राम की बात कर रहा है और राम का जो भक्त नहीं है वह बात कर रहा है, तो वे दो व्यक्तियों की बात कर रहे हैं। उनमें कहीं ताल-मेल नहीं हो पाता। उनका कहीं कोई संवाद नहीं हो सकता। वे समझ के ही बाहर हैं एक-दूसरे के। क्योंकि वे जो बातें कर रहे हैं, वे ही अजीब हैं। वे अलग ही बातें कर रहे हैं। वे अलग हिस्सों की बातें कर रहे हैं।
उपनिषद का यह सूत्र कहता है कि ब्रह्म का वह जो प्रगट रूप है, कार्यरूप है, जहां उसके कारण-रूप की भी कहीं झलक मिलती है, उसकी उपासना, उसके निकट होने के भी अपने परिणाम हैं, अपने फल हैं। वे फल सुखद होंगे। कहना चाहिए, वे फल स्वर्ग जैसे होंगे। वे बड़े शांतिदायी होंगे। वे बड़े प्रीतिकर होंगे। लेकिन मुक्तिदायी नहीं होंगे।
इसलिए हमने तीन शब्दों का प्रयोग किया है। एक शब्द है नर्क, एक शब्द
है स्वर्ग और एक और शब्द है मोक्ष। देवताओं की, दिव्य चेतनाओं की निकटता से ज्यादा से ज्यादा स्वर्ग तक पहुंचा जा सकता है। स्वर्ग की मनोदशा तक, सुख तक--मुक्ति तक नहीं, आनंद तक नहीं। क्या फर्क है?
सुख कितना ही गहरा हो, खो जाएगा। सुख कितना ही लंबा हो, अंत आ जाएगा।
और जहां अंत आएगा, वहीं नर्क शुरू हो जाएगा। वहीं नर्क शुरू हो जाएगा। मोक्ष शुरू होता है, अंत नहीं। स्वर्ग शुरू होता है, अंत होता है। नर्क शुरू नहीं होता, सिर्फ अंत होता है। इसे फिर दोहरा दूं तो ख्याल में आ जाए। नर्क की कोई बिगनिंग नहीं है, नर्क का कोई प्रारंभ नहीं है। नर्क है प्रारंभरहित। दुख है प्रारंभरहित। सुख है नहीं, प्रारंभ हो सकता है। नर्क का कोई प्रारंभ नहीं है, अंत हो सकता है। स्वर्ग का प्रारंभ है और अंत भी है। शुरू भी होगा, अंत भी हो जाएगा। मोक्ष का प्रारंभ है, अंत नहीं है। शुरू होगा, फिर अंत नहीं होगा।
कार्यरूप ब्रह्म, प्रगट रूप ब्रह्म, अभिव्यक्त ब्रह्म, जहां-जहां दिव्यता झलकी है, वहां-वहां उसकी पूजा और प्रार्थना से ज्यादा से ज्यादा स्वर्ग तक पहुंचा जा सकता है, सुख तक पहुंचा जा सकता है। इसलिए सुख के कामी देवताओं की पूजा में रत होते हैं। मुक्ति के कामी देवताओं की पूजा में रत नहीं होते। मुक्ति के कामी देवताओं से पीठ फेर लेते हैं। मुक्ति के कामी सुख की मांग नहीं करते। क्योंकि सुख कभी भी मुक्ति नहीं बन सकता। बंधन ही रहेगा, सुखद होगा, पर बंधन ही रहेगा। जो मुक्ति के कामी हैं, जो चाहते हैं कि सर्व अर्थों में परम स्वतंत्रता उपलब्ध हो जाए। परम आनंद मिले, जिसका फिर कोई अंत न हो। अमृत मिले, जिसकी फिर कोई सीमा न हो। जहां से फिर कोई लौटना न हो--प्वाइंट आफ नो रिटर्न। जिसके आगे फिर कोई खोजना न हो। जिसके

आगे कोई यात्रा न बचे, ऐसी जिनकी अभीप्सा है, उन्हें तो बीज ब्रह्म की खोज करनी पड़ेगी। उन्हें व्यक्त ब्रह्म की नहीं, उन्हें अव्यक्त ब्रह्म की खोज करनी पड़ेगी। और अव्यक्त ब्रह्म की साधना से ही वे मुक्त, परम मोक्ष को उपलब्ध हो पाते हैं। दोनों के परिणाम हैं।
उपनिषद की एक खूबी है, उपनिषद को इनकार किसी बात से नहीं है, स्पष्टीकरण। इनकार नहीं है कि देवताओं की पूजा कोई न करे। उपनिषद कहेंगे, किसी को देवता की पूजा करनी है वह करे, लेकिन जानता हुआ करे कि सुख से आगे यह यात्रा नहीं है।
और पीछे सूत्र में कहा है, ऐसा हमने उनसे सुना है, जिन्होंने जाना है। इसमें एक बात ख्याल में ले लेनी चाहिए। जानने को सदा अनंत है। और मैं कितना ही जान लूं--कितना ही--फिर भी वह पूरा नहीं है। मैं कितना ही जान लूं, फिर भी वह पूरा नहीं है।
ऐसा समझें कि सागर है बड़ा, मैं एक किनारे से उतर जाता हूं सागर में। उतर गया पूरा, डूब गया पूरा, फिर भी पूरे सागर को मैंने नहीं जाना। सागर ने भला पूरा मुझे जान लिया हो, मैंने पूरे सागर को नहीं जाना। और भी किनारे हैं अनंत, और अनंत हैं यात्री। और अनंत तीर्थों से उतरेंगे अनंत लोग। वे भी जानेंगे। तो मेरा जानना और उनका जानना जितने बड़े व्यापक पैमाने पर सामूहिक हो जाए, जितना इकट्ठा हो जाए, उतना ही शुभ है।
इसलिए उपनिषद के ऋषि, निरंतर ही, जो उन्होंने जाना है, उसे पूल्ड अप कर देंगे। उसे, वह जो अनंत जाना गया है सदा, उसके साथ इकट्ठा कर देंगे। वे कहेंगे, ऐसा हमने सुना उनसे, जो जानते हैं। अपना भी जो अल्प है, छोटा सा, उसकी क्या बात करनी है! जो जाना गया है, वह अनंत-अनंत लोगों ने अनंत-अनंत जाना है। अपना भी छोटा सा अल्प है, उसे भी उसी में डाल दिया है। उसकी क्या बात करनी! उसकी बात करते भी लजाते हैं। उसकी बात भी नहीं उठाते। ऐसे ही जैसे खुद कुछ भी न जाना हो। इसी भाव से कह देते हैं कि सुना है उनसे, जिन्होंने जाना है।
अनंत-अनंत लोग, अनंत-अनंत चेतनाएं जानी हैं परमात्मा को और निश्चित
ही अलग-अलग तीर्थों से। तीर्थ का अर्थ होता है घाट। इसलिए जैन अपने जगाने वालों को तीर्थंकर कहते हैं। तीर्थंकर का मतलब होता है, घाट बनाने वाला। जो एक घाट बनाता है और वहां से नावें छोड़ देता है। पर अनंत तीर्थ हैं, क्योंकि यह सागर अनंत है। अनंत तीर्थंकर हैं, क्योंकि यह सागर अनंत है। सबका हमें कभी पता भी नहीं है। अगर हम पीछे लौटते भी हैं, तो वेद के पहले के ऋषियों का हमें कोई भी पता नहीं है। उल्लेख सिर्फ वेद के ऋषियों के बाद का है। ऐसा नहीं है कि वेद के ऋषियों के पहले जाना नहीं गया हो। क्योंकि वेद के ऋषि तो बार-बार कहते हैं कि हमने सुना है उनसे, जिन्होंने जाना है। उपनिषद हमारे पास पुरानी से पुरानी संपदा है जानने वालों की। लेकिन उपनिषद कहते हैं, हमने सुना है उनसे, जिन्होंने जाना है। वे इस बात की खबर देते हैं कि सत्य सदा अनादि से जाना जाता रहा है। इतने लोगों ने जाना है, इतना ज्यादा जाना है, इतने रूपों में जाना है कि मैं अपने छोटे से रूप की क्या बात करूं! पूल्ड अप कर देता हूं, उसी में जोड़ देता हूं। कह देता हूं कि वही जो जानने वालों ने कहा है, मैं कह रहा हूं।
इसमें एक बात और ध्यान रख लेनी जरूरी है कि पुराने सारे जानने वालों
को मौलिकता का आग्रह नहीं था। ओरिजनल होने का कोई आग्रह नहीं था। कोई भी यह नहीं कहता कि मैं जो कह रहा हूं, वह मौलिक सत्य है। वह मैं ही कह रहा हूं पहली दफा, और किसी ने नहीं कहा। आज के युग में बड़ा फर्क पड़ा है। आज प्रत्येक यह दावा करना चाहता है कि वह जो कह रहा है, वही कह रहा है, किसी ने नहीं कहा; मौलिक है, ओरिजनल है। क्या बात है? क्या यह बात है कि पुराने लोग मौलिक नहीं थे, आज के लोग मौलिक हैं?
नहीं, मामला बिल्कुल उलटा है। पुराने लोग अपनी मौलिकता के प्रति इतने असंदिग्ध, आश्वस्त थे कि उसकी घोषणा की कोई जरूरत न थी। नए आदमी अपनी मौलिकता के प्रति इतने संदिग्ध हैं, इतने अनाश्वस्त हैं कि उसकी बिना घोषणा किए नहीं रह सकते। नए आदमी को सदा डर है कि कोई यह न कह दे कि इसे तो पहले भी लोग जान चुके हैं, तुम क्या कुछ नया जान रहे हो! पर यह डर इस बात का सूचक है कि मौलिक का पता नहीं है।

असल में मौलिक का मतलब नया नहीं होता। मौलिक का मतलब होता है, मूल से।
ओरिजनल का मतलब माडर्न नहीं होता। ओरिजनल का मतलब होता है, ओरिजनल--फ्राम दि ओरिजिन।
मूल को जिसने जाना है, वही मौलिक है। और मूल को बहुत लोग जान चुके हैं।
इसलिए मौलिक का अर्थ नया नहीं होता। मौलिक का अर्थ होता है, जड़ को जिसने जाना, मूल को जिसने जाना।
लेकिन आज नए का बड़ा आग्रह है चारों तरफ, कि जो मैं कह रहा हूं, वह नया है। क्योंकि डर इस बात का है कि अगर और सबने भी जाना है, तो फिर मेरी विशेषता न रही। लेकिन मजे की बात यह है कि विशेषता इस जगत में एक ही है-- सिर्फ एक।
मुझे याद आता है, एक फकीर जेकब बोहमेन ने एक छोटा सा वचन कहा है--टु बी मोस्ट आर्डिनरी इ.ज दि ओनली एक्स्ट्राआर्डिनरीनेस। कहा है कि बिल्कुल साधारण होने से बड़ी और कोई असाधारणता नहीं है।
ये बड़े असाधारण लोग हैं, जो कहते हैं--यह नहीं कहते कि मैं जानता हूं-- कहते हैं कि जिन्होंने जाना, उनसे हमने सुना है। ये बड़े असाधारण लोग हैं, मोस्ट एक्स्ट्राआर्डिनरी। क्योंकि इतने आर्डिनरी होने को राजी हैं। असल में जिसे थोड़ा सा भी ख्याल है कि मैं असाधारण हूं, वह साधारण आदमी है। क्योंकि सभी साधारण आदमियों को यह ख्याल है। साधारण से साधारण आदमी को यह ख्याल है कि मैं असाधारण हूं। सभी को यह ख्याल है। यह बहुत कामन है, बहुत साधारण धारणा है। हरेक की यही है कि मैं असाधारण हूं। तो फिर असाधारण किसको हम कहें? उसी को कहेंगे, जिसे पता ही नहीं कि मैं असाधारण हूं। जो इतना साधारण है, असाधारण है।
असाधारण है यह वक्तव्य। जिन्होंने इतना जाना और इतना गहरा जाना, उस तरह के लोग ऐसा कहें कि हमने सुना है। शून्य की भांति रहे होंगे। दावेदार नहीं हैं। कोई दावा नहीं--न सत्य का, न पथ का--कोई दावा नहीं है। दावा ही नहीं है। इतने जो गैर-दावेदार हैं, उनकी बात में वजन है।
इसलिए बार-बार ऐसा भी दोहराते चले जाएंगे, बार-बार इसे जोड़ते चले जाएंगे हर सूत्र में, सुना है उनसे, जो जानते हैं। यह अपने को पोंछ डालने की, मिटा डालने की, अपने को अनुपस्थित कर देने की, स्वयं के बिल्कुल न हो जाने की यह जो मनोदशा है, यह गहरी से गहरी है और जीवन के मूल स्रोतों से संबंधित है--मनातीत, भावातीत, ट्रांसेनडेंटल है।
आज के लिए इतना। सांझ फिर हम बात करेंगे।
अभी तो चलें मूल की तरफ, चलें भावातीत की तरफ।
दो-तीन बातें आपको ध्यान के संबंध में कह दूं, जो मेरे ख्याल में आई हैं। नब्बे प्रतिशत मित्र इतना अच्छा कर रहे हैं कि मैं बहुत प्रसन्न हूं। लेकिन दस प्रतिशत के प्रति दया आती है। आप दयनीय न रहें, दस प्रतिशत में न रहें। दूसरी बात, दोपहर के ध्यान में कुछ लोग कम दिखाई पड़ते हैं। वे शायद यहां-वहां घूमने चले जाते होंगे। सस्ते में कीमती चीजों को मत खोएं। दोपहर के ध्यान के लिए एक बात और। कुछ लोग आंख पर बिना पट्टियां बांधे बैठ जाते हैं। उन्हें कोई लाभ नहीं होगा। एक भी व्यक्ति आंख पर बिना पट्टी बांधे न बैठे। दूसरी बात, जब दोपहर के ध्यान में हों, तब अपनी ही चिंता में लगें, दूसरे की फिक्र न लें। जो लोग कुछ नहीं कर रहे हैं, उन्हें दूसरों की फिक्र शुरू हो जाएगी। क्योंकि वे खाली बैठे हैं, वे बेकार हैं। बेकार न बैठें। आनंदित हों, नाचें, प्रसन्न हों। कल मैं प्रसन्न हुआ। कल बहुत हल्कापन था, जैसे बच्चों जैसे हो गए थे। एक वृद्धजन भी बच्चों जैसी आवाज लगा रहे थे। बहुत भला था, बहुत इनोसेंट था। कह रहे थे--मां, मां, मां! छोटा बच्चा जैसे हल्का हो जाए। प्रसन्नता थी, चियरफुलनेस थी। वह बढ़ती जानी चाहिए। जैसे-जैसे ध्यान गहरा होगा, वह बढ़ेगी। बूढ़ा आदमी बच्चा हो जाए तो ध्यान को उपलब्ध हो गया।
तो दोपहर के ध्यान के लिए यह। सुबह के ध्यान से मैं बिल्कुल प्रसन्न हूं। बिल्कुल ठीक चल रहा है। रात के ध्यान के लिए एक बात कह दूं आपको। कल दो-तीन मित्र जो व्यवस्था के लिए रहते हैं, वे काफी हैं। बाकी जो व्यवस्था करने ऊपर चढ़ गए, उन्होंने बहुत अव्यवस्था पैदा की। और अपनी तरफ से सेल्फ अपाइंटमेंट कोई न करे। आप यहां ध्यान करने आए हैं, व्यवस्था करने नहीं।

असल में जो बेकार बैठे रहते हैं, उनको मौका मिल गया। उन्होंने सोचा, चलो व्यवस्था करें।
नहीं, मंच पर कोई इस तरह नहीं चढ़ सकेगा। जो दो-तीन मित्र व्यवस्था कर रहे हैं, वे कर रहे हैं। बाकी आपको नहीं करनी है। कल पीछे वाले मंच के लोगों के लिए मेरे मन में बड़ी पीड़ा रही। वे ध्यान ठीक से नहीं कर पाए। उनको लोगों ने बाधा दी। कोई फिक्र नहीं है, कोई फर्क नहीं पड़ता। कोई मेरे ऊपर गिर भी जाएगा, तो क्या फर्क पड़ता है! इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। और जो ध्यान कर रहे हैं, वे बेहोश नहीं हैं, वे खुद होश में हैं। वे कोई गिर जाने वाले नहीं हैं। कोई मेरे ऊपर हमला कर देगा, इसका ख्याल मत करिए। वे खुद होश में हैं। उनका मुझसे प्रेम उतना ही है, जितना व्यवस्थापकों का है। इसलिए उसकी कोई चिंता मत करिए।
उनको बहुत रोका, उनको मैं दिखाई भी नहीं पड़ा। जब मैं दिखाई नहीं पड़ा
तो उपद्रव हो गया। क्योंकि वह तो ध्यान ही पूरा मेरे दिखाई पड़ने का है। तो आज रात के लिए मेरा ख्याल है कि नीचे हाल में सारे खड़े हुए साधक रहेंगे। बैठने वाले लोग पीछे बैठ जाएंगे। इससे व्यवस्था नहीं करनी पड़ेगी।
कल एक और गलती हुई कि कल बाहर के लोग फिर रात प्रवेश कर गए। उससे बड़ी बाधा पड़ती है। उससे पूरी की पूरी जो ट्यूनिंग पैदा हो सकती है, वह नहीं पैदा हो पाती। एक गलत आदमी भी अगर हाल के भीतर है, तो वह गलत तरह की तरंगें पैदा करता है। इसलिए एक भी गलत आदमी को प्रवेश नहीं है। और यहां कैंप में भी ऐसे जो लोग हैं, जिन्हें कि सिर्फ सुनना है और ध्यान नहीं करना है, वे सुनने के बाद फौरन रात हाल के बाहर हो जाएं। उनकी बड़ी कृपा होगी। वे नुकसान न पहुंचाएं। एक आदमी नहीं चाहिए हमें भीतर, जो दर्शक की तरह हो। उससे भारी बाधा पड़ती है, वह गैप बन जाता है। जब इतनी चेतनाएं इतने भाव से भरती हैं, तो सारा वायुमंडल तरंगित हो जाता है। उसमें अगर एक आदमी बीच में ऐसा खड़ा है, जो तरंगित नहीं है, तो वह डिसकंटीन्यूटी पैदा कर देता है। वह उतना हिस्सा तोड़ देता है। उतने हिस्से में वर्षा नहीं हो पा रही है। और उसकी वजह से जो तरंगें आर-पार फैलकर दूसरों तक पहुंचती हैं, वे भी नहीं पहुंच पातीं। इसलिए रात के ध्यान में मैं अभी प्रसन्न नहीं हूं।
रात का ध्यान सर्वाधिक कीमती है। और ये दो ध्यान उसकी तैयारी के लिए हैं कि इन दो ध्यान में आप तैयार हो जाएं और रात को विस्फोट हो सके। तो उस विस्फोट में बाधा पड़ रही है। अभी तक वह ठीक नहीं हो पाया। परसों यहां लोग आ गए, उनकी वजह से ठीक नहीं हो पाया। सिर्फ उसके पहले थोड़ा ठीक हुआ। कल हाल में बहुत परिणाम हो सकते थे, लेकिन कुछ लोग ऊपर चढ़ गए और व्यवस्था करने लगे। जो दो-तीन मित्र व्यवस्था करते हैं, उनको रोका रखा है इसीलिए। वे व्यवस्था करेंगे। आप व्यवस्था के लिए नहीं आए हैं। और मेरी फिक्र छोड़ें, अपनी फिक्र करें। मैं तो मेरा शरीर, एक आदमी को भी ध्यान हो जाए और उसमें छूट जाए, तो भी समझता हूं कि पर्याप्त है। उसमें कोई हर्जा नहीं है। इसलिए उसकी चिंता ही छोड़ दें।
चलें अपने ध्यान के लिए!

ईशावास्य उपनिषद
नौवां प्रवचन

वह ज्योतिर्मय है

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।। 14।।

आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढंका हुआ है।
हे पूषन्! मुझ सत्यधर्मा को आत्मा की उपलब्धि कराने के लिए तू उसे उघाड़ दे।। 14।।

सहज ही ख्याल में न आ सके, सहज ही समझ में न आ सके, ऐसा यह सूत्र कई अर्थों में बहुत असाधारण अभिप्राय को लिए हुए है। पहली तो बात यह, साधारणतः सोचते हैं हम, मानते हैं ऐसा कि सत्य अगर ढंका होगा तो अंधकार से ढंका होगा। पर यह सूत्र कहता है कि ज्योति से, प्रकाश से ढंका है सत्य। हे प्रभु, तू उस प्रकाश के पर्दे को अलग कर ले।
यह बहुत ही, बहुत ही गहरी जिसने खोज की हो सत्य के आयाम में, उसकी प्रतीति है। जिन्होंने केवल सोचा होगा, वे सदा कहेंगे कि अंधकार में ढंका है सत्य। लेकिन जिन्होंने जाना है, वे कहेंगे, प्रकाश में ढंका है सत्य। और अगर अंधकार मालूम होता है, तो वह प्रकाश का आधिक्य है।
प्रकाश के आधिक्य में आंखें अंधी हो जाती हैं। प्रकाश बहुत हो तो अंधकार जैसा हो जाता है। आंखों की कमजोरी के कारण। सूरज को देखें। आंख खोलें सूरज की तरफ। थोड़ी देर में अंधकार हो जाएगा। इतना ज्यादा है प्रकाश, आंखें झेल नहीं पातीं, इसलिए अंधकार हो जाता है।
तो जिन्होंने दूर-दूर से जाना, सोचा है, वे तो कहेंगे, अंधकार में छिपा
है सत्य। प्रभु का मंदिर अंधकार में छिपा है। लेकिन जिन्होंने जाना है, वे कहेंगे कि प्रकाश में छिपा है। हे प्रभु, तू प्रकाश के इस पर्दे को अलग कर ले।
और प्रकाश के आधिक्य के कारण ही अंधकार का भ्रम पैदा होता है। आंखें हमारी कमजोर हैं इसलिए। पात्रता हमारी कमजोर है इसलिए। जैसे-जैसे सत्य की तरफ यात्रा बढ़ती है, वैसे-वैसे प्रकाश बढ़ता जाता है। जो लोग भी ध्यान में थोड़ी सी गति कर रहे हैं, वे जानते हैं कि जैसे-जैसे, जैसे-जैसे ध्यान गहरा होता है, प्रकाश बढ़ता चला जाता है।
आज इटालियन साधिका वीतसंदेह ने मुझे आकर कहा कि इतना प्रकाश हो गया
है भीतर कि ऐसा लग रहा है, भीतर से किरणें आ रही हैं और पूरा शरीर जल रहा है। जैसे भीतर कोई सूरज बैठा है। बाहर से नहीं आ रही है गर्मी, भीतर से आ रही है। और प्रकाश इतना ज्यादा है कि रात सोना मुश्किल हो गया है। आंख झपती है, तो प्रकाश ही प्रकाश है।
जैसे ही कोई ध्यान में गहरा उतरेगा, प्रकाश घना और गहरा होने लगेगा, तीव्र और प्रखर होने लगेगा। और एक ऐसी घड़ी आती है कि जब प्रकाश का आधिक्य इतना हो जाता है कि करीब-करीब महा गहन अंधकार मालूम होने लगता है। ईसाई फकीरों ने उस क्षण को--सिर्फ ईसाई फकीरों ने ही उस क्षण को ठीक नाम दिया है--उसे उन्होंने कहा है, डार्क नाइट आफ दि सोल, आत्मा की अंधकारपूर्ण रात्रि। लेकिन अंधकारपूर्ण रात्रि है वह प्रकाश के आधिक्य के कारण।
और जब इतना प्रकाश हो जाता है कि भीतर लगता है कि अंधेरा हो गया है प्रकाश के ज्यादा होने के कारण, उस क्षण में की गई प्रार्थना है, हे प्रभु, इस प्रकाश के पर्दे को हटा ले। ताकि मैं इसके पीछे छिपे सत्य के मुख को देख सकूं।
और उचित ही है कि सत्य के मुख के आसपास इतना प्रकाश आधिक्य हो कि आंखें अंधी और अंधेरी हो जाएं। उचित यही है, सम्यक भी यही है कि प्रकाश के वर्तुल के भीतर ही सत्य छिपा हो। और अंधकार अगर मालूम पड़ता हो, तो वह हमारी भ्रांति हो। सत्य के आसपास कैसे अंधकार हो सकता है? और अगर सत्य के आसपास भी अंधकार हो सकता है, तो फिर इस जगत में प्रकाश कहां हो सकेगा? सत्य के

आसपास अंधकार टिकेगा कैसे? सत्य के निकट अंधकार के टिकने की कोई संभावना, कोई उपाय नहीं। सत्य है जहां वहां तो प्रकाश ही होगा। लेकिन हमें अंधकार जैसा मालूम हो सकता है, इतना आधिक्य हो जाए... ।
अगर सूफी फकीरों से पूछें, तो वे कहते हैं कि जब उतरते हैं उस जगह तो
एक सूरज--नहीं, काफी नहीं इतना कहना, हजार सूरज भी काफी नहीं--अनंत सूर्य एक साथ जलने लगे भीतर, इतना आधिक्य हो जाएगा कि अंधकार छा जाएगा। लेकिन सत्य के आसपास अंधकार हो नहीं सकता। सत्य छिपा है प्रकाश में। और स्मरण रखें, अंधकार में आंख खोलनी आसान है, प्रकाश के आधिक्य में आंख का खोलना अति कठिन है। अमावस की रात में आंख खोलने में कौन सी बाधा है? लेकिन सूर्य सामने पड़ जाए तो आंख खोलने में बड़ी कठिनाई है।
जो सत्य के निकट जाएंगे, अंतिम संघर्ष प्रकाश से होगा, अंतिम संघर्ष अंधकार से नहीं। अंतिम संघर्ष, प्रकाश की इतनी बाढ़ आ जाती है कि आंख खोलनी मुश्किल हो जाती है। उस पीड़ा के क्षण में यह सूत्र कहा गया है।
उस पीड़ा के क्षण में यह प्रार्थना है कि हे प्रभु, हटा ले इस प्रकाश को, ताकि मैं तेरे सत्य मुख को देख सकूं।
स्वाभाविक है कि कोई कहे, अंधकार से ले चल मुझे दूर, अंधकार से बाहर ले चल। लेकिन प्रकाश को हटा ले!
और दूसरी बात है कि प्रकाश के लिए जो शब्द प्रयोग किया है--वह प्रकाश ऐसा भी नहीं है कि हटाने का मन होता हो। स्वर्ण जैसा है, बहुत प्रीतिकर भी है। वही कठिनाई है। इतना प्रीतिकर है कि यह भी मन नहीं होता कि यह प्रकाश हट जाए। और जब तक यह प्रकाश न हटे, तब तक सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए दूसरी बात भी समझ लें।
अशुभ को छोड़ना बहुत आसान है, जब शुभ को छोड़ने की घड़ी आती है तब असली कठिन घड़ी आती है। लोहे की जंजीरों को छोड़ने में कौन सी अड़चन है? लेकिन जब स्वर्ण की जंजीरें छोड़नी पड़ती हैं तब कठिनाई होती है। क्योंकि स्वर्ण की जंजीरों को जंजीरें मानना ही मुश्किल होता है। वे आभूषण मालूम होती हैं। असाधुता को छोड़ना बहुत आसान है, लेकिन अंतिम घड़ी में जब साधुता भी बंधन हो जाती है और उसे भी छोड़ देना पड़ता है, तब असली कठिनाई आती है। और आखिरी घड़ी में शुभ भी छोड़ देना पड़ता है, क्योंकि उतनी पकड़ भी परतंत्रता है। और सत्य के समक्ष उतनी परतंत्रता भी बाधा है। वहां चाहिए परम स्वातंष्य।
इसलिए यह भी मजे की बात है कि ऋषि अंधेरे से खुद लड़ लिया है, लेकिन प्रकाश को कहता है परमात्मा से कि तू दूर कर दे। अंधेरे से खुद लड़ लेंगे, अड़चन नहीं है बहुत। लेकिन जब प्रकाश से लड़ने की घड़ी आएगी तब बहुत अड़चन मालूम होती है--प्रकाश से और लड़ना! और प्रकाश को अलग करने की बात ही पीड़ा देती है। प्रकाश इतना सुखद है, इतना स्वर्गीय है, इतना शांतिदायी है, इतना उत्फुल्ल करता है, इतना प्राणों को भर जाता है अमृत से, उसे हटाने की बात ही पीड़ा देती है।
इसलिए ऋषि कहता है, हे प्रभु, तू हटा ले। यह मैं हटा पाऊं--इसकी सामर्थ्य नहीं मालूम पड़ती। मेरा तो मन करेगा, इसी में डूब जाऊं।
ध्यान रहे, प्रकाश का जब ध्यान में गहरा अनुभव हो तो प्रकाश से भी बचना पड़ेगा। उससे भी आगे है यात्रा। उसके भी पार जाना है। उसके भी ऊपर उठना है। अंधेरे से ऊपर तो उठना ही है, प्रकाश से भी ऊपर उठना है। और जब अंधकार और प्रकाश दोनों के ऊपर चेतना चली जाती है, तभी द्वैत के ऊपर अद्वैत का प्रारंभ होता है। तभी उस एक का दर्शन होता है जो न प्रकाश है और न अंधकार है। जो न रात है, न दिन है। न जीवन है, न मृत्यु। जो सदा सब द्वैत के पार है। उस अद्वैत की प्रतिष्ठा के पहले अंतिम संघर्ष प्रकाश के साथ होगा।
ऐसा भी समझ लें कि दुख को छोड़ना सदा आसान है, दुख से हम लड़ते हैं, लेकिन अगर सुख आ जाए, तो सुख से लड़ना बहुत मुश्किल है। करीब-करीब असंभव मालूम पड़ता है। सुख से कैसे लड़ पाएंगे? लेकिन अगर सुख ने भी पकड़ लिया तो भी मोक्ष संभव नहीं है। सुबह मैंने कहा कि सुख भी स्वर्ग ही बनाएगा, वह भी नए बंधन निर्माण कर जाएगा--सुखद, प्रीतिकर, बड़े मनोरम, मन को भाएं ऐसे, लेकिन फिर भी मुक्ति नहीं है।

इस प्रकाश के पर्दे को हटा लेने के लिए, इस ज्योति से ढंके हुए तेरे मुख के दर्शन करने की जो आकांक्षा ऋषि ने की है, वह मनुष्य के मन की आखिरी दीनता की खबर है।
मनुष्य का मन प्रकाश से नहीं मुक्त होना चाहता है। मनुष्य का मन सुख
से नहीं मुक्त होना चाहता है। मनुष्य का मन स्वर्ग से नहीं मुक्त होना चाहता है। लेकिन उससे भी मुक्त तो होना ही है। इसलिए द्वार पर खड़ा है ऋषि। एक तरफ उसकी मनुष्यता है, जो कहती है कि प्रकाश आह्लादकारी है, नाचो, एक हो जाओ, डूब जाओ और लीन हो जाओ। और एक ओर उसके भीतर वह सत्य की जो अभीप्सा है, वह कहती है, इसके भी पार, इसके भी पार। ऐसी कठिनाई के क्षण में, ऐसे चुनाव के क्षण में, ऐसे डिसीसिव मोमेंट में कहा गया सूत्र है कि हे प्रभु, हटा ले अपने इस ज्योति के पर्दे को! इस सुख, इस स्वर्गीय रूप को हटा ले, ताकि मैं उसे देख लूं, जो निपट नग्न सत्य है, जो तू है!
दुख में जो जीते हैं, उन्हें पता ही नहीं कि सुख का भी अपना दुख है। शत्रुओं में जो जीते हैं, उन्हें पता ही नहीं है कि मित्रों की भी अपनी शत्रुता है। नर्क में जो जीते हैं, उन्हें पता ही नहीं कि स्वर्ग की भी अपनी पीड़ा है। अंधकार में जो जीते हैं, उन्हें अनुमान ही कैसे हो कि एक दिन प्रकाश भी कारागृह बन जाता है। जहां तक द्वैत है वहां तक अमुक्ति है। जहां तक द्वैत है वहां तक बंधन है।
पर क्या बचेगा प्रकाश भी जब हट जाएगा? अंधकार भी जब हट जाएगा तो सत्य
का मुख होगा कैसा? बचेगा क्या?
अधिकतम जो हम सोच सकते हैं, विचारणा जहां तक जाती है, जहां तक विचार के पंख उड़ान ले सकते हैं, जहां तक मन की सीमा है, अधिकतम जो हम सोच सकते हैं, वह लगता है कि सत्य का चेहरा अगर होगा तो प्रकाश जैसा होगा, आलोक होगा। क्यों ऐसा लगता है? एक-दो बात ख्याल में ले लें।
हमने अभी तक प्रकाश देखा नहीं है। आप कहेंगे, प्रकाश देखा नहीं है! प्रकाश देख रहे हैं। सुबह सूरज निकलता है और हम प्रकाश देखते हैं। और रात चांद आता है और चांदनी छा जाती है और हम प्रकाश देखते हैं। प्रकाश हमने देखा है। नहीं, फिर भी मैं आपसे कहता हूं, प्रकाश अभी आपने देखा नहीं है। अभी केवल प्रकाशित चीजें देखी हैं। जब सूरज निकलता है तब आप प्रकाश नहीं देखते हैं, सिर्फ प्रकाशित चीजें देखते हैं--पहाड़, नदी, झरने, वृक्ष, लोग। अभी यहां बिजली के बल्ब जल रहे हैं। आप कहेंगे, हम प्रकाश देखते हैं। आप प्रकाश नहीं देखते। बिजली का बल्ब दिखाई पड़ता है लोगों पर पड़ता हुआ। लोग जो प्रकाशित हैं, वे दिखाई पड़ते हैं। आब्जेक्ट्स दिखाई पड़ते हैं।
प्रकाश का अनुभव बाहर के जगत में होता ही नहीं। बाहर के जगत में केवल प्रकाशित चीजें दिखाई पड़ती हैं। और जब प्रकाशित चीजें नहीं दिखाई पड़ती हैं, तो हम कहते हैं, अंधकार है। इस कमरे में कब अंधकार हो जाता है? जब इस कमरे में कोई चीज दिखाई नहीं पड़ती है, तो हम कहते हैं, अंधकार है। और जब चीजें दिखाई पड़ती हैं, तो हम कहते हैं, प्रकाश है। प्रकाशित चीजों को देखा है हमने, सीधे प्रकाश को नहीं देखा है।
अगर कोई भी चीज इस कमरे में न हो तो आपको प्रकाश दिखाई नहीं पड़ेगा। चीज से टकराता है प्रकाश, चीज का आकार दिखाई पड़ता है, तो आपको लगता है प्रकाश है। चीज अगर बिल्कुल स्पष्ट दिखाई पड़ती है, तो आप कहते हैं, ज्यादा प्रकाश है। अस्पष्ट दिखाई पड़ती है, तो कहते हैं, कम प्रकाश है। नहीं दिखाई पड़ती है, तो कहते हैं, अंधकार है। बिल्कुल अंदाज नहीं आता, तो कहते हैं, महा अंधकार है। लेकिन न तो आपने प्रकाश देखा है, न आपने अंधकार देखा है। अनुमान है हमारा कि जब चीजें दिखाई पड़ रही हैं तो प्रकाश होगा।
असल में प्रकाश इतनी सूक्ष्म ऊर्जा है कि बाहर उसके दर्शन नहीं हो सकते। प्रकाश के दर्शन तो भीतर ही होते हैं, क्योंकि भीतर कोई चीज नहीं होती, जिसको प्रकाशित किया जा सके। भीतर कोई आब्जेक्ट्स नहीं हैं जो प्रकाशित हो जाएं और उनको आप देख लें। भीतर जब प्रकाश का अनुभव होता है तो शुद्ध प्रकाश का, सीधे प्रकाश का, इमीजिएट, बिना किसी चीज के माध्यम के प्रकाश का ही अनुभव होता है। सिर्फ प्रकाश!
और एक फर्क। बाहर जो भी हम देखते हैं, मैंने कहा, प्रकाशित चीजें देखते हैं और दूसरी बात प्रकाश का स्रोत देखते हैं और प्रकाशित चीजें

देखते हैं। बीच में जो प्रकाश है, वह हम कभी नहीं देखते। सूरज दिखाई पड़ता है, यह बिजली का बल्ब दिखाई पड़ता है, इधर नीचे चमकती हुई प्रकाशित चीजें दिखाई पड़ती हैं। दोनों के बीच में जो प्रकाश है, वह दिखाई नहीं पड़ता। स्रोत दिखाई पड़ता है प्रकाश का। जिन चीजों पर पड़ता है, वे चीजें दिखाई पड़ती हैं।
लेकिन भीतर जब प्रकाश दिखाई पड़ता है तो न तो वहां चीजें होती हैं और न वहां सोर्स होता है--सोर्सलेस लाइट। वहां कोई सूरज नहीं होता, जिसमें से प्रकाश आ रहा है। वहां कोई दीया नहीं जलता, जिसमें से प्रकाश आ रहा है। वहां सिर्फ प्रकाश होता है--सोर्सलेस, उदगमरहित। उदगमरहित प्रकाश। वस्तुएं-शून्य जगत। उस शून्य में जब प्रकाश पहली दफा दिखाई पड़ता है, तब अगर कबीर, तब अगर मोहम्मद, और तब अगर सूफी फकीर या बाउल फकीर या झेन फकीर नाचने लगते हैं और कहते हैं कि तुम जिसे प्रकाश कहते हो, वह अंधेरा है... । अरविंद ने लिखा है कि जब तक भीतर नहीं देखा था तब तक जिसे बाहर प्रकाश समझा था, भीतर देखने के बाद पता चला, वह अंधकार है। जब तक भीतर नहीं देखा था तब तक बाहर जिसे जीवन समझा था, जब भीतर देखा तो पता चला, वह मृत्यु है। भीतर जब प्रकाश--उदगमरहित, वस्तु-शून्य, निराकार, अंतस आकाश में प्रगट होता है, तो उसकी आभा को झेलना बड़ा कठिन है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मन होता है कि आ गई मंजिल, पहुंच गए।
साधक को इंद्रियां बड़ी भारी बाधाएं नहीं हैं। उनसे पार हो जाता है।
विचार बड़ी बाधाएं नहीं हैं, उनसे पार हो जाता है। लेकिन जब भीतर के प्रीतिकर अनुभव के फूल खिलने शुरू होते हैं और जब भीतर सिद्धि के आनंद प्रगट होने शुरू होते हैं, तब पैर उठते ही नहीं। छोड़ने का मन नहीं होता।
पार जाने की हिम्मत, पार जाने का साहस नहीं होता। लगता है, आ गई मंजिल।
उस क्षण में ऋषि ने कहा है, हे प्रभु! हटा ले इस प्रकाश को भी। मैं तो वही जानना चाहता हूं जो प्रकाश के भी पार है। अंधकार के पार मैं आ गया, प्रकाश के पार तू मुझे ले चल।
और ध्यान रहे, अंधकार के पार तक जाने में संकल्प काम कर देता है, लेकिन प्रकाश के पार जाने में समर्पण काम करता है। अंधकार के पार जाने में संघर्ष काम कर देता है। हम भी जूझ सकते हैं। आदमी भी काफी सबल है अंधकार से लड़ने में। लेकिन जब प्रकाश से लड़ने की बात उठती है तो आदमी एकदम निर्बल है। नहीं है, न के बराबर है। वहां संकल्प काम नहीं करता, वहां समर्पण काम करता है।
यह सूत्र समर्पण का है। हार गया ऋषि। यहां तक तो आ गया, जहां कि परम प्रकाश प्रगट होता है। यहां तक उसने प्रार्थना नहीं की। यहां तक उसने प्रभु से नहीं कहा कि तू ऐसा कर दे। यहां तक वह अपने भरोसे चला आया। यहां तक आदमी आ सकता है।
संकल्प से जो चलते हैं, वे इससे आगे कभी न जा सकेंगे। समर्पण की जिनकी तैयारी है, सरेंडर की जिनकी तैयारी है--टोटल सरेंडर की--वे ही जा सकेंगे। इसे इस तरह कहें तो शायद जल्दी समझ में आ जाए। यहां तक ध्यान ले जाता है, यहां तक। प्रकाश के परम अनुभव तक ध्यान ले जाता है। लेकिन प्रकाश के पार प्रार्थना ले जाती है। उसके बाद ध्यान काम नहीं कर पाता। इसलिए जिन्होंने ध्यान नहीं किया और प्रार्थना कर रहे हैं, वे नासमझ हैं। वहां प्रार्थना की कोई भी जरूरत नहीं है। और जिन्होंने ध्यान कर लिया और ऐसा सोचा कि अब प्रार्थना की क्या जरूरत है, वे भी नासमझ हैं। क्योंकि ध्यान प्रकाश तक ले जाएगा, द्वार तक खड़ा कर देगा, लेकिन अंत में तो प्रार्थना की पुकार ही सहारा बनेगी। अंततः तो कहना पड़ेगा कि मैं तेरे हाथ में हूं, तू ले चल। यहां तक मैं आ गया।
और ध्यान रखें, जो ध्यान की इस सीमा तक चला आता है, उसने पात्रता अर्जित कर ली। उसने पात्रता अर्जित कर ली कि अब अगर वह कह भी दे कि मैं नहीं जाता, तो ईश्वर उसे ले जाए। वह इस योग्य हुआ जहां से प्रभु की अनुकंपा शुरू हो। जहां से प्रभु की कृपा बरसे। आ गया उस जगह तक जहां तक आदमी आ सकता था। इससे ज्यादा परमात्मा भी, इससे ज्यादा परमात्मा भी आदमी से अपेक्षा नहीं कर सकता है। आखिरी घड़ी आ गई, आदमी की क्षमता का छोर आ गया। अब अगर परमात्मा भी इससे ज्यादा आदमी से मांग करे तो ज्यादती है। इससे ज्यादा का

कोई सवाल भी नहीं है। प्रार्थना, अब प्रार्थना--अब तो सिर्फ इतना कहना कि तेरे हाथों में छोड़ते हैं, तू हटा दे इस पर्दे को।
प्रार्थना ध्यान का अंतिम समापन है। समर्पण संकल्प की अंतिम निष्पत्ति है। जहां तक कर सकें, स्वयं करना। लेकिन जिस घड़ी ऐसा लगे कि अब न हो सकेगा, उस क्षण प्रार्थना को स्मरण कर लेना। उस क्षण प्रभु को पुकार लेना। उस क्षण कहना कि मैं जहां तक आ सकता था अपने कमजोर कदमों से, आ गया हूं। अब बस, अब मेरे वश के बाहर है, अब तू सम्हाल।
इसीलिए ऋषि ने उस घड़ी में इस प्रार्थना को दोहराया है कि हे प्रभु, प्रकाश को तू हटा ले, अपने सत्य मुख को उघाड़ दे।
कैसा होगा सत्य? जब प्रकाश भी हट जाएगा तो सत्य कैसा होगा? इसे थोड़ा
सा ख्याल में ले लेना जरूरी है। कठिन है बहुत, गहन है बहुत, लेकिन फिर भी थोड़ा सा ख्याल में ले लेना जरूरी है, वह कभी काम पड़ सकता है।
कहा मैंने कि बाहर प्रकाशित वस्तुएं हैं और प्रकाश का उदगम स्रोत है। प्रकाश का कोई अनुभव नहीं होता बाहर। भीतर प्रकाश का अनुभव होता है, न उदगम स्रोत रह जाता है, न वस्तुएं रह जाती हैं। फिर अंततः प्रकाश भी खो जाता है। हमारे मन में ख्याल आएगा कि जब प्रकाश खो जाएगा तो अंधेरा हो जाएगा। हमारा अनुभव यही है। हम कहेंगे कि ऋषि भी कैसी नासमझी की प्रार्थना कर रहा है। अगर प्रकाश का पर्दा हट गया तो फिर अंधेरा हो जाएगा, फिर प्रभु के चेहरे को देखेगा कैसे? लेकिन अंधकार के तो पार आ गई है बात। अब प्रकाश के हटने से अंधकार नहीं होगा। अंधकार तो छूट चुका बहुत पीछे। प्रकाश का पर्दा आ गया है। अब प्रकाश भी हट जाएगा तो फिर बचेगा क्या? संध्या को जब सूरज डूब जाता है और अभी रात नहीं आई होती, जब प्रकाश का स्रोत खो जाता और अभी अंधेरे का अवतरण नहीं हुआ होता, वह जो बीच का पल है संध्या का, वैसा ही पल है। इसीलिए प्रार्थना और संध्या का जोड़ बन गया। इसलिए धीरे-धीरे लोग प्रार्थना को संध्या कहने लगे कि संध्या कर रहे हैं। और लोगों ने समझा कि संध्या कर लेनी है। जब सूरज डूबता है तब संध्या हो जाती है या जब सुबह सूरज नहीं उगा होता है तब संध्या होती है। संध्या की घड़ियां हो गईं। मिड प्वाइंट्स! दिन जा चुका, रात नहीं आई। रात जा चुकी, दिन आने को है। वह जो बीच की छोटी सी घड़ी है, जो गैप है, उसको हम संध्या कहते हैं। उसको हमने पूजा और प्रार्थना का क्षण बना लिया। लेकिन असली बात दूसरी है।
असली बात यह है कि जब अंधकार भी खो चुका होता है और जब प्रकाश भी खो चुका होता है, तब संध्या का क्षण आता है अंतर-आकाश से। वहां संध्या आ जाती है। अंधेरा भी नहीं होता, प्रकाश भी नहीं होता--आलोक। भाषा-कोश में जाएंगे तो आलोक का अर्थ प्रकाश ही लिखा हुआ पाएंगे। वह गलत है। आलोक का अर्थ होता हैः न प्रकाश, न अंधकार, ऐसा क्षण। भोर में सूरज नहीं निकला है, रात जा रही है, जा चुकी है। भोर के क्षण में वह आलोक का क्षण है।
उदाहरण के लिए कह रहा हूं, ताकि आपके ख्याल में आ जाए। क्योंकि भीतर
के लिए तो और कोई ख्याल दिलाने का उपाय नहीं है। जहां न अंधकार है, जहां न प्रकाश है, वहां आलोक रह जाता है। और जैसा मैंने कहा कि बाहर से भीतर जाते वक्त वस्तुएं खो जाती हैं, प्रकाश का उदगम खो जाता है, प्रकाश रह जाता है। वैसे ही जब प्रकाश और अंधकार खो जाते हैं और सिर्फ आलोक रह जाता है तो जानने वाला और जानी जाने वाली चीज दोनों खो जाते हैं। द्रष्टा और दृश्य खो जाते हैं। फिर ऐसा नहीं होता है कि ऋषि खड़ा है और सत्य को देख रहा है। फिर ऋषि सत्य हो जाता है। फिर सत्य ऋषि हो जाता है। फिर कोई जानने वाला और जानी गई चीज, कोई ज्ञाता और कोई ज्ञेय, कोई नोअर और कोई नोन, ऐसे दो सूत्र नहीं रह जाते, वे दोनों खो जाते हैं।
आलोक में अंधकार और प्रकाश भी खो जाते हैं और जानने वाला और जानी गई चीज भी खो जाती है। तब अनुभोक्ता नहीं रह जाता और अनुभव नहीं रह जाता-- अनुभूति रह जाती है।
कृष्णमूर्ति अंग्रेजी में एक शब्द का उपयोग करते हैं, एक्सपीरिएंसिंग। एक्सपीरिएंस नहीं, अनुभव नहीं। क्योंकि अनुभव जहां होता है, वहां अनुभोक्ता, अनुभव करने वाला भी मौजूद होता है। और जिस चीज की अनुभूति होती है, वह भी मौजूद होता है।

नहीं, न तो अनुभव करने वाला रह जाता है, न अनुभव जिसका हो रहा है, वह रह जाता है। अनुभूति ही रह जाती है। एक्सपीरिएंसिंग ही रह जाती है। ऋषि भी खो जाता है, परमात्मा भी खो जाता है। भेद गिर जाते हैं। प्रेमी खो जाता है, प्रेम-पात्र खो जाता है। भक्त खो जाता है, भगवान खो जाता है। यह परम मुक्ति का क्षण है। यहां ऐसा नहीं है कि हम कुछ जान लेते हैं, बल्कि ऐसा है कि हम पाते हैं, हम नहीं हैं। और हम यह भी पाते हैं कि कुछ जानने को भी नहीं है। ज्ञान ही रह जाता है।
इसलिए महावीर ने जिस शब्द का उपयोग किया है वह बहुत अदभुत है। महावीर
ने कहा है, केवल-ज्ञान, ओनली नोइंग--दि नोअर इ.ज नाट, दि नोन इ.ज नाट, बट ओनली नोइंग। वह ज्ञाता भी खो गया, ज्ञेय भी खो गया, सिर्फ बचा ज्ञान। दोनों छोर खो गए। जैसा सूरज खो गया, मूल स्रोत, वस्तुएं खो गईं जिन पर प्रकाश पड़ता था। ऐसे ही जानने वाला खो गया, मूल स्रोत। जो जाना जाता है ज्ञेय, वह खो गया, वस्तु खो गई। जानना बचता है। केवल ज्ञान बचता है। मात्र जानना बचता है।
इस जानने की दिशा में मैंने कहा, पहला कदम संकल्प का है, दूसरा कदम समर्पण का है। पहला कदम ध्यान का है, दूसरा कदम प्रार्थना का है। और दोनों कदम जो उठा लेता है, उसे फिर जानने को, पाने को, अनुभव करने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य
प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।। 15।।

हे जगत्पोषक सूर्य! हे एकाकी गमन करने वाले! हे यम! हे सूर्य! हे
प्रजापति-नंदन! तू अपनी किरणों को हटा ले। तेरा जो अतिशय कल्याणतम रूप है,
उसे मैं देखता हूं। यह जो आदित्यमंडलस्थ पुरुष है, वह मैं हूं।। 15।।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य
प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।। 15।।

हे जगत्पोषक सूर्य! हे एकाकी गमन करने वाले! हे यम! हे सूर्य! हे प्रजापति-नंदन! तू अपनी किरणों को हटा ले। तेरा जो अतिशय कल्याणतम रूप है, उसे मैं देखता हूं। यह जो आदित्यमंडलस्थ पुरुष है, वह मैं हूं।। 15।।
एक सूर्य है जिससे हम परिचित हैं। लेकिन जिसे हम सूर्य कहते हैं वैसे अनंत सूर्य हैं। और रात आकाश जब तारों से भर जाता है तो शायद ही हमें ख्याल आता हो कि जिन्हें हम तारे कहते हैं वे सभी सूर्य हैं। बहुत दूर हैं, इसलिए छोटे दिखाई पड़ते हैं। हमारा सूर्य बहुत बड़ा सूर्य नहीं है। हमारा सूर्य सूर्यों के इस अनंत विस्तार में बहुत ही मध्यमवर्गीय सूर्य है। उससे बहुत बड़े सूर्य हैं। वैज्ञानिक अब तक जितनी गणना कर पाते हैं उससे अंदाज है कोई चार करोड़ सूर्यों का। वैज्ञानिक गणना से।
संतों की अनुभूति तो अनंत सूर्यों की है। लेकिन इस सूत्र में जिस सूर्य की बात कही गई है, वह उस परम सूर्य की बात है, जिसे इन सब सूर्यों को भी प्रकाश मिलता है। वह उस परम सूर्य की बात है, जो कि प्रकाश का आदि-उदगम है। जहां से कि समस्त किरणों का जाल फैलता है। जहां से कि समस्त जीवन आविर्भूत होता है।
यह भी ख्याल में ले लें कि सूर्य किरणों से जीवन बहुत अनिवार्य रूप से बंधा है। अभी तो वैज्ञानिक बहुत चितिंत होते हैं, क्योंकि डर लगता है कि तीन-चार हजार वर्ष में हमारा सूर्य ठंडा हो जाएगा। उसने काफी विकीरण कर दिया, उसका रेडिएशन चुका। वह अब एक बुझता हुआ सूर्य है, जिसमें से रोज किरणें क्षीण होती चली जाएंगी। ज्यादा से ज्यादा चार हजार वर्ष वह और प्रकाश देगा, फिर एक दिन ठंडी राख हो जाएगा।

वहां सूर्य ठंडा हो जाएगा, तो यहां सब जीवन शांत हो जाएगा। क्योंकि समस्त जीवन सूर्य की किरणों पर ही यात्रा कर रहा है। चाहे फूल खिलता हो और चाहे पक्षी गीत गाता हो और चाहे मनुष्य के प्राण थिरकते हों, सारा जीवन सूर्य की किरणों से बंधा है।
यहां जिस सूर्य की बात की जा रही है, वह उस महासूर्य की बात की जा रही है, जिससे सब सूर्यों का जीवन भी बंधा है। यह महासूर्य बाहर की यात्रा और खोज से कभी भी मिलने वाला नहीं है।
जैसा मैंने सुबह कहा, एक प्रगट ब्रह्म है--ये सारे सूर्य प्रगट ब्रह्म हैं--जिस महासूर्य की बात की जा रही है, वह अप्रगट ब्रह्म है। वह बीज ब्रह्म है। वह अप्रगट है। उस अप्रगट से ही, उस अप्रगट स्रोत से ही यह सारा प्रगट जीवन-विस्तार, यह सारा सगुण, यह साकार, यह सब फैलता और निर्मित होता है।
यहां ऋषि ने कहा है कि हे सूर्य, अपनी किरणों के जाल को तू सिकोड़ ले।
इस किरणों के जाल के सिकोड़ने में बहुत सी बात कही गई हैं। क्योंकि किरणों के साथ जीवन का विस्तार है।
यहां ऋषि कहता है, मृत्यु को हम पार कर आए। हे सूर्य, तू अपने जीवन के विस्तार को भी सिकोड़ ले।
जैसा मैंने कहा, अंधकार हम पार कर आए, अब तू प्रकाश भी सिकोड़ ले। इस सूत्र में ऋषि कहता है, जीवन के विस्तार को भी तू सिकोड़ ले। मृत्यु के मैं पार हुआ, अब जीवन के भी पार हो जाऊं।
असल में सब द्वैत के पार होने की अभीप्सा है। क्योंकि जहां तक द्वैत
है वहां तक हम कुछ भी पा लें, दूसरा सदा मौजूद है। हम कितना ही जीवन पा लें, मौत सदा मौजूद रहेगी। वह द्वैत है, वह उसी सिक्के का दूसरा पहलू है। हम ऐसा नहीं कर सकते कि एक रुपए के सिक्के के एक पहलू को बचा लें और दूसरे को फेंक दें। हम इतना ही कर सकते हैं कि एक पहलू को दबा दें और दूसरे को ऊपर कर लें। लेकिन नीचे दबा हुआ पहलू प्रतीक्षा कर रहा है। मौजूद है। हाथ में ही मौजूद है, कहीं गया नहीं है। ऐसा आप न कर सकेंगे कि एक पहलू फेंक दें और कहें कि दूसरे को हम बचा लें। हालांकि जिंदगीभर आदमी इसी नासमझी में पड़ा रहता है। एक पहलू को फेंकता है और एक को बचाता है। कहता है, दुख से छुड़ा लो भगवन, सुख मुझे दे दो। वह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सुख को बचाता है, दुख उसके पीछे बच जाता है। कहता है, सम्मान मुझे दे दो, अपमान मुझसे ले लो। सम्मान को बचाता है, अपमान उसके साथ चला आता है। कहता है, मृत्यु मुझे नहीं चाहिए, मुझे जीवन चाहिए। लेकिन जीवन को मांगा कि मृत्यु पीछे खड़ी हो जाती है।
इस जगत में जिसने एक मांगा उसे दूसरा बिना मांगे मिल जाता है। या तो दोनों को राजी हो जाओ या दोनों को छोड़ने को राजी हो जाओ। जो दोनों को राजी हो जाता है, वह भी दोनों से मुक्त हो जाता है। जो दोनों को छोड़ने को राजी हो जाता है, वह भी दोनों से मुक्त हो जाता है।
क्योंकि दोनों से राजी होने का अर्थ क्या होता है? जो मृत्यु और जीवन दोनों से राजी है, उसे मृत्यु में कोई वैराग्य न रहा और जीवन में कोई राग न रहा, मुक्त हो गया। जो सुख-दुख दोनों से राजी है, उसे सुख में क्या सुख रहा और दुख में क्या दुख रहा! दोनों से राजी होते, दोनों एक-दूसरे को काट देते हैं, निगेट कर देते हैं। दोनों से राजी होते, दोनों कटकर शून्य हो जाते हैं।
या जो दोनों को छोड़ने को राजी है, जो कहता है, दुख भी छोड़ देता हूं, सुख
भी छोड़ देता हूं। मन कहता है, दुख को छोड़ दो, सुख को बचा लो। मन को तोड़ना हो तो दो ही उपाय हैं, या तो दोनों से राजी हो जाओ या दोनों से ना-राजी हो जाओ। दोनों स्थितियों में कट जाती है--दोनों की जो पोलेरिटी है, दोनों की जो ध्रुवता है, दोनों का जो विरोध है। और दोनों विरोध एक साथ हैं, वे एक ही अस्तित्व के हिस्से हैं।
इसलिए ऋषि कहता है, सिकोड़ ले अपनी सूर्य की किरणों को, सिकुड़ जाए उनके साथ ही सब जीवन।
और इस महासूर्य से ही सब कुछ निकलता है। इसलिए ऋषि की आकांक्षा अगर हम ठीक से समझें तो ऋषि की आकांक्षा यह है कि मैं उसे देखना चाहता हूं, जहां से सब निकलता है या जहां सब सिकुड़ जाता है। मैं मूल देखना चाहता हूं। मैं

वह देखना चाहता हूं, जहां से सारी सृष्टि प्रगट होती है और जहां सारी प्रलय लीन होती है। मैं उस जगह को देखना चाहता हूं, जहां से सब आता और जहां सब विलीन हो जाता है। जहां से जीवन का यह विराट फैलाव होता और जहां से फिर सब महामृत्यु सिकोड़ लेगी। इसलिए सूर्य को यम भी कहा है। वह भी ध्यान देने की बात है।
यम तो मृत्यु का देवता है। सूर्य तो जीवन का! लेकिन ध्यान रहे, जहां से जीवन आता है, वहीं से मृत्यु आती है। मृत्यु कहीं और से नहीं आ सकती। जहां से जीवन आता है, वहीं से मृत्यु आती है। क्योंकि दोनों अलग नहीं हो सकते। ऐसा नहीं होता है कि मृत्यु कहीं और से आए और जीवन कहीं और से आए। अगर ऐसा होता तो हम जीवन को बचा लेते, मृत्यु को छोड़ देते। सूर्य को ही यम भी कहा है।
यम शब्द और भी अर्थों में उपयोगी है। जिन्होंने मृत्यु को यम कहा, बड़े अदभुत लोग थे। यम का अर्थ होता है, नियमन करने वाला, दि कंट्रोलर। बड़े मजेदार लोग थे। मृत्यु को जीवन का नियमन करने वाला कहा है। अगर मृत्यु जीवन का नियमन न करे तो बड़ी अव्यवस्था हो जाए, अराजकता हो जाए। मृत्यु आकर सब उपद्रव को शांत करती चली जाती है। मृत्यु विश्राम है। जैसे दिनभर के श्रम के बाद रात आ जाती है और रात की गोद में आदमी सो जाता है विश्राम में। कभी आपने ख्याल किया, दस-पांच दिन नींद न आए तो बड़ा अनियमन हो जाएगा। चित्त बड़ा भ्रांत हो जाएगा। उद्विग्न हो जाएगा। अराजक हो जाएगा। दस दिन नींद न आए तो आप विक्षिप्त हो जाएंगे। रात आकर आपकी विक्षिप्तता को बचा जाती है। रात आकर व्यवस्था दे जाती है, सुबह आप फिर ताजे होकर जागकर खड़े हो जाते हैं।
गहरे अर्थों में, विस्तीर्ण अर्थों में, पूरे जीवन के उपद्रव के बाद, पूरे जीवन की दौड़-धूप के बाद मृत्यु रात का विश्राम है। वह फिर नियमन दे देती है। वह फिर जीवन के सब शूल, जीवन की सब चिंताएं, जीवन के सब उपद्रव, जीवन के सब भार छीन लेती है। फिर नई सुबह, फिर नया जीवन! इसलिए मृत्यु के देवता को कहा है यम। वह जीवन को नियमित करता रहता है। वह न हो तो जीवन विक्षिप्त हो जाए। मृत्यु जीवन की शत्रु नहीं है। यम का अर्थ हुआ कि मृत्यु जीवन की मित्र है। और जीवन पागल हो जाए, अगर मृत्यु न हो तो। जीवन विक्षिप्त हो जाए, अगर मृत्यु न हो तो।
इसे अगर और आयामों में भी फैलाकर देखेंगे तो बहुत हैरान हो जाएंगे। क्योंकि इसमें बड़े अर्थों के फूल खिल सकते हैं। अगर सुख मिल जाए इतना कि दुख कभी न मिले, तो भी आदमी पागल हो जाए। यह बात अजीब लगेगी। यह बात समझ में नहीं पड़ेगी। लेकिन सुख अगर मिल जाए अमिश्रित, जिसमें दुख बिल्कुल न हो, तो सुख विक्षिप्त कर जाएगा।
इसलिए बड़े मजे की बात है कि दीन, दरिद्र, दुखी समाजों में लोग कम पागल होते हैं। सुखी, समृद्ध समाजों में लोग ज्यादा पागल होते हैं। आज जमीन पर अमरीका सबसे बड़ा पागलखाना है। दीन, दरिद्र से दरिद्र मुल्क भी इतने पागल पैदा नहीं करता, जितना अमरीका पैदा कर देता है। क्या बात होगी?
दुख का भी अपना नियमन है। असल में गुलाब में जब फूल लगते हैं, तो हमें लगता होगा कि कांटे बड़े दुश्मन हैं। लेकिन सब कांटे फूलों की सुरक्षा हैं, नियमन हैं। जीवन विरोध के द्वारा नियमन करता है। पोलेरिटी के द्वारा, विपरीत के द्वारा जीवन संतुलन करता है।
कभी आपने नट को देखा है रस्सी पर चलते वक्त? तो एक बहुत मेटाफिजिकल सत्य, एक बहुत पारलौकिक सत्य नट के रस्सी पर चलते वक्त दिखाई पड़ सकता है। लेकिन हम तो कुछ देखते नहीं। नट को तो देखा होगा। नट जब रस्सी पर चलता है, तो आपने ख्याल किया कि पूरे वक्त हाथ में डंडा लिए दोनों तरफ झूलता रहता है। लेकिन आपने ख्याल न किया होगा कि जब वह बाएं झूलता है, तब क्यों झूलता है बाएं? बाएं झूलता है कि कहीं दाएं गिर न जाए। जब दाएं गिरने को होता है, तब बाएं झुकता है। और जब बाएं गिरने को होता है, तब दाएं झुकता है। बाएं गिरने का डर दाएं झुककर संतुलित कर लेता है। दाएं गिरने का डर बाएं झुककर संतुलित कर लेता है। विपरीत झुकना पड़ता है संतुलन के लिए।
जीवन का संतुलन होता है मृत्यु से। सुख का संतुलन होता है दुख से। प्रकाश का संतुलन होता है अंधकार से। चैतन्य का संतुलन होता है पदार्थ

से। इसलिए अदभुत लोग होंगे, मैंने कहा, जिन्होंने मृत्यु को यम कहा। निश्चित ही मृत्यु के साथ उनकी कोई शत्रुता न रही। उन्होंने मृत्यु के सत्य को पहचान लिया। उन्होंने कहा कि हम जानते हैं कि तू जीवन का नियमन करने वाली है, तू न हो तो बहुत मुश्किल हो जाए।
थोड़ा सोचें। दो-चार सौ साल किसी घर में ऐसा हो जाए कि कोई न मरे, तो उस
घर में से किसी को पागलखाने न भेजना पड़ेगा, पागलखाने को उसी घर में ले आना पड़ेगा। इधर बूढ़े विदा होते हैं, उधर बच्चे आते हैं। और नट की तरह एक संतुलन चल रहा है। पूरे समय एक संतुलन हो रहा है।
तो कहता है ऋषि, हे महासूर्य! हे यम! जीवन को देने वाले, मृत्यु से जीवन
को संतुलित करने वाले! तू अपनी सब किरणें सिकोड़ ले। तू अपने जीवन को भी सिकोड़ ले, तू अपनी मृत्यु को भी सिकोड़ ले। मैं तो उस तत्व को जानना चाहता हूं, जो जीवन और मृत्यु दोनों के पार है। जो न कभी जन्मता और न कभी मरता है। मैं तो उस मूल उदगम को जानना चाहता हूं या उस मूल विलय, अंतिम विलय को। या तो उस प्रथम क्षण को जानना चाहता हूं, जब कुछ भी नहीं था और उस कुछ भी नहीं से सब पैदा हुआ। और या उस अंतिम, अल्टीमेट क्षण को जानना चाहता हूं, जब सब कुछ फिर लीन हो जाएगा, कुछ भी नहीं होगा। उस शून्य को जानना चाहता हूं, जिससे जन्मता है सब, या उस शून्य को जानना चाहता हूं, जिसमें लीन हो जाता है सब। तू सिकोड़ ले अपने सारे जाल को।
निश्चित ही, यह बाहर किसी सूर्य से की गई प्रार्थना नहीं है। यह तो भीतर उस जगह पहुंचकर की गई प्रार्थना है, जहां अंतिम, अंतिम पड़ाव आ जाता है। जहां से छलांग लगती है। जहां से शून्य में छलांग लगती है। जहां से अनादि, अनंत में छलांग लगती है। उस घड़ी की गई प्रार्थना है--हे आदित्य, सिकोड़ ले अपना सब।
बड़े साहस की जरूरत है इस प्रार्थना के लिए। आखिरी साहस की जरूरत है। क्योंकि जहां जीवन और मृत्यु सिकुड़ जाएंगी और जहां उस महासूर्य की सभी किरणें सिकुड़ जाएंगी, वहां मैं बचूंगा? वहां मैं भी नहीं बचूंगा। लेकिन ऋषि की अभीप्सा यह है कि मैं बचूं, न बचूं, यह सवाल नहीं है, मैं तो वह जानना चाहता हूं, जो सदा ही बच रहता है। सबके नष्ट हो जाने पर भी जो बच रहता है, उसे ही मैं जानना चाहता हूं। मैं भी नष्ट हो जाऊंगा, तब जो बच रहता है, उसे ही मैं जानना चाहता हूं।
कहना चाहिए कि जगत में अनेक-अनेक युगों में, अनेक-अनेक लोगों ने सत्य
की खोज की है। लेकिन जैसी खोज इस जमीन के टुकड़े पर, जैसी आत्यंतिक, अल्टीमेट खोज और जैसे आखिरी साहस का परिचय इस जमीन के टुकड़े पर कुछ लोगों ने दिया है, वैसा बहुत मुश्किल से समानांतर परिचय कहीं भी दिया जा सका है। बहुत खोज करने पर भी मैं वैसे लोग नहीं खोज पाता हूं, जो अपने को खोकर सत्य पाने को राजी हों।
सारे जगत में सत्य के खोजी हुए हैं, लेकिन एक शर्त बचाकर, मैं बचा रहूं
और सत्य को जान लूं। लेकिन जब तक मैं बचा रहूंगा, तब तक मैं संसार को ही जानूंगा, क्योंकि मैं संसार का हिस्सा हूं। और अगर उन खोजियों से कोई कहे-- अगर कोई अरस्तू से कहे, अफलांतू से कहे या हीगल या कांट से कहे--कि तुम अपने को खोओगे तभी सत्य को जान सकोगे, तो वे कहेंगे, ऐसे सत्य को जानने की जरूरत क्या है? जब हमीं न बचेंगे तो सत्य को जानकर भी क्या करना है?
न, एक शर्त के साथ उनकी खोज है। एक कंडीशन के साथ, हम बचें और सत्य को जान लें। इसलिए जितने खोजियों ने स्वयं को बचाकर सत्य को जानने की कोशिश की है, उन्होंने सत्य को नहीं जाना, सत्य को फेब्रीकेट किया। उन्होंने सत्य को बनाया। इसलिए हीगल बड़ी से बड़ी किताबें लिखे या कांट बड़े से बड़े, गहरे से गहरे सिद्धांतों की बात करे। वह चूंकि मैं को खोने की कोई तैयारी नहीं है, उनके सिद्धांतों की, उनके बड़े से बड़े शास्त्रों की कोई कीमत, कोई मूल्य नहीं है। अगर कांट और हीगल से पूछें कि उनका इस उपनिषद के ऋषि के बाबत क्या ख्याल है, तो वे कहेंगे, पागल है! क्योंकि अपने को खोकर, अपने को खोकर सत्य को पाकर क्या करना है?
लेकिन ऋषि की पकड़ गहरी है। वह कहता है कि मैं हूं असत्य का ही हिस्सा, मैं हूं संसार का ही हिस्सा। अगर मैं चाहता हूं कि बाहर से तो संसार हट जाए और सत्य आ जाए और मेरे भीतर मैं पूरी तरह मौजूद रहूं, तो मैं असंभव कामना

कर रहा हूं, इंपासिबल। संसार जाएगा तो पूरा जाएगा--बाहर भी, भीतर भी। यहां बाहर पदार्थ खो जाएगा, यहां भीतर मैं खो जाएगा। यहां बाहर आकृतियां खो जाएंगी, यहां भीतर भी आकार खो जाएगा। बाहर भी शून्य होगा, भीतर भी शून्य होगा। इसलिए अगर सत्य को खोजना है तो स्वयं को खोने की तैयारी अनिवार्य शर्त है।
सब सिकोड़ ले महासूर्य--सब--अनकंडीशनली, बेशर्त। जो भी तेरा फैलाव है, पूरा तू वापस ले ले। अपने सारे विस्तार को सिकोड़ ले। तू अपने बीज में लौट जा, तू अपने महा अंग में लौट जा, तू वापस लौट जा वहां, जहां कुछ भी नहीं था। ताकि मैं उसे जान लूं, जिससे सब आता है।
यह अल्टीमेट जंप है, आत्यंतिक छलांग है। इस छलांग का साहस जब कोई जुटाता है, तब परम सत्य के साथ एक हो जाता है। बिना स्वयं मिटे परम सत्य के साथ कोई एकता संभव नहीं है।
इसलिए पश्चिम का दार्शनिक खोजता है सत्य को, तो उसके सत्य मानवीय सत्य से ज्यादा नहीं हो पाते, ह्यूमन ट्रुथ्स। आदमी की ही खोजबीन होते हैं। एक्झिस्टेंशियल नहीं, अस्तित्वगत नहीं, मानवीय। पूरब का संत जब खोजने निकलता है, तो उसके सत्य मानवीय नहीं, उसके सत्य अस्तित्वगत हैं, एक्झिस्टेंशियल हैं। वह अपने को डुबाकर। वह कहता है, सागर को किनारे खड़े होकर क्या जानेंगे! हम तो डूबकर जानेंगे।
पर डूबने में भी हम पूरे कहां डूबते हैं! सागर अलग रह जाता है, हम अलग
रह जाते हैं।
तो ऋषि कहते हैं कि अगर ऐसा है, तो हम नमक के पुतले होकर डूब जाएंगे। लेकिन हम सागर को ऐसा जानेंगे--सागर होकर। एक हो जाएंगे सागर के साथ। उसके खारेपन के साथ खारे हो जाएंगे। उसके पानी के साथ पानी हो जाएंगे। उसकी लहरों के साथ लहर बन जाएंगे। उसकी अनंत गहराई के साथ अनंत गहराई हो जाएंगे। एक हो जाएंगे उसके साथ तभी, तभी जानेंगे। उसके पहले जानना नहीं हो सकता। उसके पहले एक्वेनटेंस हो सकता है, नालेज नहीं; उसके पहले परिचय हो सकता है, ज्ञान नहीं। तट के किनारे खड़े होकर परिचय हो सकते हैं। ज्ञान तो डूबकर होता है। इस डूबने की आकांक्षा इस सूत्र में है।
आज के लिए इतना ही। अब हम सागर में डूबने की तैयारी करें।
दो-तीन बातें आपसे कह दूं, दो-तीन बातें ख्याल में ले लें। एक तो कोई
भी व्यक्ति देखने के लिए भीतर न रहे। अपनी ईमानदारी से चुपचाप बाहर हो जाएं। देखने वाले बिल्कुल भीतर न रहें।
दूसरी बात, नीचे जो मित्र हैं, वे सब खड़े रहेंगे। तो जिन्हें तीव्रता
से करना है, वे नीचे रहेंगे। जिनको बैठकर करना है, वे ऊपर आ जाएंगे।

ईशावास्य उपनिषद
दसवां प्रवचन

वह ब्रह्म है

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते।। 16।।

जो असंभूति और कार्य-ब्रह्म--इन दोनों को साथ-साथ जानता है; वह कार्य-ब्रह्म की उपासना से मृत्यु को पार करके असंभूति के द्वारा अमरत्व प्राप्त कर लेता है।। 16।।

एक वर्तुल खींचें हम, एक सर्किल बनाएं तो बिना केंद्र के नहीं बना सकेंगे। केंद्र के चारों ओर परिधि को खींचेंगे। केंद्र से परिधि जितनी दूर होती जाएगी उतनी बड़ी होती चली जाएगी। अगर परिधि पर हम दो बिंदुओं को लें तो उनमें फासला होगा। अगर दोनों बिंदुओं से दो रेखाएं खींचें, जो केंद्र को जोड़ती हों, तो जैसे-जैसे केंद्र की तरफ बढ़ेंगे, वैसे-वैसे फासला कम होता चला जाएगा। ठीक केंद्र पर आकर फासला समाप्त हो जाएगा। परिधि पर कितना ही फासला रहा हो दो बिंदुओं के बीच में, खींची गई रेखाएं वहां से केंद्र की ओर क्रमशः निकट आती चली जाएंगी। और केंद्र पर आकर बिल्कुल ही दूरी समाप्त हो जाएगी। केंद्र पर एक हो जाएंगी। अगर परिधि की ओर उन रेखाओं को और आगे बढ़ाते चले जाएं, तो जितनी बड़ी परिधि होती चली जाएगी उतना ही दोनों रेखाओं के बीच का फासला बड़ा होता चला जाएगा। ज्यामिति के इस उदाहरण से दो-तीन बातें इस सूत्र को समझाने के लिए आपसे कहना चाहता हूं।
पहली बात तो यह कि जिसे असंभूति ब्रह्म कहा है, वह केंद्र ब्रह्म है। जहां से सारे जीवन का विस्तार निकलता है। जहां से जीवन की परिधि फैलती चली जाती है, फैलती चली जाती है। अभी विगत पंद्रह वर्षों की गहन खोज ने विज्ञान को एक नई धारणा दी है--एक्सपैंडिंग युनिवर्स की, फैलते हुए विश्व की। सदा से ऐसा समझा जाता था कि विश्व जैसा है, वैसा है। नया विज्ञान कहता है, विश्व उतना ही नहीं है जितना है, रोज फैल रहा है, जैसे कि कोई गुब्बारे में हवा भरता चला जाए। गुब्बारे में कोई हवा भरता चला जाए और गुब्बारा बड़ा होता चला जाए। ऐसा यह जो विस्तार है जगत का, यह उतना ही नहीं है जितना कल था। चौबीस घंटे में यह करोड़ों-अरबों मील बड़ा हो गया है। यह फैल रहा है। ये जो तारे रात हमें दिखाई पड़ते हैं, ये एक-दूसरे से प्रतिपल दूर जा रहे हैं। यह बड़े मजे की बात है कि एक्सपैंडिंग युनिवर्स, फैलता हुआ विश्व, इसके
दो अर्थ हुए--कि एक क्षण ऐसा भी रहा होगा, जब यह विश्व इतना सिकुड़ा रहा होगा कि शून्य केंद्र पर रहा होगा। पीछे लौटें। समय में जितने पीछे लौटेंगे, विश्व छोटा होता जाएगा, सिकुड़ता जाएगा। एक क्षण ऐसा जरूर रहा होगा, जब यह सारा विश्व बिंदु पर सिकुड़ा रहा होगा। फिर फैलता चला गया। आज भी फैल रहा है। परिधि बड़ी होती चली जाती है रोज। वैज्ञानिक कहते हैं, हम कुछ कह नहीं सकते कि यह कब तक बड़ी हो सकती है। यह अंतहीन विस्तार है। यह बड़ी होती ही चली जाएगी।
एक दूसरी बात भी ख्याल में ले लेनी जरूरी है कि विज्ञान ने यह शब्द अभी उपयोग करना शुरू किया है, एक्सपैंडिंग युनिवर्स। लेकिन उपनिषद जिसे ब्रह्म कहते हैं, ब्रह्म का मतलब होता है, दि एक्सपैंडिंग। ब्रह्म शब्द का ही मतलब वह होता है। ब्रह्म का मतलब परमात्मा नहीं होता। ब्रह्म का अर्थ होता है, फैलता हुआ। ब्रह्म का अर्थ होता है, जो फैलता ही चला जाता है। ब्रह्म और विस्तार एक ही मूल धातु से निर्मित होते हैं, एक ही शब्द के रूप हैं। ब्रह्म का मतलब है, जो सदा विस्तीर्ण होता चला जाता है। विस्तीर्ण है, ऐसा नहीं; स्थिति में विस्तीर्ण है, ऐसा नहीं--प्रक्रिया में विस्तीर्ण है। जो होता ही चला जाता है, कांस्टेंटली एक्सपैंडिंग। ब्रह्म का मतलब होता है, निरंतर विस्तीर्ण होता हुआ जो है।
अब ब्रह्म के दो अर्थ हुए, वैज्ञानिक अर्थों में भी। एक तो ब्रह्म का
वह रूप हुआ, जिसको असंभूति कहता है उपनिषद का ऋषि। असंभूति ब्रह्म का अर्थ

है, शून्य ब्रह्म। जब वह नहीं फैला था, उस क्षण की हम कल्पना करें, जब फैलाव का बिल्कुल प्राथमिक क्षण, जब बीज टूटा नहीं था। बीज के टूटने के बाद तो अंकुर फैलता ही चला जाएगा--वृक्ष होगा। जरा छोटे से बीज से इतना बड़ा वृक्ष होगा कि हजारों बैलगाड़ियां उसके नीचे विश्राम कर सकेंगी। और फिर उस वृक्ष में अनंत बीज लगेंगे। और अनंत बीज में से एक-एक बीज फिर इतना ही बड़ा वृक्ष हो जाएगा। और फिर एक-एक वृक्ष में अनंत बीज लग जाएंगे। और अनंत बीजों में से एक-एक बीज में फिर इतने ही वृक्ष और फिर इतने ही अनंत बीज... ! एक छोटा सा बीज भी फैलकर अनंत बीज होता चला जा रहा है।
असंभूत ब्रह्म का अर्थ हैः बीजरूप ब्रह्म, बिंदुरूप ब्रह्म। कल्पना
ही कर सकते हैं हम, क्योंकि बिंदु की कल्पना ही होती है। अगर युक्लिड से पूछेंगे, जो कि सबसे बड़ा जानकार है, तो वह कहेगा, बिंदु हम उसे कहते हैं जिसमें न कोई चौड़ाई है, न कोई लंबाई। ऐसा बिंदु आपने देखा नहीं होगा। डेफिनीशन यही है, परिभाषा यही है बिंदु की, जिसमें लंबाई और चौड़ाई न हो। क्योंकि अगर लंबाई और चौड़ाई है तो वह बिंदु नहीं रहा। वह तो दूसरी आकृति हो गई। फैलाव शुरू हो गया। जिसमें लंबाई और चौड़ाई आ गई, उसमें फैलाव आ गया।
बिंदु तो वह है, जो अभी फैला नहीं, फैलने को है। इसलिए युक्लिड कहता है
कि बिंदु की सिर्फ व्याख्या हो सकती है, बिंदु को खींचा नहीं जा सकता।
छोटे से छोटे बिंदु को भी जब आप पेंसिल की नोक से कागज पर रखते हैं, तो उसमें लंबाई-चौड़ाई आ गई। बिना लंबाई-चौड़ाई के कागज पर बिंदु बनेगा नहीं। तो जो बिंदु दिखाई पड़ता है, वह तो विस्तार हो गया। जो बिंदु दिखाई नहीं पड़ता, सिर्फ परिभाषा में है, वही बिंदु है।
असंभूत ब्रह्म का अर्थ है--युक्लिड जिसे बिंदु कहता है, वही असंभूत है--जिसमें अभी होना शुरू नहीं हुआ। जिसमें अभी भूत प्रकट नहीं हुआ-- असंभूत। अभी एक्झिस्टेंस आया नहीं, पोटेंशियल है, अभी छिपा है। अभी प्रगट होगा, बस होने को है, लेकिन अभी बिंदु है, व्याख्या का बिंदु है। इस असंभूत ब्रह्म की एक स्थिति हुई।
लेकिन इसे हम नहीं जानते। हम तो संभूत ब्रह्म को जानते हैं, जो हो गया। हम तो वृक्षरूप ब्रह्म को जानते हैं, जो हो गया। और हो ही नहीं गया, होता ही चला जा रहा है। फैलता ही चला जा रहा है।
हमारा विश्व रोज बड़ा हो रहा है--प्रतिपल। रोज कहना बहुत ज्यादा है, क्योंकि रोज तो बहुत बड़ा हो जाता है। प्रतिपल बड़ा हो रहा है। सूर्य की प्रकाश की किरणों की जो गति है, उसी गति से तारे एक-दूसरे से दूर हट रहे हैं, केंद्र से दूर हट रहे हैं। सूर्य की किरणों की गति है प्रति सेकेंड एक लाख छियासी हजार मील। प्रति सेकेंड! एक मिनट में साठ गुना। एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकेंड! साठ सेकेंड में, एक मिनट में, एक लाख छियासी हजार मील में साठ का गुणा कर दें। फिर एक घंटे में उसमें भी साठ का गुणा कर दें। फिर चौबीस घंटे में उसमें चौबीस का गुणा कर दें। इतनी ही गति से परिधि केंद्र से दूर जा रही है। अनंत काल से इस तरह दूर जा रही है। वैज्ञानिक भी तय नहीं कर पाते कि समय के उस क्षण को हम कैसे तय करें, जब यह शुरू हुई होगी यात्रा। जब पहला कदम उठाया होगा बीज ने वृक्ष होने का। और हम यह भी नहीं कह सकते कि क्या होगी अंतिम यात्रा।
विज्ञान बड़ी कठिनाई में पड़ गया है। क्योंकि एक्सपैंडिंग युनिवर्स कन्सीवेबल नहीं है कि कहां जाकर रुकेगा और क्यों रुकेगा। रुकने का कोई कारण क्या है। क्योंकि रुकने के लिए जरूरत है कि कोई और चीज बाधा बन जाए। एक पत्थर को मैं फेंकता हूं हाथ से। अगर इस पत्थर को अब कोई बाधा न मिले तो यह कहीं भी नहीं रुकेगा। तो बाधा मिल जाती है। एक वृक्ष से टकरा जाता है। वृक्ष से न टकराए तो जमीन की कशिश उसे खींच रही है पूरे वक्त। जैसे ही मेरे हाथ की फेंकी गई ताकत कम पड़ेगी और जमीन की ताकत ज्यादा होगी, वह नीचे गिर जाएगा। लेकिन अगर जमीन में कोई कशिश न हो, रास्ते में कोई व्यवधान न आए और मैं एक पत्थर फेंक दूं, एक छोटा सा बच्चा भी एक पत्थर फेंक दे, तो वह कहीं भी नहीं रुकेगा। क्योंकि रुकने का कोई कारण होना चाहिए, कोई बाधा आनी चाहिए, तब रुकेगा।
यह जो हमारा विश्व फैलता चला जा रहा है, यह जो संभूत ब्रह्म है, यह कहां रुकेगा? इसको कोई बाधा आनी चाहिए। लेकिन बाधा आएगी कहां से, क्योंकि

सभी कुछ इसके भीतर है, इसके बाहर कुछ भी नहीं है। अगर बाहर कुछ है तो उसका मतलब है कि वह भी इसका हिस्सा हो गया, संभूत ब्रह्म का हिस्सा हो गया। इसलिए बाधा तो कहीं आएगी नहीं, यह रुकेगा कहां? यह रुकेगा कैसे? यह बढ़ता ही चला जाएगा?
इसलिए आइंस्टीन और प्लांक, जो इस पर काफी काम किए, इस एक्सपैंडिंग विश्व के ऊपर बड़ी उलझन में पड़ गए। उनको आखिर यहीं इसको रहस्य की तरह छोड़ देना पड़ा। रुकने का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता, और न रुके यह इनकन्सीवेबल मालूम पड़ता है कि फैलता ही चला जाए। अगर यह इसी तरह फैलता चला गया तो एक दिन तारे इतने दूर हो जाएंगे कि एक तारे से दूसरा तारा दिखाई नहीं पड़ेगा। लेकिन उपनिषद कुछ और ढंग से सोचते हैं, और उस और ढंग को समझ लेना चाहिए। एक दिन, आज नहीं कल, वैज्ञानिक को उस ढंग से सोचना शुरू करना पड़ेगा। लेकिन अब तक पश्चिम के विज्ञान को वह धारणा नहीं है। न होने का कारण है। न होने का कारण है कि पश्चिम का पूरा विज्ञान ग्रीक फिलासफी से, यूनानी दर्शन से विकसित हुआ। और यूनानी दर्शन की जो मूल मान्यताएं हैं, उन पर खड़ा है। यूनानी दर्शन की एक मूल मान्यता यह है कि समय जो है, वह सीधी रेखा में गति करता है। इससे पश्चिम का विज्ञान बड़ी मुश्किल में पड़ा है। भारतीय दर्शन की धारणा बड़ी भिन्न है। भारतीय दर्शन की धारणा है कि सभी गति वर्तुलाकार है, सर्कुलर है। कोई गति सीधी रेखा में नहीं होती।
इसको समझें। बच्चा पैदा हुआ। तो साधारणतः अगर हम यूनानी चिंतक से पूछें, तो बच्चे और बूढ़े के बीच में सीधी रेखा खींची जा सकती है। भारतीय दार्शनिक कहेगा, नहीं। बच्चे और बूढ़े के बीच एक वर्तुल बनाया जा सकता है। क्योंकि ब.ूढा वहीं पहुंच जाता है मरते वक्त, जहां से बच्चे ने शुरू किया था। सर्किल। इसलिए बूढ़े अगर बच्चों जैसा व्यवहार करने लगते हैं, तो बहुत हैरानी की बात नहीं है। सीधी रेखा नहीं है। बचपन और बुढ़ापे के बीच वर्तुल है, एक गोल घेरा है। जवानी वर्तुल का बीच का हिस्सा है, उठाव है। फिर जवानी के बाद वापस लौटनी शुरू हो गई यात्रा।
ऐसा समझें, जैसे कि ऋतुएं घूमती हैं। भारतीय धारणा समय की ऋतुओं के घूमने जैसी है, मंडलाकार। फिर वर्षा आती है, फिर ग्रीष्म आता है, फिर सर्दी आती है, फिर वर्तुल। सीधा नहीं है, एक वर्तुल है। सुबह होती है, सांझ होती है। फिर सुबह आती है, फिर सांझ होती है। एक वर्तुल है।
पूर्वी मनीषी की धारणा ऐसी है कि समस्त गतियां वर्तुलाकार हैं। पृथ्वी भी गोल घूमती है, ऋतुएं भी गोल घूमती हैं, सूर्य भी गोल घूमता है, चांद-तारे भी गोल घूमते हैं। गति मात्र वर्तुल है। कोई गति सीधी नहीं है। जीवन भी गोल घूमता है।
यह जो एक्सपैंडिंग युनिवर्स है, यह वैसे ही है, जैसे बच्चा जवान हो रहा है। लेकिन अगर बच्चा जवान ही होता जाए तो बड़ी मुश्किल पड़ेगी। कहां होगा रुकाव? लेकिन जब तक बच्चा जवान हो रहा है, थोड़ी ही देर में वर्तुल डूबना शुरू हो जाएगा और जवान बूढ़ा होने लगेगा। अगर जन्म फैलता ही चला जाए और मृत्यु के बिंदु पर वापस लौट न आए, तो कहां रुकेगा? इसलिए भारत का जो चिंतन है, वह कहता है कि यह जो फैलता हुआ ब्रह्म है, यह फैलकर बच्चा होगा, जवान होगा, बूढ़ा होगा, वापस असंभूत ब्रह्म में गिर जाएगा। वापस शून्य हो जाएगा। जहां से आया है, वहीं वापस लौट जाएगा। बड़ा लंबा वर्तुल होगा इसका। हमारे जीवन का वर्तुल सत्तर साल का है। लेकिन छोटे वर्तुल के जीवन भी हैं। एक पतिंगा सुबह पैदा होता है, सांझ वर्तुल पूरा हो जाता है। इससे भी छोटे वर्तुल हैं। क्षणभर जीने वाले प्राणी भी हैं। क्षण के शुरू में पैदा होते हैं, क्षण के बाद में डूब जाते हैं। और आप यह मत सोचना कि जो क्षणभर जीता है, वह सत्तर साल वाले से कम जीता है। आप यह मत सोचना। क्योंकि क्षणभर के वर्तुल में सत्तर साल में जो वर्तुल आप पूरा करते हैं, वह पूरा हो जाता है। बचपन आता है, जवानी आती है, प्रेम होता है, बच्चे पैदा हो जाते हैं, बुढ़ापा आ जाता है, मौत हो जाती है। क्षणभर के वर्तुल में भी इंटेंसली सत्तर साल पूरे हो जाते हैं।
सत्तर साल कोई बड़ा वर्तुल नहीं है। पृथ्वी हमारी, वैज्ञानिक कहते हैं, कोई चार अरब वर्ष पहले पैदा हुई। हमारे पास कोई पता लगाने का उपाय नहीं है कि पृथ्वी अब किस अवस्था में होगी। लेकिन कई हिसाब से लगता है कि

बूढ़ी होती है। भोजन कम पड़ता जाता है, आदमी ज्यादा होते चले जाते हैं। मौत निकट मालूम होती है, सब चीजें चुकती जाती हैं। सब चीजें चुकती जाती हैं, सब चीजें चुकती जाती हैं। कोयला चुकता जाता है, पेट्रोल चुकता जाता है, भोजन चुकता जाता है। जमीन के सब रासायनिक द्रव्य चुकते जाते हैं। जमीन बूढ़ी होती है। जल्दी ही मरेगी। जल्दी का मतलब हमारे हिसाब से नहीं, क्योंकि जिसको चार अरब वर्ष लगे हों बूढ़ा होने में, उसको मरने में भी अरब वर्ष लग जाएं, आश्चर्य नहीं। लेकिन जमीन... लेकिन हमें जमीन का पता नहीं चलता। क्योंकि हमें पता नहीं है।
आपके शरीर में, एक-एक शरीर में अंदाजन सात करोड़ जीवाणु हैं। उन जीवाणुओं को आपका कोई पता नहीं कि आप भी हैं। आपके शरीर में सात करोड़ जीवाणु हैं। एक आदमी के शरीर में सात करोड़ जीव-जीवन हैं। उनको कोई पता नहीं कि आप भी हैं। वे पैदा होंगे, जवान होंगे, बूढ़े होंगे, बच्चे छोड़ जाएंगे, मर जाएंगे, उनकी कब्र बन जाएगी आपके भीतर। आपको उनका पता नहीं चलेगा। उनको तो आपका बिल्कुल पता नहीं है। आप सत्तर साल जीएंगे, इस बीच आपके भीतर करोड़ों जीवन पैदा होंगे और विदा हो जाएंगे।
ठीक ऐसे ही पृथ्वी को हमारा कोई पता नहीं है, हमें पृथ्वी के जीवन का कोई पता नहीं है। अरबों वर्ष का उसका जीवन-वर्तुल है। पृथ्वी का चार-पांच अरब वर्ष का जीवन-वर्तुल है। पूरे ब्रह्म का, ब्रह्मांड का, संभूत ब्रह्म का, कितने वर्षों का है, कहना कठिन है। लेकिन एक बात तय है कि इस जगत में नियम का कोई भी उल्लंघन नहीं है। देर-अबेर नियम पूरा होता है।
इसलिए उपनिषद के ऋषि कहते हैं, इस सूत्र में कहा है, दो हिस्से कर लें ब्रह्म के--संभूत, जो है; असंभूत, जिससे हुआ है और जिसमें लीन हो जाएगा। बिंदु ब्रह्म और विस्तीर्ण ब्रह्म। विस्तीर्ण ब्रह्म को जो जान लेता है, वह मृत्यु को पार करता है। बिंदु ब्रह्म को जो जान लेता है, वह अमृत को उपलब्ध होता है। क्योंकि विस्तीर्ण ब्रह्म जो है, वह मृत्यु का घेरा है। मृत्यु घटेगी ही। वर्तुल को पूरा होना पड़ेगा। जन्म हुआ है, मृत्यु होगी। क्यों ऋषि कहता है कि वह मृत्यु को जीत लेता है?
मृत्यु को जीतने का क्या अर्थ है? क्या ऋषि मरते नहीं? सब ऋषि मर जाते हैं। सब ज्ञानी मर जाते हैं। निश्चित ही, मृत्यु को जीतने का अर्थ न मरना नहीं है। जिस ऋषि ने यह गाया है कि संभूत ब्रह्म को जो जान लेता है, वह मृत्यु को जीत लेता है, वह भी अब नहीं है, मर चुका है। तो या तो उसने बिना जाने कह दिया और गलत कह दिया। और अगर ठीक कहा, तो मरना नहीं था उसे।
नहीं, लेकिन मृत्यु को जीत लेने का अर्थ और है। मृत्यु को जीतने का अर्थ है कि जो व्यक्ति यह जान लेता है, गहरे में अनुभव कर लेता है कि जन्म के साथ मृत्यु जुड़ी ही है, अनिवार्य है; जो यह जान लेता है कि जन्म पहली शुरुआत है वर्तुल का, मृत्यु अंत है; जो इस बात को इतनी प्रगाढ़ता से जान लेता है कि मृत्यु अनिवार्यता है, नियति है, वह मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। अनिवार्य से क्या भय? जिससे निवारण न हो सकता है, उसका भय कैसा? जो होगा ही, जो होना ही है, उसकी चिंता भी क्या? चिंता तो उसकी होती है, जिसमें परिवर्तन हो सके। चिंता सिर्फ उसी की होती है, जिसमें परिवर्तन हो सके।
इसलिए मजे की बात है कि पश्चिम में जितनी मृत्यु की चिंता है, उतनी पूरब में कभी नहीं थी। जब कि पश्चिम को ऐसा लगता है कि मृत्यु को जीतने के उपाय उसके पास हैं और पूरब को कभी नहीं लगा कि ऐसे जीतने के कोई उपाय हैं। कारण है। अगर ऐसा लगे कि मृत्यु को बदला जा सकता है, तो चिंता पैदा होगी। जो भी चीज बदली जा सकती है, चिंता आएगी। जो नहीं बदली जा सकती, तो चिंता का कोई उपाय नहीं। चिंता करिएगा क्या? चिंता किसलिए? अगर मृत्यु सुनिश्चित है, अगर जन्म के साथ ही तय हो गई, तो अब चिंता का क्या कारण?
युद्ध के मैदान पर सिपाही जाते हैं, तो जब तक युद्ध के मैदान पर नहीं पहुंचते, तब तक भयभीत और पीड़ित और चिंतित होते हैं। जैसे ही युद्ध के मैदान पर पहुंचते हैं, दिन दो दिन के भीतर सब चिंता मिट जाती है। कायर से कायर सैनिक भी युद्ध के मैदान पर पहुंचकर बहादुर हो जाता है। क्या कारण होगा? मनोवैज्ञानिक बहुत चिंतन करते रहे कि बात क्या है? यह आदमी इतना भयभीत था कि रात इसे नींद नहीं आती थी, डर था कि इसको कल युद्ध के मैदान पर

जाना है। पागल हुआ जाता था, कंपता था। यही आदमी युद्ध के मैदान पर आकर लगता था कि भाग खड़ा होगा। यही आदमी युद्ध के मैदान पर आकर मजे से सोता है रात को। बात क्या हो गई?
जब तक आया नहीं था युद्ध के मैदान पर, तब तक ऐसा लगता था कि बचाव हो सकता है। कोई रास्ता निकल सकता है। परिवर्तन हो सकता है। कोई और भेजा जा सकता है, मैं रोका जा सकता हूं। लेकिन जब युद्ध के मैदान पर ही आ गया और बम गिरने लगे सिर के ऊपर, तो बात समाप्त हो गई। अब कोई उपाय न रहा। जब उपाय न रहा, तो चिंता न रही। जब परिवर्तन की संभावना न रही, तो परिवर्तन की आकांक्षा न रही। परिवर्तन की आकांक्षा चिंता पैदा कर जाती है।
जब ऋषि कहता है कि संभूत ब्रह्म को जानकर ज्ञानी मृत्यु को जीत लेता है, तो उसका मतलब यह है कि फिर मृत्यु उसे भयभीत नहीं करती। मृत्यु बिल्कुल उसके बगल में भी आकर खड़ी हो जाए, तो भयभीत नहीं करती।
पाणिनि के संबंध में एक छोटी सी मीठी कथा है। पाणिनि उन ऋषियों में से एक, जिसने इस सूत्र को पूरा किया है। अपने विद्यार्थियों को बिठाकर पाणिनि व्याकरण पढ़ा रहा है। जंगल है, एक सिंह दहाड़ता हुआ आ जाता है। पाणिनि कहता है, सुनो सिंह की दहाड़ और इस दहाड़ का क्या व्याकरण-रूप होगा, वह समझो। सिंह दहाड़ रहा है बगल में खड़े होकर, और किसी को भी खा जाए! बच्चे कंप रहे हैं। और पाणिनि सिंह की दहाड़ की क्या व्याकरण-व्यवस्था होगी, वह समझा रहा है। कहते हैं, पाणिनि के ऊपर सिंह ने हमला कर दिया, तब भी वह व्याकरण समझा रहा है। पाणिनि को सिंह खा गया, तब भी वह--सिंह मनुष्य को खाता है, तो इसका भाषागत रूप क्या है, इसकी व्याकरण क्या है--वह समझा रहा है।
नहीं, पाणिनि भी भागकर बचाव तो कर ही सकता था--ऐसा हमें लगता है, कि कुछ उपाय किया जा सकता था। लेकिन पाणिनि जैसे लोगों की समझ यह है कि आज मरे कि कल, मरना जब सुनिश्चित है, तो आज और कल से क्या फर्क पड़ता है! समय के व्यवधान से कोई फर्क पड़ता है? जब मृत्यु होनी ही है, तो आज होगी कि कल होगी कि परसों होगी, उसकी स्वीकृति है। इस स्वीकृति में विजय है। दिस एक्सेप्टबिलिटी, यह स्वीकार कि हम जन्म के साथ ही मृत्यु को स्वीकार कर लिए हैं। फैलाव के साथ ही सिकुड़ने को स्वीकार कर लिए हैं। फैले हैं, उसी दिन जाना कि सिकुड़ जाएंगे। जन्मे हैं, उसी दिन जाना कि विदा हो जाएंगे। प्रगट हुए हैं, उसी दिन जाना कि अप्रगट हो जाएंगे। वर्तुल पूरा होकर रहेगा। ऐसी स्वीकृति मृत्यु से मुक्ति है। फिर मरना कैसा? मरने वाला तो पार हो गया। उसे तो कोई जन्म का मोह न रहा और मृत्यु का कोई भय न रहा। वह तो पार हो गया।
ध्यान रहे, हमारे जीवन में मृत्यु और जन्म दो छोर हैं। जीवन के बाहर हैं। जन्म हमारा जीवन के बाहर है, क्योंकि जन्म के पहले हम नहीं थे। मृत्यु हमारे जीवन के बाहर है, क्योंकि मृत्यु के बाद हम नहीं होंगे। ये बाउंड्री लाइंस हैं, सीमांत हैं।
लेकिन जो जानता है, उसके लिए ये सीमांत नहीं हैं, मृत्यु और जन्म जीवन
के बीच में घटी दो घटनाएं हैं। क्योंकि वह कहता है कि जन्म किसका? मैं पहले था, तभी तो मैं जन्म सका, नहीं तो मैं जन्मता कैसे? मैं अप्रगट था, तभी तो मैं प्रगट हो सका, अन्यथा मैं प्रगट कैसे होता? बीज में अगर वृक्ष नहीं छिपा था, तो कोई उपाय नहीं था कि वह पैदा हो जाए। और मैं मर सकूंगा तभी, क्योंकि मैं हूं, नहीं तो मृत्यु किसकी होगी? जन्म के पहले मैं था, तो जन्म हो सका। मृत्यु के बाद भी मैं रहूंगा, तो ही मृत्यु हो सकती है, नहीं तो मृत्यु होगी किसकी? जो जानता है, उसके लिए मृत्यु अंत नहीं है, जीवन के बीच घटी एक घटना है। जन्म भी जीवन के बीच घटी एक घटना है, प्रारंभ नहीं है। जीवन वर्तुल के बाहर है। लेकिन वह जीवन असंभूत है। वह अप्रगट है, अनभिव्यक्त है, अनएक्सप्रेस्ड, अनमेनीफेस्ट है। वह असंभूत जीवन संभूत बनता है जन्म से, फिर असंभूत बन जाता है मृत्यु से। जो जान लेता है संभूत जगत की इस व्यवस्था को--ध्यान रहे, इस व्यवस्था को जो जान लेता है--वह फिर व्यवस्था से पीड़ित नहीं होता।
एक मकान के भीतर आप हैं। आप जानते हैं कि यह दीवार है और यह दरवाजा है।
तो फिर आप दीवार से सिर नहीं टकराते। फिर आप दीवार से निकलने की कोशिश

नहीं करते। निकलना होता है, दरवाजे से निकल जाते हैं। लेकिन फिर इसके लिए बैठकर रोते नहीं कि दीवार दरवाजा क्यों नहीं है। लेकिन जिसे दरवाजे का पता नहीं है, वह बेचारा दीवार से सिर टकराएगा और बहुत बार चिल्लाएगा कि दीवार दरवाजा क्यों नहीं है! दरवाजे का पता न हो तो। दरवाजे का पता हो, तो दीवार दीवार है, दरवाजा दरवाजा है। दीवार से निकलने की आप कोशिश नहीं करते, दरवाजे से निकलने की कोशिश करते हैं।
व्यवस्था को पूरा जो जान लेता है, वह व्यवस्था से मुक्त हो जाता है।
जो व्यवस्था को अधूरा जानता है, वह संघर्ष में पड़ा रह जाता है। जानते हुए कि जन्म है, तो मृत्यु है। यह जानना इतना-इतना साफ है और इतना चरम है, इतना अल्टीमेट है, इसमें अब फर्क का कोई उपाय नहीं। इसी का नाम नियति है--संभूत की नियति, संभूत के बीच भाग्य।
लेकिन भाग्य से हमने बड़े गलत अर्थ लिए हैं। असल में हम गलत आदमी हैं, इसलिए हम सब चीजों के गलत अर्थ ले लेते हैं। अर्थ सही और गलत हो जाते हैं, गलत और सही आदमियों के साथ।
भाग्य का अर्थ अगर निराशा बन जाए, तो आप समझे नहीं। हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाए आदमी भाग्य को समझकर, तो आप समझे नहीं। भाग्य का अर्थ परम आशावान है। बड़ी मुश्किल मालूम पड़ेगी बात। भाग्य का मतलब ही यह है कि अब दुख का कोई कारण ही न रहा। अब तो निराशा की कोई जगह ही न रही। मृत्यु है, और है। इसमें दुख कहां है? इसमें पीड़ा कहां है? दुख और पीड़ा तो वहीं थे, जब स्वीकार न था। तो निराशा कहां है?
बुद्ध कहते हैं कि जो बना है, वह बिखरेगा। जो मिला है, वह छूटेगा। मिलन
के क्षण में जानना कि विदा मौजूद हो गई है। हम उदास हो जाएंगे। प्रेमी से मिले, उसी क्षण ख्याल आ गया कि यह तो विदा का क्षण उपस्थित हो गया। अब थोड़ी देर में विदा होगी। हमारा मिलन भी नष्ट हो जाएगा। मिलन में जो थोड़ी-बहुत सुख की भ्रांति पैदा होती है, वह भी गई। क्योंकि विदाई दिखाई पड़ने लगी। जन्म हुआ, बैंड-बाजे बजे, उसी वक्त किसी ने कहा कि मौत निश्चित हो गई। मरेगा यह बच्चा। हम कहेंगे, ऐसे अपशकुन की बातें मत बोलो। इससे बड़ा मन उदास होता है। इससे चित्त को बड़ा धक्का लगता है।
लेकिन बुद्ध जब कहते हैं कि मिलन में विदा उपस्थित हो गई, तो वे मिलन
के सुख को नहीं काट रहे हैं, केवल विदा के दुख को काट रहे हैं। इसमें फर्क समझ लेना। नासमझ मिलन के सुख को काट डालेगा, समझदार विदा के दुख को काट डालेगा। क्योंकि जब मिलन में ही विदा उपस्थित है, तो विदा का दुख कैसा? वह तो मिलन चाहा था, उसी दिन विदा भी चाह ली थी। जब जन्म में ही मौत उपस्थित है, तो मृत्यु का दुख कैसा? वह तो जिस दिन जन्म चाहा था, उसी दिन मौत भी मिल गई थी। नासमझ जन्म के सुख को काट देगा, समझदार मृत्यु के दुख को काट देगा। संभूत ब्रह्म को, विस्तीर्ण ब्रह्म को, प्रगट ब्रह्म को जानकर व्यक्ति मृत्यु के पार हो जाता है। मृत्यु के, दुख के, पीड़ा के, संताप के, सबके पार हो जाता है। ध्यान रहे, दुख, पीड़ा, संताप, चिंता, सब मृत्यु की छायाएं हैं--शैडोज आफ डेथ। जो व्यक्ति मृत्यु से मुक्त हो गया, उसके लिए न कोई दुख है, न कोई चिंता है, न कोई पीड़ा है।
कभी आपने ठीक से ख्याल नहीं किया होगा कि जब भी आप चिंतित होते हैं, तो किसी न किसी कोने में मौत खड़ी होती है। उसी वजह से चिंतित होते हैं। एक आदमी के घर में आग लग गई, वह चिंतित होता है। एक आदमी का दिवाला निकल गया, वह चिंतित है। क्यों? क्योंकि दिवाला निकलने से जीवन अब कष्ट में पड़ेगा और मौत आसान हो जाएगी। मकान जल जाने से अब जीवन असुरक्षित हो जाएगा और मौत सुगमता पाएगी। अंधेरे में अकेला खड़ा आदमी चिंतित होता है, क्योंकि कुछ दिखाई नहीं पड़ता और मौत अगर आ जाए तो अभी दिखाई भी नहीं पड़ेगी।
जहां-जहां आप चिंतित होते हों, फौरन पहचानना, आसपास कहीं मौत को खड़ा हुआ पाएंगे। मौत की छाया है चिंता। जहां-जहां दुख और पीड़ा मन को पकड़ते हों, फौरन समझ लेना कि कहीं संभूत ब्रह्म के संबंध में नासमझी हो रही है। अनिवार्य को आप निवार्य मान रहे हैं। बस, वहीं से दुख शुरू हो रहा है। जो होना ही है, उसके बाबत भी आप आशा किए जा रहे हैं कि शायद न हो। वहीं से चिंता शुरू होती है। वहीं संताप और एंग्विश पैदा होता है।

नहीं, जो होना ही है, अगर वही हो रहा है, वही होता है, अन्यथा का कोई उपाय नहीं है--तब इस स्वीकृति के साथ, इस तथाता के साथ, संभूत ब्रह्म की इस व्यवस्था की स्वीकृति के साथ, तथाता के साथ, भीतर सब शांत हो जाता है। अशांति का उपाय नहीं रह जाता।
इसलिए कहा है ऋषि ने, संभूत ब्रह्म को जानकर मृत्यु से मुक्ति हो जाती है।
लेकिन यह आधी बात है, यह आधा सूत्र है। अभी एक और जानने को छूट गया है,
जो और गहन है। हम तो इसको ही नहीं जान पाते, इसी से उलझकर परेशान हो जाते हैं। अज्ञान में नाहक दीवारों से सिर फोड़ते रहते हैं। जहां दरवाजा नहीं है, वहां नाहक टकराते रहते हैं। ताश के घर बनाते रहते हैं, पानी पर रेखाएं खींचते रहते हैं और उनके मिटने को देखकर रोते रहते हैं। जिस क्षण पानी पर रेखा खींचें, उसी दिन जान लेना, उसी क्षण जान लेना कि पानी पर खींची गई रेखा खींचते ही मिटना शुरू हो जाती है। इधर आपने खींची नहीं, उधर वह मिटने लगी। पानी पर रेखा खींचिएगा और स्थायी करने की कोशिश करिएगा, तो इसमें कसूर पानी का है कि रेखा का कि आपका? इसमें दोष किसको दीजिए, पानी को, रेखा को! जो आदमी पानी को दोष देगा, रेखा को दोष देगा, वह दुखी होगा। जो समझेगा अपनी नासमझी, हंसेगा। जान लेगा कि पानी पर खींची गई रेखा मिटती है। मिटनी ही चाहिए। खिंच जाए तो ही झंझट है।
संभूत ब्रह्म को ही हम नहीं समझ पाते, असंभूत को तो कैसे समझ पाएंगे। प्रगट जो है बिल्कुल, सामने जो खड़ा है... मौत से ज्यादा प्रगट कोई चीज है? धोखा दिए जाते हैं अपने को, डिसेप्शन दिए जाते हैं। कोई दूसरा मरता है, तो बेचारा मर गया। ख्याल ही नहीं आता कि अपने मरने की खबर आई है।
एक पंक्ति मुझे याद आती है एक आंग्ल कवि की। कोई मर जाता है गांव में
तो चर्च की घंटी बजती है। उस पंक्ति में कहा है--किसी को भेजो मत पूछने कि घंटी किसके लिए बजती है। इट टाल्स फार दी। तुम्हारे लिए ही बजती है। पूछो मत जानने को किसी को कि चर्च की घंटी किसके लिए बजती है। तुम्हारे लिए ही बजती है। बिना पूछे ही जानो कि तुम्हारे लिए ही बजती है।
मौत जैसा प्रगट तत्व ऐसा हम छिपाकर चलते हैं कि अगर कोई मंगल ग्रह का यात्री हमारे बीच उतरे और दो-चार दिन हमारे घर में रहे, तो दो चीजों का उसको पता नहीं चलेगा। दो चीजों का, दोनों जुड़ी हैं। ख्याल में ले लें। उसे पता नहीं चलेगा कि मौत होती है। उसे पता नहीं चलेगा कि सेक्स होता है। दो चीजों का उसको पता नहीं चलेगा। सेक्स को भी हम छिपाए हैं। मौत को भी हम छिपाए हैं। ध्यान रखें, सेक्स जन्म का सूत्र है। वह संभूत ब्रह्म का पहला चरण है। और मौत आखिरी सूत्र है, वह आखिरी चरण है।
मृत्यु के भय की वजह से ही सेक्स का दमन शुरू हुआ। वह पहला सूत्र है। अगर मौत को दबाना है, तो जन्म की प्रक्रिया को भी भुला देना होगा। क्योंकि जन्म के साथ मौत जुड़ी हुई है। इसलिए जन्म हम अंधेरे में छिपा देते हैं। जन्म की प्रक्रिया को पर्दों में डाल देते हैं। और मौत को हम गांव के बाहर निकाल देते हैं। कब्रिस्तान बना देते हैं दूर--जो मौत से बहुत ज्यादा भयभीत है, उसकी वजह से। कब्र पर फूल बो देते हैं कि कोई निकले भी कब्र के पास से भूल-चूक से, तो फूल दिखाई पड़ें, कब्र दिखाई न पड़े। लाश को ले जाते हैं, तो फूलों में ढांक लेते हैं। वह मरा हुआ दिखाई न पड़े, खिला हुआ दिखाई पड़े।
कितने ही फूलों में ढांको, लेकिन जो मर गया, वह मर गया। और कितनी ही खूबसूरत कब्रें बनाओ और कब्रों पर कितने ही मजबूत पत्थर लगाओ और उन पर नाम लिखो, जब कब्र के भीतर जो पड़ा है आज वह न बच सका, तो पत्थरों पर लिखे हुए नाम कितनी देर बचेंगे? और कब्रों को कितना ही गांव के बाहर सरकाओ, मौत गांव में ही घटती रहेगी, कब्रिस्तान में नहीं घटेगी।
इधर हम सेक्स को दबाते हैं, छिपाते हैं, क्योंकि वह जन्म है। उसको भी दबाने और छिपाने के पीछे अचेतन कारण हैं। कारण यही है कि वह पहला सूत्र है। अगर उसको उघाड़कर रखा तो मौत भी उघड़ जाएगी। वह भी बच नहीं सकती ज्यादा देर।
इसलिए बड़े मजे की बात है कि जिन समाजों में सेक्स सप्रेशन समाप्त हुआ है, जिन समाजों में, जहां-जहां समाज ने सेक्स को मुक्त कर दिया, प्रगट कर

दिया, वहां-वहां मौत की चिंता बढ़ गई है। जिन समाजों ने सेक्स को बिल्कुल ही दबा दिया, भुला दिया, जैसे है ही नहीं... ।
मैंने सुना है, यहूदी बच्चा एक दिन अपने घर लौटा है। स्कूल में समझकर आया है कि बच्चों का जन्म कैसे होता है। नए ज्ञान से बहुत आह्लादित है। किसी को बताने को उत्सुक है। घर आकर उसने अपनी मां को पूछा कि मेरा जन्म कैसे हुआ? उसकी मां ने कहा कि परमात्मा ने तुझे भेजा। मेरे पिताजी का जन्म कैसे हुआ? उनको भी परमात्मा ने भेजा। उनके पिताजी का जन्म कैसे हुआ? मां थोड़ी हैरान हुई, उसने कहा कि उनको भी परमात्मा ने भेजा। वह पूछता ही चला गया, और उनके पिता? सात पीढ़ियां आ गईं। मां ने कहा, उत्तर एक ही है। तो उस लड़के ने कहा कि इसका क्या मतलब होता है? ह्वाट ड.ज दिस मीन? सेक्स है.ज नाट एक्झिस्टेड इन फेमिली फार सेवेन जेनरेशंस! सात पीढ़ियों से सेक्स हमारे घर में है ही नहीं! क्योंकि मैं तो स्कूल में पढ़कर आ रहा हूं कि बच्चे ऐसे पैदा होते हैं।
नहीं, बहुत अचेतन भय है सेक्स को दबाने का। वह जन्म का पहला सूत्र है। अगर उसको उघाड़ा और प्रगट किया... । जब तक बच्चों को पता नहीं है कि कैसे पैदा होता है आदमी, तब तक वे यही पूछते चले जाते हैं, कैसे पैदा होता है? जिस दिन पता चल जाएगा, कैसे पैदा होता है, वे पूछेंगे, मरता कैसे है? ध्यान रहे, जिस दिन पता चल गया कि पैदा ऐसे होता है, वे पूछेंगे कि मरता कैसे है? पैदा होने वाले सूत्र को ही छिपाए चले जाओ, वे उसी के आसपास घूमते रहेंगे और पूछते रहेंगे, और कभी मौका नहीं आएगा कि पूछें कि मरता कैसे है? अभी यही पता नहीं चला कि पैदा कैसे होता है, तो मरने का सवाल ही नहीं उठता।
ध्यान रहे, पैदा होने का सूत्र साफ हो तो दूसरा सवाल मौत के सिवाय दूसरा नहीं हो सकता। इसलिए दबा दिया काम को, छिपा दिया। उधर कब्र को, उधर मृत्यु को छिपा दिया। उन दोनों के बीच हम जीते हैं अंधेरे में। निश्चित ही, बहुत भयभीत जीते हैं। न जन्म का पता, न मौत का पता, भय तो होगा ही। संभूत ब्रह्म, जो इतना प्रगट है, इतना साफ है, उसको भी हम झुठलाते हैं।
तो असंभूत, जो अप्रगट है, छिपा है, अनभिव्यक्त है, उसका तो कहना ही क्या। वहां तक तो हम पहुंचेंगे कैसे?
जन्म और मृत्यु को ठीक से जान लें। एक ही चीज के दो छोर हैं। एक ही वर्तुल का प्रारंभ है जन्म, उसी वर्तुल का अंत है मृत्यु। मृत्यु उसी जगह पहुंचकर होती है, जहां से जन्म होता है। मृत्यु की घटना और जन्म की घटना एक ही घटना है। क्या होता है जन्म में? शरीर निर्मित होता है। पुरुष और स्त्री के अणुओं से एक नया कंपोजिट बाडी निर्मित होता है। आधे-आधे तत्व दोनों के पास हैं।
इसीलिए स्त्री-पुरुष का इतना तीव्र आकर्षण है। आधे-आधे हैं, इसलिए इतना आकर्षण है। दोनों के बीच आधा-आधा तत्व है। आधा इधर आधा उधर, इसलिए वे आधे तत्व दोनों खिंचते हैं। पूरा होना चाहते हैं। इसलिए इतनी कशिश है। इतना आकर्षण है। इसलिए सब विधि-विधान, सब नियम, सब सिद्धांत, सब शिक्षकों को छोड़कर बच्चे पैदा होते चले जाते हैं। सब ब्रह्मचर्य की शिक्षाएं देने वाले लोग आते हैं और चले जाते हैं, कोई परिणाम दिखाई नहीं पड़ता। आकर्षण इतना गहरा है कि सब शिक्षाएं ऊपर ही रह जाती हैं। आकर्षण एक ही चीज के आधे- आधे तत्वों का है। जैसे हमने एक चीज को दो टुकड़ों में तोड़ दिया हो और वह वापस मिलना चाहती हो। मिलते ही नया शरीर निर्मित हो जाता है। आधे अणु स्त्री देती है, आधे अणु पुरुष देता है।
जन्म का मतलब है, पुरुष और स्त्री के आधे-आधे अणुओं से मिलकर पूरे शरीर का निर्माण। जैसे ही यह शरीर निर्मित होता है, एक आत्मा उसमें प्रवेश कर जाती है। जिस आत्मा की आकांक्षाएं उस शरीर से पूरी होती हैं, वह आत्मा प्रवेश कर जाती है। यह प्रवेश वैसा ही सहज, स्वचालित है, जैसे कि यहां पानी गिरता है और गड्ढे में प्रवेश कर जाता है। उतना ही नियमित है। अपने अनुकूल गर्भ को आत्मा खोजकर प्रवेश कर जाती है।
मृत्यु में क्या होता है? वे जो आधे-आधे तत्व मिले थे, वापस बिखरने लगते हैं और टूटने लगते हैं। कुछ और नहीं होता। वे जो आधे-आधे अणु मिलकर शरीर कंपोजिट हुआ था, वे फिर टूटने लगते हैं, फिर बिखरने लगते हैं। भीतर से

जोड़ फिर शिथिल होने लगता है। बुढ़ापे का अर्थ है, जोड़ शिथिल हो गया। भीतर की जो कंपोजिट बाडी थी, वह डिकंपोज होने लगी। जो जुड़ा था, वह फिर बिखरने लगा। उसके बिखरने का सूत्र जन्म के दिन ही तय हो गया। ज्योतिषी के ढंग से नहीं, वैज्ञानिक के ढंग से तय हो गया। असल में जब भी दो स्त्री और पुरुष के अणु मिलते हैं, उनके मिलते ही समय... अभी हमारा ज्ञान कम है विज्ञान का, लेकिन बढ़ता जा रहा है। आज नहीं कल, बच्चे के जन्म के साथ ही हम कह सकेंगे कि इसकी बिल्ट इन प्रोसेस कितने दिन चल सकती है। यह सत्तर साल चल सकता है कि अस्सी साल चल सकता है कि सौ साल चल सकता है। ठीक वैसे ही, जैसे हम एक घड़ी को गारंटी देते हैं कि दस साल चल सकती है। क्योंकि इसके कल-पुर्जों की परख कहती है कि यह दस साल तक के संघर्ष को झेल लेगी--हवा के, ताप के, गति के। दस साल के संघर्ष को झेलकर बिखर जाएगी।
जिस दिन बच्चा पैदा होता है, उस दिन दोनों के अणु मिलकर यह तय कर देते हैं--उसी दिन--कि यह कितने दिन तक हवा-पानी, गर्मी-वर्षा, धूप-दुख, पीड़ा- संघर्ष, मिलन-विरह, मित्रता-शत्रुता, आशा-निराशा, रात-दिन, इन सबको कितने दिन झेल सकेगा? और झेलते-झेलते, झेलते-झेलते, झेलते-झेलते बिखरने लगेगा। और वह दिन कब आ जाएगा, जब ये जो मिले थे अणु, वे बिखरकर अलग हो जाएंगे। उनके अलग होते से ही आत्मा को शरीर को छोड़ देना पड़ेगा।
मृत्यु और यौन, सेक्स और डेथ एक ही चीज के दो छोर हैं। यौन जिसे मिलाता है, मृत्यु उसे बिखरा देती है। यौन जिसे संयुक्त करता है, मृत्यु उसे वियुक्त कर देती है। यौन अगर सिंथेटिक है, तो मृत्यु एनालिटिक है। यौन संश्लिष्ट करता है, मृत्यु विश्लिष्ट कर देती है। घटना एक ही है। घटना में कोई फर्क नहीं है।
यह संभूत ब्रह्म को जो ठीक से जान ले, वह इसकी स्वीकृति को उपलब्ध होता है--स्वीकृति को। स्वीकृति विजय है। जिस चीज को आपने स्वीकार कर लिया, उसके आप मालिक हो गए। अगर आपने गुलामी को भी स्वीकार कर लिया, तो आप मालिक हो गए, गुलाम न रहे।
अगर मेरे हाथ में आप जंजीरें डाल दें और मैं राजी से डलवा लूं। और आप मुझे जाकर कारागृह में बंद कर दें और मैं नाचता हुआ बंद हो जाऊं। और क्षणभर को भी मेरे मन में यह कभी ख्याल न उठे कि बाहर भी हो सकता था, जानूं कि जो हो सकता था, वह हुआ है। तो आप मुझे गुलाम बनाने में समर्थ नहीं हुए। आप हार गए। मालिक हूं मैं अब भी। उलटे आप मेरे गुलाम हो जाएंगे। क्योंकि ताला-चाबी भी रखनी पड़ेगी, दरवाजे पर पहरा भी देना पड़ेगा, सारा इंतजाम करना पड़ेगा! और मैं अगर स्वीकार कर सकता हूं ताला-चाबी को और सामने खड़े दरवाजे पर पहरेदार को कि ठीक है, नियति है, तो मैं अपना गीत गा सकता हूं भीतर। और आप बंदूक लिए खड़े हुए गंभीर बने रह सकते हैं।
गुलामी भी अगर पूर्ण स्वीकृत हो जाए तो मालकियत है और मालकियत भी अगर पूरी स्वीकृत न हो तो गुलामी है। असल में पूर्ण स्वीकृति मुक्ति है। किसी भी तथ्य की पूर्ण स्वीकृति मुक्ति है।
संभूत ब्रह्म को जानकर व्यक्ति पूर्ण स्वीकार को उपलब्ध होता है।
दूसरी बात भी ख्याल में ले लें। ख्याल के लायक नहीं है दूसरी बात।
ख्याल में लेने से आएगी भी नहीं। पहली बात ख्याल में आ जाए तो पर्याप्त।
दूसरी बात तो और गहन अनुभव की है।
असंभूत ब्रह्म को जानने के लिए या तो जन्म के पहले जाना पड़े या मृत्यु
के बाद जाना पड़े। उसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। इसलिए झेन फकीर जापान में, जब कोई साधक उनके पास जाता है, तो उससे वे कहते हैं कि तू जा और ध्यान कर और पता लगा कि जन्म के पहले तेरा चेहरा कैसा था? जन्म के पहले तेरा चेहरा कैसा था, इस पर ध्यान कर--ह्वाट इ.ज योर ओरिजनल फेस!
ओरिजनल--यह नहीं जो अभी है, यह नहीं जो कल था, यह नहीं जो परसों था। ओरिजनल--जो जन्म के पहले था, जो तेरा चेहरा है, वह बता। क्योंकि यह चेहरा तो तेरे मां-बाप से मिला है, तेरा नहीं है। यह चेहरा तो तेरे मां-बाप से मिला है, तेरा नहीं है। यह आंख का रंग तेरे मां-बाप से मिला है, तेरा नहीं है। यह नाक-नक्श तेरे मां-बाप से मिला है, तेरा नहीं है। यह चमड़ी का रंग तेरे मां- बाप से मिला है, तेरा नहीं है। अगर नीग्रो मां-बाप होते, तो यह काला हो जाता। अगर अंग्रेज मां-बाप होते, तो यह भूरा हो जाता। यह पिगमेंट, जो शरीर

के रंग का है, यह तो तेरे मां-बाप से मिला है। तेरा रंग नहीं है। अपना रंग क्या है तेरा, उसका पता लगा! अपने चेहरे की फिक्र कर, यह तो मां-बाप का दिया हुआ चेहरा है। दिए हुए चेहरे छीन लिए जाएंगे। यह मुखौटे से ज्यादा नहीं है। सत्तर साल चलता है, इसलिए हम सोचते हैं, चेहरा है!
एक आदमी के चेहरे पर अगर एक फिक्स्ड चेहरा, लगा दिया जाए मुखौटा और नट-कील इस तरह कस दिए जाएं कि इस जिंदगी में न छूट सके, थोड़े दिन में वह अपना चेहरा समझने लगेगा। क्योंकि जब भी आईने के सामने जाएगा, वही दिखाई पड़ेगा। एक आदमी ने अमरीका में एक बहुत अनूठा प्रयोग किया है अभी। प्रयोग उसने यह किया कि--वह एक अमरीकन युवक लेखक--उसने यह प्रयोग किया कि मैं वैज्ञानिक प्रक्रिया से नीग्रो हो जाऊं। वैज्ञानिक प्रक्रिया से चमड़ी को काला करवा लूं। और फिर अमरीका में जीकर देखूं कि नीग्रो पर क्या गुजरती है। क्योंकि नीग्रो पर क्या गुजरती है, यह सफेद चमड़ी के आदमी को कभी ठीक पता नहीं चल सकता। क्योंकि बिना नीग्रो हुए कैसे पता चल सकता है! और जो भी पता चलेगा, वह सफेद चमड़ी वाले का अनुभव है, नीग्रो का अनुभव नहीं।
बड़ी हिम्मत का प्रयोग था। पहले तो वैज्ञानिकों ने इनकार किया। क्योंकि खतरनाक भी था। पर वह आदमी मानने को राजी नहीं था और उसने धीरे- धीरे तीन वैज्ञानिकों को राजी कर लिया। छह महीने की लंबी प्रक्रिया, इंजेक्शंस और शरीर में नए पिगमेंट्स डालकर उसकी चमड़ी नीग्रो की हो गई। चमड़ी काली हो गई। बाल घुंघराले कृत्रिम रूप से तैयार कर दिए गए।
उस आदमी ने लिखा है अपने संस्मरण में कि जब पहली बार वैज्ञानिकों ने कहा कि प्रक्रिया पूरी हो गई, अब तुम अपने प्रयोग पर निकल सकते हो, तो मैं बाथरूम में गया, अपना चेहरा तो देखूं! लेकिन मेरी हिम्मत बिजली के बटन को दबाने की न हुई। पता नहीं क्या दिखाई पड़ेगा! बड़े डरते हुए बिजली का बटन दबाया। सोचा था पहले कि रंग ही बदल जाएगा, मैं तो मैं ही रहूंगा। लेकिन जब आईने में देखा तो रंग ही नहीं बदला था, मैं भी बदल गया था। समझ में ही नहीं पड़ा कि यह क्या हो गया है, यह कौन आदमी खड़ा है! सब कुछ और था। सोचा था कि इस भांति नीग्रो होकर छह महीने नीग्रो के बीच रहकर जान लूंगा कि नीग्रो कैसा अनुभव करते हैं। हालांकि मैं तो नीग्रो नहीं हूं, सो नीग्रो नहीं रहूंगा। लेकिन संस्मरण में लिखा है कि चार-छह दिन नीग्रो के बीच रहकर मैं यह भूलने लगा कि मैं आंग्ल हूं, अमरीकन हूं। मैं गोरा हूं, यह मैं भूलने लगा। रोज सुबह-सांझ आईने में वही तस्वीर अपनी दिखाई पड़ने लगी। फोटो निकलवाकर देखे। नीग्रो ऐसे व्यवहार करने लगे, जैसे मैं नीग्रो हूं। रास्ते पर जो सदा नमस्कार करते थे सफेद चमड़ी के लोग, वे ऐसे निकल जाने लगे कि जैसे कोई पास से निकला ही न हो। एक दिन सुबह जाकर द्वार पर खड़ा हुआ अपनी पत्नी के, तो पत्नी ने देखा और नहीं देखा।
नीग्रो को कोई देखता है? नौकर द्वार पर खड़ा हो जाए, भंगी आकर द्वार पर खड़ा हो जाए, सच में आप देखते हैं? कौन देखता है? दिखाई पड़ जाता है, देखता कोई नहीं है।
जिस अंग्रेज जूते बनाने वाले और जूते पर पालिश करने वाले से वह सदा जूते पर पालिश करवाता था, जब जाकर उसकी टिकटी पर उसने अपना जूता रखा तो उस आदमी ने ऊपर देखा और कहा कि होश है? पैर नीचे हटाओ!
उसने लिखा है कि तब मुझे ऐसा नहीं लगा कि मैं सफेद चमड़ी का आदमी, असली में सफेद आदमी हूं, तो हंसूं। यह नीग्रो के साथ व्यवहार हो रहा है। तब मुझे लगा, मेरे साथ व्यवहार हो रहा है। और मुझे वही पीड़ा हुई। छह महीने की निरंतर प्रक्रिया के बाद--क्योंकि छह महीने में पिगमेंट खराब हो जाएगा और चमड़ी वापस सफेद होनी शुरू हो जाएगी--छह महीने की प्रक्रिया के बाद, उसने लिखा है कि अब जब मैं याद करता हूं वे छह महीने, तो मुझे ऐसा नहीं लगता कि वे मैंने जीए। ऐसा लगता है, कोई एक स्वप्न देखा। वह अलग ही आदमी था, मैं अलग ही आदमी हूं। क्योंकि चेहरों से ही तो हमारे जा.ेड होते हैं।
लेकिन यह चेहरा आपका नहीं है। न वह चेहरा उसका था, छह महीने के लिए... । लेकिन मजा यह है कि वह सोचता है कि वह छह महीने के लिए जो चेहरा था वह उसका नहीं था, उसके पहले जो चेहरा था वह उसका था और उसके बाद जो चेहरा है वह उसका है। वह भी उसका नहीं है।

वह छह महीने के लिए वैज्ञानिक से मिला था चेहरा। यह सत्तर साल के लिए मां-बाप से मिला है चेहरा। लेकिन यह अपना नहीं है। यह खुद का चेहरा नहीं है। खुद का चेहरा तो जन्म के पहले मिल सकता है या मौत के बाद मिल सकता है।
जन्म के पहले लौटना बहुत मुश्किल है।
असंभूत ब्रह्म को जन्म के पहले जानना बहुत मुश्किल है। पहले तो मैंने कहा कि असंभूत ब्रह्म को संभूत ब्रह्म के मुकाबले जानना बहुत मुश्किल है। अब मैं आपसे कहता हूं, दो उपाय हैं, या तो जन्म के पहले रिग्रेस कर जाएं।
ध्यान में इतने पीछे चले जाएं उतरकर कि जन्म के पहले पहुंच जाएं, तो असंभूत ब्रह्म का अनुभव हो। दूसरा उपाय यह है कि ध्यान में इतने आगे बढ़ जाएं कि मर जाएं और मौत के आगे निकल जाएं, तो असंभूत ब्रह्म का अनुभव हो जाए। इन दोनों में मरने का प्रयोग आसान है। क्योंकि वह भविष्य है।
पीछे लौटना असंभव है, आगे ही जाना संभव है। आगे ही छलांग ली जा सकती है। पीछे लौटना बड़ा मुश्किल है, बड़ा मुश्किल है। बचपन के वस्त्र पहनने बहुत मुश्किल हैं। गर्भ में वापस लौटना बहुत अति कठिन है, क्योंकि बहुत संकरा होता जाता है मार्ग। लेकिन ढीले वस्त्र--मौत के ढीले वस्त्र पहनने बहुत आसान हैं। मार्ग विस्तीर्ण होता चला जाता है। ध्यान रहे, जन्म का द्वार बहुत छोटा है, मृत्यु का द्वार बहुत बड़ा है। मृत्यु आसान है। जन्म भी संभव है, जन्म के पार भी जाना संभव है। उसकी भी प्रक्रियाएं हैं, उसके भी मार्ग हैं, लेकिन अति कठिन हैं।
मैं जिस ध्यान की बात कर रहा हूं, वह मृत्यु का प्रयोग है। वह मृत्यु में छलांग है। अपने हाथ से मरकर देखना है। अपने हाथ से मरकर देखना है। अपने हाथ से मरे जैसे हो जाना है। अगर घटना घट जाए और जानते हुए आप मृत्यु में उतर जाएं; ऐसे हो जाएं जैसे नहीं हैं, तो असंभूत ब्रह्म का चेहरा दिखाई पड़ेगा। तो उसका चेहरा दिखाई पड़ेगा, जो जन्म के पहले है और मृत्यु के बाद है। वह एक ही चेहरा है, प्रक्रिया भले दो हो जाएं। क्योंकि बिंदु वह एक ही है। आप चाहे पीछे लौटकर उस बिंदु को देखें, या आगे जाकर उस बिंदु को देखें। लेकिन सरल है आगे जाना।
इसलिए मेरा आग्रह मृत्यु पर है। तो मैं यह नहीं कहता कि आप लौटकर देखें, जन्म के पहले क्या चेहरा था। मैं कहता हूं, जरा आगे बढ़कर झांककर देखें कि मृत्यु के बाद क्या चेहरा होगा। मृत्यु--स्वेच्छा से, स्वीकृत-- ध्यान बन जाती है। और अगर कोई व्यक्ति इस मृत्यु को सिर्फ थोड़े ही क्षणों में न जीना चाहे, बल्कि पूरे जीवन में जीना चाहे, तो संन्यास बन जाती है। संन्यास का अर्थ है, जीते-जी इस तरह से जीना, जैसे मर गए।
संन्यास का अर्थ है, जीते-जी इस भांति जीना, जैसे मर गए।
एक झेन फकीर हुआ है--बोकोजू। संन्यास लिया उसने। गांव से गुजरता था, किसी आदमी ने गालियां दीं। उसने खड़े होकर सुनीं। पास की दुकान के मालिक ने उससे कहा, क्या खड़े होकर सुन रहे हो! वह गालियां दे रहा है। बोकोजू ने कहा, बट नाउ आई एम डेड, लेकिन मैं मरा हुआ आदमी हूं। अब मैं जवाब कैसे दूं! उस आदमी ने कहा, मरे हुए आदमी? पूरी तरह जीते हुए दिखाई पड़ रहे हो! तो बोकोजू ने कहा कि जब मर ही जाऊंगा, फिर मरने में मेरा क्या गुण होगा? जीते-जी मर रहा हूं, इसमें कुछ मेरा गुण है। जब मर ही जाऊंगा, तब तो मरूंगा ही। तब तो मरूंगा ही, तब तो सभी मरते हैं, मैं जीते-जी मर गया हूं।
उस होटल के मालिक ने कहा कि हम कुछ समझे नहीं। तो बोकोजू ने कहा कि जन्म तो अनजाने में हो गया, अब मृत्यु में जानकर गुजरना चाहता हूं। जन्म तो अनजाने में हो गया, अब कोई उपाय नहीं है। लेकिन अभी मृत्यु आगे है, मैं जानकर गुजरना चाहता हूं। जन्म के वक्त तो चूक गया एक मौका, जब कि उसे जान सकता था, जो जन्म के पहले था। वह चूक गया। ए अपर्चुनिटी हैज बीन मिस्ड। एक अवसर और है--वह है मृत्यु।
लेकिन ध्यान रहे, अगर मृत्यु अचानक आएगी, जैसा कि जन्म आया था, तो उसको
भी चूक जाएंगे। लेकिन अगर आपने तैयारी करके मृत्यु को दरवाजा दिया, आप तैयार रहे, मरते गए, मरते रहे... ।
संन्यास का मतलब ही यही हैः मरना अपनी तरफ से, स्वेच्छा से--वालंटरी डेथ। मरते जाना, ऐसे होते जाना जैसे मर ही गए। जब कोई गाली दे, तो जानना कि मैं मर गया हूं। जब आप मर जाएंगे और आपकी कब्र पर खड़े होकर कोई गाली देगा,

तब आप क्या करेंगे? वही करना। जब आप मर जाएंगे और आपकी खोपड़ी कहीं पड़ी होगी और कोई लात मारेगा, तो जो उस वक्त करें, वही अभी भी करना। संन्यास का अर्थ यही है।
तो हम असंभूत ब्रह्म में उतर जाएंगे, और नहीं तो मौत का अवसर भी चूक जाएगा। और ऐसा नहीं कि एक दफे, कई दफे चूक चुका है। जन्म का कई दफा चूका है। इस बार तो चूका ही है, इसके पहले जन्म का अनेक बार चूका है और मृत्यु का अनेक बार चूका है। हम कोई नए नहीं हैं मरने और जीने में, पुराने अभ्यासी हैं। बहुत बार जन्म ले चुके, बहुत बार मर चुके--आदतन है, एडिक्टेड है। यह ढंग हो गया है हमारा। पर यह ढंग आगे भी चलाना है, नहीं चलाना है, यह निर्णय लेना चाहिए। अभी एक अवसर आगे आ रहा है मौत का। उस अवसर के लिए तैयारी करते जाना चाहिए, तो असंभूत में प्रवेश हो जाएगा।
जो असंभूत में प्रवेश करता है, ऋषि कहता है, वह अमृत को जान लेता है।
जो संभूत को जानता है, वह मृत्यु को जीत लेता है। जो असंभूत में प्रवेश करता है, वह अमृत को जान लेता है।
ध्यान रहे, मृत्यु में प्रवेश करके ही अमृत जाना जाता है। क्योंकि जब
आप मृत्यु में पूरी तरह प्रवेश कर जाते हैं, सब भांति मर जाते हैं और फिर भी पाते हैं कि नहीं मरे, तो अमृत की उपलब्धि हो गई। जब कोई गाली देता है और आप मुर्दे की भांति होते हैं और फिर भी जानते हैं कि मैं हूं, और गाली का उत्तर नहीं आता; और जब कोई आपका हाथ काट दे या गर्दन काट दे, और गर्दन कटती हो और तब भी आप जानते हैं कि गर्दन कट रही है, फिर भी मैं हूं, तो अमृत का द्वार खुल गया। मृत्यु से जो बचेगा, अमृत से वंचित रह जाएगा। मृत्यु में जो उतरेगा, वह अमृत को उपलब्ध हो जाता है।
असंभूत ब्रह्म को जानकर अमृत की उपलब्धि है, क्योंकि असंभूत अमृत है।
वह जन्म के पहले है और मृत्यु के बाद है, इसलिए अमृत है। न वह कभी जन्मता है, इसलिए उसके मरने का कोई उपाय नहीं है। हम भी वही हैं। शरीर ही जन्मता है, वही कंपोजिट होता है, मां-बाप से वही मिलता है। हम बहुत पहले से आते हैं। जब शरीर नहीं था, तब भी हम थे। पर शरीर में प्रवेश करते ही शरीर से तादात्म्य बन जाता है। फिर शरीर में तादात्म्य बन जाता है, तो शरीर मरता है तो लगता है, मैं मर रहा हूं। और जब अचानक मौत आएगी--और मौत अचानक आती है। मौत आपको खबर देकर नहीं आती है। खबर देकर आए तो आप बहुत मुसीबत में पड़ जाएं, उसकी बड़ी करुणा है इसलिए। खबर देकर मौत आए तो आप बड़ी मुसीबत में पड़ जाएं, इसलिए बड़ी करुणापूर्ण व्यवस्था है कि बिना खबर दिए आती है।
सोचें, चौबीस घंटे पहले आपको मौत बता जाए कि आती हूं चौबीस घंटे बाद।
तो मौत में तो जो होगा सो होगा, इस चौबीस घंटे में जो होगा उसका हिसाब लगाना बहुत मुश्किल है। लेकिन मौत की करुणा महंगी पड़ती है। खबर देकर आ जाए तो पीड़ा तो होगी, लेकिन शायद मौत को जानते हुए गुजरना हो जाए। अगर चौबीस घंटे पहले मौत खबर दे दे कि आती हूं, तो तकलीफ तो भारी होगी। करुणा है उसकी कि नहीं खबर देती आपको। लेकिन अगर खबर दे दे तो पीड़ा तो भारी होगी और चौबीस घंटे में न मालूम कितने नर्क से गुजरना हो जाएगा। एक-एक पल बीतना मुश्किल हो जाएगा। बिना धड़कते हुए हृदय के जीना पड़ेगा, चौबीस घंटे। नाड़ी खो जाएगी, बुद्धि खो जाएगी--ऐसे वैसे भी बहुत ज्यादा है नहीं। लेकिन शायद--शायद कहता हूं--जानते हुए गुजरना हो जाए। शायद इसलिए कहता हूं, क्योंकि बहुत संभावना यह है कि चौबीस घंटे पहले पता चल जाए तो आप चौबीस घंटे पहले बेहोश हो जाएंगे। होश में नहीं रहेंगे, बेहोश हो जाएंगे। चौबीस घंटे बेहोशी में, कोमा में पड़े रहेंगे, और मरेंगे। शायद इसीलिए कोई सार्थकता नहीं है कि मृत्यु की खबर पहले मिल जाए तो कुछ फायदा हो सके।
संन्यास अपने ही हाथ से मृत्यु की खबर को अपने को दे देना है। कह देना
है कि बस, जो चर्च में घंटी बज रही है, मेरे लिए ही बज रही है। वह जो रास्ते पर जो लाश गुजर रही है, वह मेरी गुजर रही है। वह जो मरघट में आदमी जल रहा है, वह मैं जल रहा, मैं ही जल रहा हूं। इसकी खबर दे देनी है।
इसीलिए तो संन्यासी का सिर घुटा देते थे, जैसा मुर्दे का घुटा देते हैं। पहले तो संन्यास की जो प्रक्रिया और दीक्षा थी, उसमें आदमी का सिर घुटाकर, घर के लोग वैसे ही रो-धो लेते थे, जैसे मरता है आदमी तब रो-धो लेते हैं। हालांकि अभी भी आप संन्यास लोगे, तो थोड़ा रोना-धोना घर के लोग करेंगे,

वह आपके मरने की वजह से कर रहे हैं कि यह आदमी अब मरने का निर्णय कर रहा है। उनको रो-धो लेने देना। क्योंकि मरते वक्त तो आप कोई बचाव न कर सकेंगे उनके रोने-धोने का। हालांकि अभी का रोना-धोना दिन दो दिन में चला जाएगा, क्योंकि वे जानेंगे कि भला यह आदमी मरने का निर्णय लिया हो, लेकिन जिंदा है। दो दिन में निपट जाएगा, वे पार हो जाएंगे। और अच्छा है कि अपने जानते ही, अपने सामने ही अपनी मृत्यु की पीड़ा से भी उनको गुजार देना। क्योंकि कल जब मैं मरूंगा और वे मृत्यु की पीड़ा से गुजरेंगे, तब मैं कुछ सहानुभूति प्रकट करने को, सांत्वना देने को भी नहीं रहूंगा।
दीक्षा देते थे संन्यासी को तो चिता पर चढ़ाते थे। तो बहुत सरल दिन थे वे। बहुत भोले, इनोसेंट लोग थे। चिता पर चढ़ा देते थे, नीचे आग लगा देते थे। और गुरु चिल्लाता था कि तुम मर गए--स्मरण करो कि तुम मर गए, अब तुम वही नहीं हो, जो तुम कल तक थे। फिर जलती हुई चिता से उस आदमी को उठाकर उसे नया नाम दे देते थे, ताकि वह पुराना नाम गया, वह पुराना आदमी गया। पर वे बहुत सरल दिन थे। इस छोटी सी प्रक्रिया से, इस छोटे से मंत्र से, चिता पर चढ़ाने से, आदमी मान लेता था कि मर गया, दूसरा आदमी हो गया।
आज इतनी सरलता नहीं है। आज यदि चिता पर भी आपको चढ़ा दें, तो भी आप चिता
से वही उतर आएंगे, जो चढ़े थे। आपका सिर भी घुटा दें, तो आप फोटो उतारकर उसी अलबम में लगा देंगे, जिसमें बिना सिर घुटी लगी है। कंटीन्यूटी जारी रहेगी।
आदमी ज्यादा चालाक हुआ है। इसलिए संन्यास कठिन हुआ है। लेकिन संन्यास
के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है असंभूत ब्रह्म को जानने का। संभूत ब्रह्म तो संसारी भी जान सकता है, लेकिन असंभूत ब्रह्म सिर्फ संन्यासी ही जान सकता है।
आज के लिए इतना ही। रात हम बात करेंगे।
अब हम चलें असंभूत की यात्रा पर--मरें!

ईशावास्य उपनिषद
ग्यारहवां प्रवचन

वह शून्य है

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ओम क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।। 17।।

अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायुरूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्मशेष हो जाए। हे मेरे संकल्पात्मक मन! अब तू स्मरण कर, अपने किए हुए को स्मरण कर, अब तू स्मरण कर, अपने किए हुए को स्मरण कर।। 17।।

जीवन मिल जाए उसी में, जहां से जन्मा है। आकार खो जाए उस निराकार में, जहां से आकार निर्मित हुआ है। ये प्राण वायु के साथ एक हो जाएं। शरीर धूल में, मिट्टी में समा जाए। ऐसे क्षण में--और ऐसे क्षण दो हैं, उनकी मैं आपसे बात करूंगा--ऐसे क्षण में ऋषि ने कहा है अपने संकल्पात्मक मन से कि हे मेरे संकल्प करने वाले मन, अपने किए हुए कर्मों का स्मरण कर, अपने किए हुए कर्मों का स्मरण कर।
ऐसे क्षण दो हैं, जब यह प्रार्थना सार्थक हो सकती है। एक तो मृत्यु के क्षण में और दूसरा समाधि के क्षण में। एक तो तब, जब सच में ही आदमी मृत्यु को उपलब्ध होने के द्वार पर खड़ा होता है। और या फिर तब, जब मृत्यु से भी बड़ी मृत्यु में, समाधि के द्वार पर व्यक्ति अपनी बूंद को सागर में खोने के लिए तत्पर होता है।
साधारणतः जिन लोगों ने भी उपनिषद के इस सूत्र की व्याख्या की है, उन्होंने पहले ही अर्थ में की है। यही मानकर की है कि मृत्यु के समय ऋषि कह रहा है कि मेरा सब वहीं मिला जा रहा है मेरा अस्तित्व जहां से आया था, उस क्षण में कह रहा है अपने मन से कि मेरे संकल्पात्मक मन, अपने किए हुए कर्मों का स्मरण कर।
लेकिन जैसा मैं देख पाता हूं, यह स्मरण मृत्यु के समय में किया गया नहीं है। यह स्मरण समाधि के क्षण में किया गया है। मृत्यु के क्षण में इसलिए किया गया नहीं है कि मृत्यु की कोई पूर्वसूचना नहीं होती। आप नहीं जानते कभी भी कि मृत्यु किस क्षण आ जाती है। मृत्यु आ जाती है, तभी पता चलता है। लेकिन तब तक जिसे पता चलता है, वह मर चुका होता है, वह जा चुका होता है। जब तक मृत्यु आई नहीं, तब तक पता नहीं चलता; और जब आती है, तब पता चलने वाला खो चुका होता है।
सुकरात मर रहा था तो उसके मित्रों ने उससे कहा कि तुम भयभीत नहीं मालूम पड़ते--दुखी-पीड़ित नहीं, चिंतित नहीं, भयातुर नहीं! तो सुकरात ने कहा कि मैं सोचता हूं कि जब तक मृत्यु नहीं आई है, तब तक तो मैं जीवित ही हूं। और जीवित जब तक हूं, तब तक मृत्यु की चिंता क्यों करूं? और या फिर यह भी सोचता हूं कि जब मृत्यु आ ही जाएगी और मर ही जाऊंगा, तो फिर चिंता करने वाला कौन बचेगा? फिर यह भी सोचता हूं कि या तो मृत्यु में मैं मर ही जाऊंगा, बिल्कुल मिट जाऊंगा, कोई बचेगा ही नहीं। अगर मृत्यु के पार कोई बचेगा ही नहीं, तो भयभीत होने का कोई कारण नहीं। और यदि जैसा कि और कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु आ जाएगी, फिर भी मैं मरूंगा नहीं। यदि मृत्यु आ जाएगी और मैं मरूंगा ही नहीं, तो फिर चिंता का तो कोई भी कारण नहीं।
मैंने कहा, दो क्षणों में यह सूत्र सार्थक हो सकता है--मृत्यु के क्षण में या समाधि के क्षण में। लेकिन मृत्यु के क्षण का हमें कोई भी पता नहीं होता। अनप्रिडिक्टेबल है, मृत्यु की कोई भविष्यवाणी नहीं है। अनायास है, इसीलिए किसी भी क्षण हो सकती है। अगले क्षण भी हम होंगे, इसका कुछ पक्का नहीं है। किसी भी क्षण हो सकती है, फिर भी किस क्षण होगी, इसकी कोई पूर्वसूचना नहीं है। और यह प्रार्थना तो तभी हो सकती है, जब पूर्वसूचना हो। जब कि ऋषि को पता हो कि मैं मरने के द्वार पर खड़ा हूं--मैं मर रहा हूं। नहीं, इसलिए मैं कहता हूं कि यह मृत्यु के समय में किया गया स्मरण नहीं है।
यह महामृत्यु के क्षण में किया गया स्मरण है। महामृत्यु समाधि का नाम है।

मृत्यु को मैं साधारण मृत्यु कहता हूं, क्योंकि सिर्फ शरीर मरता है,
मन नहीं मरता। सिर्फ शरीर मरता है, मन नहीं मरता। ध्यान को, समाधि को मैं महामृत्यु कहता हूं, क्योंकि शरीर का तो सवाल ही नहीं, मन ही मर जाता है। और इसलिए भी मैं कहता हूं कि यह स्मरण समाधि के समय में किया गया है, क्योंकि ऋषि कह रहा है अपने संकल्पात्मक मन से, स्मरण कर अपने किए हुए कर्मों का, स्मरण कर।
इस दूसरे हिस्से के संबंध में भी बड़ी भ्रांति हुई है। असल बात यह है
कि साधारणतः जिन्हें हम पंडित कहते हैं, वे व्याख्याएं करते हैं। वे कितनी ही कुशल व्याख्या करें, उनकी व्याख्या में बुनियादी भूल हो जाती है। भूल इसलिए हो जाती है, शब्द वे समझते हैं ठीक से, सिद्धांत भी समझते हैं, शास्त्र भी समझते हैं, लेकिन शब्द और शास्त्र के पीछे जो अनकहा छिपा है, उसे वे बिल्कुल नहीं समझते। और धर्म के सत्य शब्दों में नहीं कहे जाते, शब्दों के बीच में जो खाली जगह छूट जाती है, उसी में कहे जाते हैं। पंक्तियों में नहीं, पंक्तियों के बीच में जो रिक्त स्थान छूट जाता है, उसी में कहे जाते हैं। जो रिक्त स्थान को पढ़ने में समर्थ नहीं है, जो केवल काले अक्षरों को पढ़ने में समर्थ है, वह इन महासूत्रों का अर्थ करने में समर्थ नहीं हो सकेगा।
पश्चिम में एक आंदोलन चलता है कृष्णा कांसशनेस का, कृष्ण चेतना का।
उस आंदोलन को चलाने वाले स्वामी भक्ति वेदांत प्रभुपाद की ईशावास्योपनिषद पर मैं एक किताब देख रहा था। बहुत हैरान हुआ। इस सूत्र का अर्थ उन्होंने जो किया है, इतना चकित करने वाला मालूम पड़ा! इस सूत्र का अर्थ किया है कि मैं मर रहा हूं, मैं मृत्यु के द्वार पर खड़ा हूं, हे प्रभु, मैंने जो-जो त्याग तेरे लिए किए, उनका स्मरण रखना। मैंने जो-जो त्याग तेरे लिए किए, उनका स्मरण रखना! मैंने जो-जो कर्म तेरे लिए किए, उनका स्मरण रखना!
नहीं, ये रिक्त स्थान जो नहीं पढ़ सकते, वे तो ऐसा भूल भरा अर्थ करें तो क्षमा किए जा सकते हैं, यह तो ऐसा मालूम पड़ता है कि जो शब्द भी नहीं पढ़ सकते, वे भी अर्थ करते हैं।
ऋषि कह रहा है, हे मेरे संकल्पात्मक मन! यहां ईश्वर का कोई सवाल ही नहीं है। और ऋषि यह तो कह ही नहीं रहा है कि मेरे किए हुए कर्मों को जो मैंने तेरे लिए किए, मेरे किए हुए त्यागों को जो मैंने तेरे लिए किए, उनका स्मरण रखना! लेकिन हमारी जो व्यवसायात्मक बुद्धि है, वह जो बिजनेस माइंड है, वह शायद यही अर्थ कर पाएगा। कहेगा, मरने का क्षण करीब आ गया, मैंने दान किया था, मंदिर बनवाया था, तालाब का पाट बनवाया था, स्मरण रखना! हे प्रभु, मैंने जो-जो कर्म किए थे तेरे लिए, जो-जो त्याग किए थे, अब घड़ी आ गई, अब मुझे ठीक से उनका फल दे देना, प्रतिफल दे देना।
मेरे संकल्पात्मक मन... ! संकल्प है हमारे मन की अभीप्सा का स्रोत। संकल्प अर्थात विल। इसे थोड़ा समझ लें तो आगे की बात ख्याल में आ सके। इच्छा तो हमारे मन में सबको होती है--डिजायर, वासनाएं। लेकिन वासना तब
तक संकल्प नहीं बनती, जब तक वासना से अहंकार जुड़ न जाए। वासना धन अहंकार संकल्प बन जाता है। वासना तो सभी लोग करते हैं, लेकिन अगर अपने अहंकार से वासना को न जोड़ पाएं तो वासना सिर्फ स्वप्न बनकर रह जाती है। वह कर्म नहीं बन पाती। कर्म बनने के लिए तो अहंकार जुड़ जाना चाहिए। अहंकार जुड़ जाए वासना में तो संकल्प निर्मित होता है। फिर किसी कर्म को करने की अहंता और अस्मिता निर्मित होती है। फिर कर्ता बनने का भाव निर्मित होता है। वासना के साथ जैसे ही अहंकार जुड़ा कि आप कर्ता बने।
ऋषि कह रहा है, मेरे संकल्पात्मक मन, मेरे अहंकार और वासनाओं से भरे मन, अपने किए हुए कर्मों का स्मरण कर!
क्यों कह रहा है यह? और एक बार नहीं, दो बार--अपने किए हुए कर्मों का स्मरण कर! अपने किए हुए कर्मों का स्मरण कर! क्यों? समाधि के क्षण में इस स्मरण की क्या जरूरत है? या मृत्यु के क्षण में भी इस स्मरण की क्या जरूरत है?
मजाक कर रहा है, व्यंग्य कर रहा है ऋषि। वह यह कह रहा है कि अब सब खोया
जा रहा है समाधि के द्वार पर--मन खो रहा है, शरीर खो रहा है, भूत खो रहे हैं,

सब लीन हुआ जा रहा है--अब मेरे मन, तू जो सोचता था कि मैंने यह किया, मैंने यह किया, अब उसका क्या हुआ! वह जो तू सोचता था, मैंने यह किया, मैंने यह किया, वे सब पानी पर खींची गई रेखाएं अब कहां हैं? स्मरण कर! अब तू भी खो रहा है, तेरा किया हुआ भी खो गया है, अब तू भी खो रहा है। अब तू स्मरण कर, लौटकर पीछे देख। कितने गौरव से भरकर तूने सोचा था, यह मैंने किया है! कितने अहंकार से भरकर तूने कहा था, यह मैंने किया है! कितनी आकांक्षाओं को तूने संजोया था कि यह मैं करूंगा! जन्म-जन्म, अनंत यात्राओं पर, कितने चरण-चिह्न तूने छोड़े थे और कहे थे कि ये मेरे चरण-चिह्न हैं! आज उनका कहीं भी कोई निशान नहीं रहा। उनका तो निशान रहा ही नहीं, आज तू भी शून्य हुआ जा रहा है। आज तेरा भी निशान नहीं रहेगा। आज तू भी मिटने के करीब आ गया है। आज तू भी विदा हो रहा है। आज सब भूत अपने में लीन हो जाएंगे। आज सारी यात्रा समाप्त होगी। तो एक बार लौटकर तू पीछे देख ले, किस भ्रम में तू जीया था, किस इलूजन में, किस माया में तू जीया था। किस पागलपन में कैसे सपने तूने देखे थे और उन सपनों के लिए कितनी पीड़ा झेली थी। और उन सपनों के लिए कितना चिंतित हुआ था। अगर कभी कोई स्वप्न तेरा पूरा नहीं हुआ था तो कितनी परेशानी, कितनी विफलता, कितना फ्रस्ट्रेशन तूने पाया था। और अगर कभी कोई सपना सफल हो गया था तो तू कितना फूला नहीं समाया था। आज सब सपने भी जा चुके, आज सब कर्म भी खो चुके। तू भी खोने के करीब आ गया। तू भी न होने के करीब आ गया। लौटकर एक बार स्मरण कर।
यह बहुत व्यंग्य में, अपने ही संकल्प और अपने ही अहंकार को उदबोधन है। इसलिए मैं कहता हूं, यह मृत्यु के समय किया गया उदबोधन नहीं है, समाधि के समय किया गया उदबोधन है। क्योंकि मृत्यु में तो सिर्फ शरीर ही मरता है, संकल्पात्मक मन नहीं मरता। मृत्यु के बाद भी आप अपने मन को लिए चले जाते हैं।
वही मन तो आपके अनंत जन्मों का स्रोत है। शरीर तो गिर जाता है यहीं।
मन साथ यात्रा करता है। वासना साथ चली जाती है। अहंकार साथ चला जाता है। किए हुए कर्मों की स्मृति साथ चली जाती है। करने थे जो कर्म और नहीं कर पाए, उनकी आकांक्षा साथ चली जाती है। पूरा मनोशरीर साथ चला जाता है। सिर्फ देह गिरती है, सिर्फ फिजियोलाजिकल, सिर्फ देहगत जो हमारा ढांचा है, वह भर गिर जाता है मृत्यु में। लेकिन मन साथ चला जाता है। वही मन फिर नए शरीर को पकड़ लेता है। वही मन अनंत शरीरों को पकड़ चुका है। वह अनंत शरीरों को पकड़ता चला जाता है।
इसलिए ज्ञानी मृत्यु को वास्तविक मृत्यु नहीं कहते, क्योंकि कुछ भी
तो नहीं मरता। सिर्फ वस्त्र ही बदलते हैं। शरीर वस्त्र से ज्यादा नहीं है। इस बात को भी ठीक से समझ लें।
साधारणतः हम सोचते हैं कि शरीर हमारा पहले आता है, फिर उसके भीतर मन जन्म लेता है। और विगत सौ दो सौ वर्षों की पश्चिम की चिंतना और धारणा ने सारी दुनिया में यह भ्रांति फैला दी है कि शरीर पहले निर्मित होता है, फिर शरीर के भीतर से मन जन्मता है। वह बाई प्रोडक्ट है, इपिफिनामिना है। वह शरीर का ही एक गुण है।
ऐसे ही, जैसे पुराने चार्वाकों ने कहा है कि शराब जिन चीजों से मिलकर बनती है, अगर उनको एक-एक को आप ले लें, तो नशा नहीं चढ़ेगा। उन सबके मिल जाने से नशा बाई प्रोडक्ट की तरह पैदा होता है। नशा का अपना कोई आगमन नहीं है कहीं से। नशा पांच-दस चीजों के मिलने से पैदा हो जाता है। पांच-दस चीजों को अलग कर लें, नशा तिरोहित हो जाता है। और उन पांच-दस चीजों को आप अलग-अलग ले लें, तो भी नशा नहीं चढ़ेगा। तो नशा उनके मिलन से, उनके बीच में पैदा होता है। इसलिए पुराने चार्वाक कहते थे कि मनुष्य का शरीर निर्मित होता है पंच भूतों से और उन पंच भूतों के मिलन से मन निर्मित होता है। मन एक बाई प्रोडक्ट है।
पश्चिम का विज्ञान भी फिलहाल अभी जैसे अज्ञान की स्थिति में है, उसमें वह भी मानता है कि मन जो है, वह शरीर के पीछे पैदा हो गई एक छाया मात्र है। लेकिन पूरब में, जिन्होंने बहुत गहरी खोज की है, उनका कहना है कि मन पहले है और शरीर उसके पीछे छाया की तरह निर्मित होता है।

इसे ऐसा समझें, पहले आपके जीवन में कर्म आता है या पहले वासना आती है? पहले आती है वासना मन में, फिर बनता है कर्म। लेकिन बाहर से कोई अगर देखेगा तो पहले दिखाई पड़ता है कर्म और वासना का अनुमान करना पड़ता है। मेरे भीतर आया क्रोध, मैंने आपको उठकर चांटा मार दिया। क्रोध मेरे भीतर पहले आया--मन पहले--फिर हाथ उठा, शरीर ने कृत्य किया। लेकिन आपको पहले दिखाई पड़ेगा मेरा हाथ और चांटे का पड़ना, पीछे आप सोचेंगे कि जरूर इस आदमी को क्रोध आ गया। पहले शारीरिक घटना दिखाई पड़ेगी, पीछे मन का अनुमान होगा। लेकिन वास्तविक जगत में पहले मन निर्मित होता है, पीछे वास्तविक घटना घटती हुई मालूम होती है।
हमें भी, जब एक बच्चा जन्म लेता है, तो पहले शरीर दिखाई पड़ता है। लेकिन
जो गहरा जानते हैं, वे कहते हैं कि पहले मन है। वही मन इस शरीर को निर्मित करवाता है--वही मन। वही मन इस शरीर को, ढांचे को, व्यवस्था को बनाता है। वह मन ब्लू प्रिंट है। वह बिल्ट इन प्रोग्राम है। इस जनम में जब मैं मरूं, तो मेरा मन एक ब्लू प्रिंट, एक नक्शा लेकर यात्रा करेगा। वही नक्शा नए शरीर को, नए गर्भ को निर्मित करेगा।
और आप हैरान होंगे, साधारणतः हम सोचते हैं कि एक स्त्री और पुरुष संभोग में रत होते हैं, तो जब वे संभोग में रत होते हैं, तब शरीर निर्मित हो जाता है, फिर एक आत्मा प्रवेश कर जाती है। लेकिन गहरे देखने पर पता चलता है कि जब कोई आत्मा प्रवेश करना चाहती है तब दो स्त्री-पुरुष संभोग करने के लिए आतुर होते हैं। लेकिन पहले हमें शरीर दिखाई पड़ता है, मन का तो हम अनुमान करते हैं। मन की तरफ से जिन्होंने गहरी खोज की है, वे कहते हैं कि पहले गर्भातुर, गर्भ लेने के लिए आतुर आत्मा जब आपके आसपास परिभ्रमण करने लगती है, तब संभोग की आतुरता जन्मती है। मन अपना शरीर निर्मित करवाने की चेष्टा करता है।
सांझ आप सोते हैं। कभी आपने ख्याल न किया होगा कि... रात सोते वक्त ख्याल करें, आखिरी विचार जब नींद उतरती हो, उतर ही रही हो, उतर ही गई हो, तब पकड़ें अपने मन में कि आखिरी विचार क्या है। फिर सो जाएं। और जब सुबह नींद टूटे, होश आए, तब तत्काल पहली खोज करें कि सुबह जागने का पहला विचार कौन सा है। तो आप बहुत चकित होंगे। रात जो आखिरी विचार होता है, वही सुबह पहला विचार होता है। रात सोते समय जो चेतना में अंतिम विचार होता है, सुबह जागते समय चेतना में पहला विचार होता है। ठीक ऐसे ही मरते वक्त जो अंतिम वासना होती है, वह जन्म लेते वक्त पहली वासना होती है।
शरीर तो गिर जाता है हर मृत्यु में, लेकिन मन चलता चला जाता है। तो आपके शरीर की उम्र हो सकती है पचास साल हो, लेकिन आपके मन की उम्र पचास लाख साल हो सकती है। आपने जितने जन्म लिए हैं, उन सभी मनों का संग्रह आपके भीतर आज भी मौजूद है, अभी भी मौजूद है। बुद्ध ने उसे बहुत अच्छा नाम दिया है। पहला नाम बुद्ध ने ही उसको दिया। उसे उन्होंने नाम दिया, आलय-विज्ञान। आलय-विज्ञान का अर्थ होता है, स्टोर हाउस आफ कांशसनेस। स्टोर हाउस की तरह आपने जितने भी जन्म लिए हैं, वे सभी स्मृतियां आपके भीतर संगृहीत हैं। आपका मन बहुत पुराना है। और ऐसा भी नहीं है कि आपके पास जो मन है वह सिर्फ मनुष्य-जन्मों का है। अगर आपके पशुओं में जन्म हुए, जो कि हुए; अगर आपके वृक्षों में जन्म हुए, जो कि हुए; तो वृक्षों की स्मृति, पशुओं की स्मृति, वे सभी स्मृतियां आपके भीतर मौजूद हैं। जो लोग आलय-विज्ञान की प्रक्रिया में गहरे उतरते हैं, वे कहेंगे कि अगर किसी व्यक्ति को गुलाब के फूल को देखकर अचानक प्रेम उमड़ता है, तो उसका गहरा कारण, उसका गहरा कारण यही है कि उसके भीतर गुलाब के होने की कोई गहरी स्मृति आज भी शेष है, जो समतुल, जो रिजोनेंस, जो गुलाब को देखकर प्रतिध्वनित हो उठती है।
अगर एक व्यक्ति कुत्ते को बहुत प्रेम किए चला जा रहा है तो यह बिल्कुल आकस्मिक नहीं है। उसके भीतर के आलय-विज्ञान में स्मृतियां हैं, जो उसे कुत्ते के साथ बड़ी सजातीयता, बड़ा अपनापन, बड़ी निकटता का बोध करवाती हैं। हमारे जीवन में जो भी घटता है, वह आकस्मिक नहीं है, एक्सीडेंटल नहीं है।
उसकी गहरी कार्य-कारण की प्रक्रिया पीछे काम करती होती है।
मृत्यु में शरीर गिरता है, लेकिन मन यात्रा करता चला जाता है। और मन संगृहीत होता चला जाता है। इसलिए आपके मन में कई बार ऐसे रूप आपको दिखाई

पड़ेंगे, जिनको आप कहेंगे, ये मेरे नहीं हैं। आपको भी कई बार लगेगा कि कुछ काम आप ऐसे कर लेते हैं जिनको आपको कहना पड़ता है, इनस्पाइट आफ मी, मेरे बावजूद हो गया।
एक आदमी का किसी से झगड़ा होता है और वह दांत से उसकी चमड़ी काट लेता है। पीछे वह सोचता है कि मैं और दांत से चमड़ी काट सका! मैं कोई जंगली जानवर हूं? आज वह नहीं है, कभी वह था। और किसी क्षण में उसके भीतर की स्मृति इतनी सक्रिय हो सकती है कि वह बिल्कुल पशु जैसा व्यवहार करे। हममें से सभी लोग अनेक मौकों पर पशुओं जैसा व्यवहार करते हैं। वह व्यवहार आसमान से नहीं उतरता, हमारे भीतर के ही चित्त के संग्रह से आता है।
हमारी मृत्यु सिर्फ हमारे शरीर की मृत्यु है, संकल्पात्मक मन मरता नहीं। इसलिए ऋषि को मजाक का मौका न होता, अगर मृत्यु हो रही होती। इसलिए मैं आपसे कहना चाहता हूं कि यह सूत्र समाधि के क्षण का है। समाधि के साथ एक भेद है कि समाधि की पूर्वघोषणा हो सकती है। क्योंकि मृत्यु आती है, समाधि लाई जाती है। मृत्यु घटती है, समाधि का आयोजन करना पड़ता है। एक-एक कदम ध्यान का उठाकर आदमी समाधि तक पहुंचता है।
यह भी आप ख्याल रख लें कि समाधि शब्द बड़ा अच्छा है। कब्र के लिए भी कभी
आप समाधि बोलते हैं। साधु मर जाता है तो उसकी कब्र को समाधि कहते हैं। सच है यह बात। समाधि एक तरह की मृत्यु है। बड़ी गहरी मृत्यु है। शरीर तो शायद वही रह जाता है, लेकिन भीतर जो मन था वह विनष्ट हो जाता है।
उस मन के विनष्ट होने के क्षण में ऋषि कह रहा है कि हे मेरे संकल्पात्मक मन, अपने किए हुए का स्मरण कर, अपने किए हुए का स्मरण कर। क्यों? इसलिए कि इसी मन ने कितने धोखे दिए। और यह मन आज खुद ही नष्ट हुआ जा रहा है। जिस मन को हमने समझा मेरा है, जिसके आधार पर जीए और मरे। जिसके आधार पर काम किए, हारे और जीते। जिसके आधार पर जय और पराजय की आकांक्षाएं बांधीं। जिसके आधार पर सुखी और दुखी हुए। सोचा था कि जो सदा साथ देगा, आज वही धोखा दिए जा रहा है। जिसके कंधे पर हाथ रखकर इतनी लंबी यात्रा की, आज पाया कि वह कंधा भी विदा हो रहा है। जिस नाव को समझा था कि नाव है, आज पाया कि वह भी पानी ही सिद्ध हुई और नदी में मिली जा रही है।
इस क्षण में, इस क्षण में ऋषि कहता है, मेरे संकल्पात्मक मन, अब स्मरण
कर अपने किए हुओं का, अपने किए हुए कर्मों का। अपने सोचे हुए कर्मों का। स्मरण कर--कैसे तूने वायदे किए थे! क्या तेरे प्रामिसेज थीं, क्या तेरा आश्वासन था! कितने तेरे भरोसे थे! तूने मुझसे क्या-क्या करवा लिया! और तूने मुझे, क्या-क्या कर रहा हूं, इसका भ्रम दिया। और तूने कैसे-कैसे स्वप्न मुझसे निर्मित करवाए। और कैसी विक्षिप्तताएं मुझसे करवाईं। और अब तू खुद विदा हुआ जा रहा है। और अब मैं एक ऐसे लोक में प्रवेश करता हूं, जहां तू नहीं होगा। लेकिन अब तक तूने सदा मुझसे यही कहा था कि जहां संकल्प नहीं होगा, वहां तुम नहीं होओगे। लेकिन आज मैं देखता हूं कि तू तो विदा हो रहा है, लेकिन मैं पूरा का पूरा हूं।
मन सदा कहता है कि अगर संकल्प न रहा तो मिट जाओगे। टिक न पाओगे जिंदगी
के संघर्ष में। अगर अहंकार न रहा तो खो जाओगे। बच न सकोगे, सरवाइवल न होगा। मन सदा कहता है--पुरुषार्थ करो, संकल्प करो, लड़ो। नहीं लड़ोगे तो बचोगे नहीं। संघर्ष नहीं करोगे तो मिट जाओगे।
निश्चित, ऋषि आज मजाक करे तो स्वाभाविक है। वह मन से कहे कि तू तो खुद मिटा जा रहा है, लेकिन मैं तो पूरा का पूरा शेष हूं। तू खो रहा है, मैं नहीं खो रहा हूं। लेकिन अब तक तूने यही धोखा दिया था कि तू नहीं होगा तो मैं नहीं बचूंगा। आज तू तो जा रहा है और मैं बच रहा हूं।
इस, इस घड़ी को ऋषि व्यंग्य बनाए, दो कारणों से--एक तो अपने मन के लिए और
एक उनके मन के लिए भी, जो अभी समाधि के द्वार तक तो नहीं पहुंचे हैं, लेकिन कर्म कर रहे होंगे। जिनका मन अभी यह कह रहा होगा, यह करो, यह करो। अगर यह न कर पाए तो तुम्हारी जिंदगी व्यर्थ है। अगर यह महल न बना तो बेकार हो गया। अगर इस पद पर न पहुंचे तो क्या तुम्हारा अर्थ रहा। अगर तुमने यह पुरुषार्थ सिद्ध न किया तो तुम दो कौड़ी के हो। तुम्हारा जीवन व्यर्थ गया, निष्प्रयोजन हुआ। जिनके मन अभी यह कहे जा रहे होंगे, उनको भी ऋषि व्यंग्य कर रहा है। उनसे भी कह रहा है कि एक दफा फिर से सोच लेना।

मन सबसे बड़ा धोखा है। मन सबसे बड़ी प्रवंचना है। हमारी सारी प्रवंचना
मन से ही आविर्भूत होती है। हम सब शेखचिल्लियों से ज्यादा नहीं हैं। और मन इतना कुशल है कि कभी भी इस सतह तक हमें गहरे में नहीं देखने देता कि हमें पता चल जाए कि हम धोखा खा रहे हैं। इसके पहले कि पता चले, मन नया धोखा निर्मित कर देता है। इसके पहले कि पुराना धोखा टूटे, मन नए धोखे के भवन बना देता है। और कहता है, यहां आ जाओ, यहां विश्राम करो। एक आकांक्षा पूरी होती है, अगर मन एक क्षण भी गैप दे दे, एक क्षण भी अंतराल दे दे, तो आपको पता चल जाए कि जिस वासना को पूरा करने के लिए इतनी पीड़ा झेली, वह पूरा करके कुछ भी नहीं हाथ में आया। राख भी हाथ में नहीं आई।
लेकिन मन इतना अंतराल नहीं देता, इतना मौका नहीं देता। इधर एक आकांक्षा पूरी भी नहीं हो पाती कि मन दूसरी आकांक्षा के बीज बोना शुरू कर देता है। इधर एक आकांक्षा पूरी होकर व्यर्थ होती है कि नए अंकुर वासना के मन खड़े कर देता है। दौड़ फिर पुनः शुरू हो जाती है। कभी भी मौका नहीं देता विश्राम का, विराम का कि आप देख पाएं कि किस धोखे में पड़े हैं। पैर के नीचे से जमीन का एक टुकड़ा हटता है तो गड्ढे को नहीं देखने देता, नया जमीन का टुकड़ा दे देता है कि इसके सहारे खड़े रहो।
बुद्ध एक छोटी सी और बड़ी मीठी कहानी कहा करते थे, वह मैं आपसे कहूं। सुनी भी होगी। लेकिन शायद इस अर्थ में सोची नहीं होगी। बुद्ध कहते थे, भाग रहा है एक आदमी जंगल में। दो कारणों से आदमी भागता है। या तो आगे कोई चीज खींचती हो, या पीछे कोई चीज धकाती हो। या तो आगे से कोई पुल--खींचता हो, या पीछे से कोई पुश--धक्का देता हो। वह आदमी दोनों ही कारणों से भाग रहा था। गया था जंगल में हीरों की खोज में। कहा था किसी ने कि हीरों की खदान है। इसलिए दौड़ रहा था। लेकिन अभी-अभी उसकी दौड़ बहुत तेज हो गई थी, क्योंकि पीछे एक सिंह उसके लग गया था। हीरे तो भूल गए थे, अब तो किसी तरह इस सिंह से बचाव करना था। भाग रहा था बेतहाशा, और उस जगह पहुंच गया, जहां आगे रास्ता समाप्त हो गया था। गड्ढ था भयंकर, रास्ता समाप्त था। लौटने का उपाय न था।
लौटने को उपाय कहीं भी नहीं है--किसी जंगल में और किसी रास्ते पर। और चाहे हीरों के लिए भागते हों और चाहे कोई मौत पीछे पड़ी हो, इसलिए भागते हों, लौटने का कोई उपाय कहीं भी नहीं है। असल में लौटने के लिए रास्ता बचता ही नहीं। समय में सब पीछे के रास्ते नीचे गिर जाते हैं। पीछे नहीं लौट सकते, एक इंच पीछे नहीं लौट सकते।
वह भी नहीं लौट सकता था, क्योंकि पीछे सिंह लगा था। और सामने रास्ता समाप्त हो गया था। बड़ी घबराहट में, कोई उपाय न देखकर, जैसा निरुपाय आदमी करे, वही उसने किया। गड्ढ में लटक गया एक वृक्ष की जड़ों को पकड़कर। सोचा कि तब तक सिंह निकल जाए, तो निकलकर वापस आ जाए। लेकिन सिंह ऊपर आ गया और प्रतीक्षा करने लगा। सिंह की भी अपनी वासना है। कभी तो ऊपर आओगे।
जब देखा कि सिंह ऊपर खड़ा है और प्रतीक्षा करता है, तब उस आदमी ने नीचे झांका। नीचे देखा कि एक पागल हाथी चिंघाड़ रहा है। तब उसने कहा कि अब कोई उपाय नहीं है। उस आदमी की स्थिति हम समझ सकते हैं, कैसे संताप में पड़ गया होगा! लेकिन इतना ही नहीं, संताप जिंदगी में अनंत हैं। कितने ही आ जाएं तो भी कम हैं। जिंदगी और भी दे सकती है। तभी उसने देखा कि जिस शाखा को वह पकड़े है, वह कुछ नीचे झुकती जाती है। ऊपर आंखें उठाईं तो दो चूहे उसकी जड़ों को काट रहे हैं। बुद्ध कहते थे, एक सफेद चूहा था, एक काला चूहा था। जैसे दिन और रात आदमी की जड़ों को काटते चले जाते हैं। तो हम समझ सकते हैं कि उसके प्राण कैसे संकट में पड़ गए होंगे।
लेकिन नहीं, आदमी की वासना अदभुत है। और आदमी के मन की प्रवंचना का खेल अदभुत है। तभी उसने देखा कि ऊपर मधुमक्खी का एक छत्ता है और मधु की एक-एक बूंद टपकती है। फैलाई उसने जीभ अपनी, मधु की एक बूंद जीभ पर टपकी। आंख बंद की और कहा, धन्यभाग, बहुत मधुर है। उस क्षण में न ऊपर सिंह रहा, न नीचे चिंघाड़ता हाथी रहा, न जड़ों को काटते हुए चूहे रहे। न कोई मौत रही, न कोई भय रहा। एक क्षण को वह मधुर... । कहा उसने, बहुत मधुर है, मधु बहुत मधुर है! बुद्ध कहते थे, हर आदमी इसी हालत में है, लेकिन मन मधु की एक-एक बूंद टपकाए चले जाता है। आंख बंद करके आदमी कहता है, बहुत मधुर है। स्थिति यही है, सिचुएशन यही है। पूरे वक्त यही है। नीचे भी मौत है, ऊपर भी मौत है। जहां

जिंदगी है, वहां सब तरफ मौत है। जिंदगी सब तरफ मौत से घिरी है। और प्रतिपल जीवन की जड़ें कटती जा रही हैं अपने आप। जीवन रिक्त हो रहा है, चुक रहा है-- एक-एक दिन, एक-एक पल। और जीवन की... जैसे कि रेत की घड़ी होती है और एक-एक क्षण रेत नीचे गिरती चुकती जाती है। ऐसे ही जीवन से समय चुकता जाता है और जीवन खाली होता चला जाता है। लेकिन फिर भी एक बूंद गिर जाए मधु की, स्वप्न निर्मित हो जाते हैं, आंख बंद हो जाती है। मन कहता है, कैसा मधुर है! और जब तक एक बूंद चुके, समाप्त हो, तब तक दूसरी बूंद टपक जाती है। मन प्रवंचना की बूंदें टपकाए चला जाता है।
इसलिए ऋषि कहता है, हे मेरे संकल्पात्मक मन, कितने धोखे, कितनी प्रवंचनाएं तूने दीं। अब तू उन सबका एक बार स्मरण कर। एक बार स्मरण कर ले, जो तूने किया, जो तू सोचता था, कर रहा है। जिसका तू कर्ता बना था। और आज तू समाप्त हुआ जाता है, शून्य हुआ जाता है, मिटा जाता है।
समाधि के द्वार पर मन शून्य हो जाता है, विचार बंद हो जाते हैं, चित्त
के कल्प-विकल्प विलीन हो जाते हैं। चित्त की तरंगें निस्तरंग हो जाती हैं। मन होता ही नहीं। जहां मन नहीं है, वहीं समाधि है।
मैंने कहा कि समाधि का एक अर्थ तो साधु मर जाए तो उसकी कब्र को हम कहते हैं समाधि। समाधि का दूसरा अर्थ है, समाधि का अर्थ है, जहां समाधान है। जहां कोई समस्या नहीं है। यह भी बड़े मजे की बात है कि जहां मन है, वहां समस्या और समस्या और समस्या--समाधान कभी भी नहीं है। मन समस्याओं को पैदा करने की बड़ी कीमिया है। जैसे वृक्षों पर पत्ते लगते हैं, ऐसे मन में समस्याएं लगती हैं। समाधान कभी नहीं लगता। मन के तल पर कोई समाधान कभी भी नहीं है। जहां मन खो जाता है वहां समाधान है।
इसलिए जब कोई आकर मुझसे कहता है कि मेरे मन को समाधान करवा दें, तो मैं उससे कहता हूं कि तुम इस झंझट में न पड़ो। मन को कभी समाधान न करवा पाओगे। मन को छोड़ो तो समाधान हो पाए।
एक मित्र आज सांझ को ही मुझसे कह रहे थे कि मैं लोभ से कैसे मुक्त हो जाऊं? मैंने कहा, न हो सकोगे। क्योंकि तुम ही लोभ हो। जब तक तुम हो, तब तक लोभ से मुक्त न हो सकोगे। तुम न हो जाओ, लोभ नहीं रह जाएगा।
मन का कभी समाधान नहीं होता। मन नहीं होता, तब समाधान होता है। इसलिए कहते हैं उसे समाधि। जहां सब समाधान आ गया, जहां कोई समस्या न रही। जब तक मन है, तब तक समस्या बनाए ही चला जाएगा। एक समस्या हल करेंगे, दूसरी समस्या निर्मित करेगा। और एक समाधान अगर कोई देगा, तो दस समस्याएं उस समाधान में से निर्मित करेगा।
एक मित्र आए दो दिन पहले। मुझे उन्होंने पत्र लिखा था कि आता हूं शिविर में। चित्त में बड़ी अशांति है। आए। तीन दिन के प्रयोग ने अशांति को तिरोहित किया। तीन दिन बाद मेरे पास आए और कहने लगे, अशांति तो चली गई, लेकिन यह शांति कहीं धोखा तो नहीं है? मन ने... मैंने उनसे पूछा कि अशांति धोखा नहीं है, ऐसा कभी मन ने कहा था कि नहीं? उन्होंने कहा, मन ने ऐसा कभी नहीं कहा। कितने दिन से अशांत हैं? तो उन्होंने कहा कि सदा से अशांत हूं। लेकिन मन ने कभी यह नहीं कहा कि अशांति धोखा तो नहीं है! अभी तीन दिन से शांत हुए, तो मन कहता है, कहीं शांति धोखा तो नहीं है!
बहुत अदभुत मन है। अगर परमात्मा भी आपके मन को मिल जाए तो मन कहेगा, पता नहीं, असली है कि नकली--अगर मन हो मौजूद। इसीलिए परमात्मा मन के रहते मिलता नहीं। क्योंकि मन उसको बड़ी दिक्कत में डालेगा। मन को आनंद भी मिल जाए तो भी संदिग्ध होता है, पता नहीं, है या नहीं। मन संदेह निर्मित करता है, शंकाएं निर्मित करता है, समस्याएं निर्मित करता है, चिंताएं निर्मित करता है। फिर भी मन को हम इतने जोर से क्यों पकड़ते हैं? अगर मन सारी बीमारियों की जड़ है, जैसा कि समस्त जानने वाले कहते हैं, तो फिर हम मन को इतने जोर से क्यों पकड़े हुए हैं?
वही कारण है, जिससे ऋषि व्यंग्य कर रहा है। मन को हम इसलिए जोर से पकड़े हैं कि हमको डर है कि अगर मन नहीं रहा तो हम न रहेंगे। असल में हमने जाने- अनजाने में मन को अपना होना समझ रखा है। आइडेंटिटी कर रखी है। समझ लिया है कि मैं मन हूं। जब तक आप समझेंगे कि मैं मन हूं, तब तक आप समस्त बीमारियों को पकड़े बैठे रहेंगे, छाती से लगाए बैठे रहेंगे।

आप मन नहीं हैं। आप तो वह हैं, जो मन को भी जानता है, जो मन को भी देखता है, जो मन को भी पहचानता है। पीछे हटना पड़ेगा थोड़ा मन से। थोड़ा दूर होना होगा। थोड़ा पार उठना पड़ेगा। जरा किनारे खड़े होकर मन की धारा को देखना पड़ेगा कि वह रही मन की धारा। आप मन नहीं हैं, लेकिन समझा हमने यही है कि मैं मन हूं। जब तक आप समझे हैं कि मैं मन हूं, तब तक आप मन को छोड़ेंगे कैसे? क्योंकि वह तो प्राणघाती हो जाएगी बात। मन को छोड़ना मतलब मरना हो जाएगा। तो फिर आप मन को नहीं छोड़ सकेंगे। मन को वही छोड़ सकता है, जो जान ले कि मैं मन नहीं हूं।
समाधि का पहला चरण यह अनुभव है कि मैं मन नहीं हूं। जब यह अनुभव गहरा होने लगता है और इतना गहरा हो जाता है कि यह आपकी स्पष्ट अनुभूति हो जाती है कि मैं मन नहीं हूं, जिस दिन यह अनुभूति पूर्ण होती है, उसी दिन मन तिरोहित हो जाता है। मन उस दिन उसी तरह तिरोहित हो जाता है, जैसे किसी दीए का तेल चुक जाए। दीए का तेल चुक जाए तो भी थोड़ी देर बाती जलेगी, थोड़ी देर। बाती में थोड़ा तेल चढ़ गया होगा इसलिए। लेकिन दीए का तेल चुक जाए तो बाती थोड़ी देर जलेगी चढ़े हुए तेल से, पर थोड़ी ही देर।
वही स्थिति है ऋषि की। तेल चुक गया है। जान लिया ऋषि ने कि मैं मन नहीं हूं। लेकिन बाती में जो थोड़ा सा तेल चढ़ गया है, अभी ज्योति जल रही है। इस आखिरी जलती और अंतिम समय में बुझती ज्योति से ऋषि कहता है, तूने मुझे धोखा दिया था कि सदा साथ देगी और प्रकाश देगी। तेरा तो बुझने का क्षण आ गया! अब मैं देखता हूं कि तेल तो चुक गया है, कितनी देर जलेगा मेरा संकल्पात्मक मन? अब तो सारी बात समाप्त हुई जाती है। लेकिन फिर भी मैं हूं। तो अपने ही विदा होते मन को वह कह रहा है कि मैं था, मैं सदा तुझसे अलग था, लेकिन सदा मैंने तुझे अपने साथ एक समझा। वही मेरी भ्रांति थी। वही संसार था। वही माया थी।
अपने से तो कह ही रहा है, मैंने आपसे कहा कि आपसे भी कह रहा है। शायद-- शायद आपको भी ख्याल आ जाए। लौटकर देखें तो शायद ख्याल आ जाए। बीस साल पहले लौट जाएं, बच्चे थे। क्लास में प्रथम आने की कैसी आकांक्षा थी भारी। रात-रात नींद न आती थी। परीक्षा प्राणों पर संकट मालूम पड़ती थी। लगता था कि सब कुछ इसी पर टिका है। आज न कोई परीक्षा रही, न क्लास रही। लौटकर याद करें। लौटकर याद करें, क्या फर्क पड़ा कि प्रथम आए थे कि द्वितीय, कि तृतीय, कि बिल्कुल नहीं आए थे। क्या फर्क पड़ा? आज कोई याद भी नहीं आती।
दस साल पीछे लौटें। किसी से झगड़ा हो गया है, लगता है कि जीवन-मरण का सवाल है। आज दस साल बाद बात ऐसे हो गई, जैसे पानी पर खींची गई रेखाएं मिट गई हैं। किसी ने राह में गाली दे दी थी तो ऐसा लगा था कि अब कैसे बचेंगे? बचे हैं भली तरह। गाली भी नहीं है, कुछ पता भी नहीं है, आज कोई याद भी नहीं आता। आज लौटकर वापस देखें, कितना मूल्य दिया था उस क्षण! उतना मूल्य रह गया है कुछ? कुछ भी मूल्य नहीं रह गया। आज जिस चीज को मूल्य दे रहे हैं, ध्यान रखना, कल इतनी ही निर्मूल्य हो जाएगी। इसलिए आज भी बहुत मूल्य मत देना। कल के अनुभव से आज भी मूल्य को खींच लेना।
ऋषि समस्त अनुभवों के आधार पर कह रहा है कि तेरे ऊपर मैंने बहुत मूल्य दिया संकल्पात्मक मन। आज आखिरी विदा में तुझसे कहता हूं कि धोखा था, वंचना थी, मूढ़ता थी। मैं तुझसे अलग था, अलग हूं। इस क्षण में जब मन विलीन होता है, तो सब विलीन हो जाता है। क्योंकि मन के आधार पर ही सब जुड़ा है। मन जो है, वह न्यूक्लियस है। उसके ऊपर ही सारे जीवन का चाक घूमता है। इसलिए ऋषि कह रहा है, वायु वायु में लीन हो जाएगी, अग्नि अग्नि में लीन हो जाएगी, आकाश आकाश में खो जाएगा। सब खो जाएगा। क्योंकि वह जो जोड़ने वाला मन है, अब वही खो रहा है।
बुद्ध को जिस दिन ज्ञान हुआ, उन्होंने एक अदभुत बात कही। जिस दिन पहली बार उनका मन मिटा और वह मन-शून्य दशा में प्रविष्ट हुए, उस दिन उन्होंने भी ठीक ऐसी ही बात कही, जैसा उपनिषद के इस ऋषि ने कही है। उन्होंने कहा कि मेरे मन, अब तुझे विदा देता हूं। अब तक तेरी जरूरत थी, क्योंकि मुझे शरीर रूपी घर बनाने थे। लेकिन अब मुझे शरीर रूपी घर बनाने की कोई जरूरत न रही, अब तू जा सकता है। अब तक मुझे जरूरत थी, शरीर बनाना पड़ता था, तो वह मन के आर्किटेक्ट को, वह मन के इंजीनियर को पुकारना पड़ता था। उसके बिना कोई शरीर

का घर नहीं बन सकता था। आज तुझे विदा देता हूं, क्योंकि अब मुझे शरीर के बनाने की कोई जरूरत न रही। अब मुझे अपना परम निवास मिल गया है, अब मुझे कोई घर बनाने की जरूरत न रही। अब मैं वहीं पहुंच गया हूं, जो मेरा घर है। अब मुझे बनाने की कोई जरूरत न रही। अब मैं असृष्ट स्वरूप के घर में पहुंच गया हूं। स्वयं में पहुंच गया हूं, निजता में, अब मुझे कोई घर बनाने की जरूरत न रही। अब मन तू जा सकता है।
साधक के लिए ऐसे सूत्र कीमत के हैं। कंठस्थ करने से फायदा नहीं है। हृदयस्थ करने से फायदा है। कंठस्थ कर लें, याद कर लें, रोज दोहरा दें, बासे पड़ जाएंगे। धीरे-धीरे अर्थ भी खो जाएगा। धीरे-धीरे शब्द ही रह जाएंगे-- मुर्दा, अर्थहीन। लेकिन अगर हृदय तक पहुंच जाए बात, समझ में आ जाए यह बात-- इंटलेक्चुअल अंडरस्टैंडिंग नहीं, केवल बौद्धिक समझ नहीं--यह प्राणगत समझ में आ जाए कि सच ही यह मन सिवाय धोखे के और कुछ भी नहीं है, तो आपकी जिंदगी एक नई यात्रा पर, एक नई क्रांति में प्रवेश कर जाएगी।
मैं यदि इन सूत्रों पर बोल रहा हूं तो इसलिए नहीं कि ये सूत्र आपकी समझ में आ जाएं, आप थोड़े ज्यादा ज्ञानवान हो जाएं। नहीं, आप जरूरत से ज्यादा ज्ञानवान पहले ही हैं। आपके ज्ञान में बढ़ती की अब कोई भी जरूरत नहीं है। मैं बोल रहा हूं इसलिए इन सूत्रों पर कि आपको जीवन की वास्तविकता का स्मरण आ जाए, रिमेंबरिंग आ जाए, यह होश आ जाए कि हम जैसे जी रहे हैं, कहीं ये सूत्र उस जीने के बाबत भी कोई प्रकाश डालते हैं!
च्वांगत्से चीन में एक फकीर हुआ। एक सांझ निकलता है एक मरघट से। किसी
की खोपड़ी पैर में लग जाती है। शिष्य उसके साथ हैं। च्वांगत्से खोपड़ी को उठाकर सिर से लगाकर बार-बार क्षमा मांगने लगता है कि मुझे माफ कर दे। हे भाई, मुझे माफ कर दे!
उसके शिष्यों ने कहा कि आप कैसी बात कर रहे हैं! हमने सदा आपको बुद्धिमान जाना। आप यह क्या पागलपन कर रहे हैं? च्वांगत्से ने कहा कि तुम्हें पता नहीं है, यह छोटे लोगों का मरघट नहीं है, यह बड़े लोगों का मरघट है। यहां गांव के जो बड़े आदमी हैं, वे दफनाए जाते हैं। उन्होंने कहा, कोई भी हो, बड़ा हो कि छोटा हो, मौत सबको बराबर कर देती है।
मौत तो बहुत कम्युनिस्ट है, एकदम समान कर देती है।
पर च्वांगत्से ने कहा कि नहीं, माफी तो मांगनी ही पड़ेगी। अगर यह आदमी जिंदा होता, तो पता नहीं आज मेरी क्या हालत होती। पर उन्होंने कहा, यह आदमी जिंदा नहीं है। इसलिए तुम चिंता मत करो। पर च्वांगत्से उस खोपड़ी को घर ले आया और अपने कमरे में अपने बिस्तर के पास ही रखने लगा। जो भी आता, वही चौंककर देखता कि यह खोपड़ी यहां क्यों है? च्वांगत्से कहता कि मेरा जरा पैर लग गया था। अब यह आदमी मर गया है, अब बड़ी मुश्किल है। माफी किससे मांगूं? तो इसकी खोपड़ी ले आया हूं, रोज इससे माफी मांगता हूं कि शायद सुनाई पड़ जाए। लोग कहते, आप कैसी बातें कर रहे हैं! तो च्वांगत्से कहता कि इसलिए भी
इस खोपड़ी को ले आया हूं कि इसे देखकर मुझे रोज ख्याल बना रहता है कि आज नहीं कल अपनी भी खोपड़ी किसी मरघट पर ऐसी ही पड़ी होगी। लोगों की ठोकरें लगेंगी। कोई माफी भी मांगेगा तो हम माफ करने की हालत में भी नहीं होंगे, नाराज होने की तो बात अलग है। तो जिस दिन से इस खोपड़ी को लाया हूं, अपनी खोपड़ी के बाबत बड़ी समझ पैदा हुई है। अब अगर कोई मेरी खोपड़ी को लात मार जाए, तो मैं इस खोपड़ी की तरफ देखकर शांत रहूंगा।
यह एक्झिस्टेंशियल अंडरस्टैंडिंग हुई। यह अस्तित्वगत समझ हुई, बौद्धिक नहीं। इसका परिणाम हो गया। यह आदमी बदल गया।
यह सूत्र आपके हृदय तक पहुंच जाए और जब आप कोई कर्म कर रहे हों या कर्म
की योजना बना रहे हों और मन कह रहा हो कि ऐसा करो, कि यह इलेक्शन आ रहा है, इसमें लड़ो और जीत जाओ... । जैसे यह सूत्र मोरारजी को दे देना चाहिए--अभी मन बड़े संकल्प कर रहा होगा। वह मरते दम तक करता चला जाता है संकल्प। हालांकि किसी चीज से कुछ मिलता नहीं। अब मोरारजी डिप्टी कलेक्टर से लेकर डिप्टी प्राइम मिनिस्टर तक की यात्रा कर लिए। उससे कोई हल नहीं होता। आगे भी कितनी यात्रा करें, कुछ हल नहीं होगा।
पर मन हारे तो मुसीबत में डालता है, जीते तो मुसीबत में डालता है। मन
की हालत जुआरी जैसी है। जुआरी हार जाए तो सोचता है, एक दांव और लगा लूं,

शायद जीत जाऊं। और जीत जाए तो सोचता है कि अब चूकना ठीक नहीं है, एक दांव और लगा लूं, जब जीत ही रहा हूं। इसलिए जुआरी कभी जीतकर नहीं लौटता। जीतता है तो और लगाता है, क्योंकि जीतने से आशा बढ़ जाती है। जब तक हार न जाए, तब तक जीतना कहता है, और दांव लगा लूं। हार जाए तो मन कहता है कि हार गए। हारकर लौटना उचित है कहीं! एक दांव और देख लो। कौन जाने जीत हो जाए!
मन जुआरी की तरह है। इस सूत्र को स्मरण रखना। जब मन दांव लगाने की बात करे, हार-जीत की बात करे, तब कहना कि हे मेरे संकल्पात्मक मन, अपने किए हुए का स्मरण कर। इससे कर्म के प्रति जो भारी लगाव है वह क्षीण होगा, और कर्ता होने की जो जड़ता है वह टूटेगी। और समाधि की ओर कदम बढ़ सकेंगे। ध्यान की ओर यात्रा हो सकेगी।
ध्यान रखें, मन के साथ मूर्च्छा नहीं चलेगी। मन के साथ बेहोशी नहीं चलेगी। अगर आप बेहोश ही चले जाते हैं मन के साथ, मूर्च्छित ही चले जाते हैं मन के साथ, तो मन पुनरुक्त करता रहेगा वही, जो उसने कल किया था। यह बात आपसे कहना चाहूंगा, शायद आपके ख्याल में न हो कि आपका मन कोई नए काम नहीं करता। बस, उन्हीं-उन्हीं कामों को पुनरुक्त करता चला जाता है।
कल भी क्रोध किया था, परसों भी क्रोध किया था। और मजा यह है कि परसों क्रोध करके भी पछताए थे कि अब न करेंगे। और कल भी क्रोध करके पछताए थे कि अब न करेंगे। आज भी क्रोध किया है और आज भी पछताए हैं कि अब न करेंगे। क्रोध भी पुराना है, पश्चात्ताप भी पुराना है। रोज उसको दोहराए चले जाते हैं। अगर क्रोध न छूटता हो तो कम से कम पश्चात्ताप ही छोड़ दें। कहीं से तो पुराना टूटे। लेकिन नहीं, क्रोध भी जारी रहेगा, पश्चात्ताप भी जारी रहेगा। वही-वही दोहरता रहेगा। पूरी जिंदगी एक रिपीटीशन है। कोल्हू के बैल से भिन्न नहीं है। लेकिन कोल्हू के बैल को भी शक पैदा होता होगा कि बड़ी यात्रा कर रहे हैं। क्योंकि आंखें तो बंधी होती हैं, पैर चलते रहते हैं, तो कोल्हू के बैल को भी ख्याल तो आता ही होगा कि कितना चल चुके! न मालूम पृथ्वी की यात्रा कर ली, कहां पहुंच चुके!
मन भी कोल्हू के बैल की तरह चलता है वर्तुल में। वही कर रहे हैं आप रोज। अगर एक आदमी अपनी जिंदगी की डायरी रखे, लेखा-जोखा रखे, तो बहुत चकित होगा कि मैं मशीन तो नहीं हूं? वही-वही दोहराए चला जा रहा है! वही सुबह है, वही उठना है, वही सांझ है! अगर पति-पत्नी बीस साल साथ रह लेते हैं, तो पति सांझ को देर से लौटकर घर में क्या कहेगा, पत्नी पहले से जानती है। बीस साल का अनुभव! पति जो भी कहेगा, उसका क्या परिणाम पत्नी पर होगा, वह पति जानता है। फिर भी पति वही कहेगा और पत्नी वही कहेगी।
इस तरह मन की यांत्रिकता में जो डूबकर, मूर्च्छित होकर चल रहा है, उसे कितने ही अवसर मिलें, वह सारे अवसर चूक जाएगा। अवसर हमें कम नहीं मिलते। अवसर बहुत हैं। लेकिन हम हर अवसर चूक जाते हैं। हम अवसर चूकने में कुशल हैं। जिंदगी रोज मौका देती है कि तुम नए हो जाओ, मत करो पुराना। लेकिन हम फिर पुराना करते हैं।
क्यों, यह क्यों होता होगा ऐसा? यह अपने किए हुए का स्मरण कर, यह सूत्र हमारे ख्याल में नहीं है। जब आप कल क्रोध करें तो क्रोध करने के पहले अपने मन से कहना कि हे मेरे मन, अपने पहले किए हुए क्रोधों का स्मरण कर! पहले इसको कह लेना। फिर दो क्षण रुककर अपने पहले किए हुए क्रोधों का स्मरण कर लेना। और मैं आपसे कहता हूं कि आप क्रोध करने में असमर्थ हो जाएंगे। जब कल मन फिर वासना से भर जाए, तब अपने मन को कहना कि हे मेरे संकल्पात्मक मन, अपनी पहले की हुई वासनाओं का स्मरण कर! पहले उनका स्मरण कर ले। नई यात्रा पर निकलने के पहले पुराने अनुभव को ख्याल में ले ले। नहीं, फिर आप यात्रा पर नहीं निकल पाएंगे। वासना वहीं ठिठककर खड़ी हो जाएगी। इतना होश काफी है मन की यांत्रिकता को तोड़ देने के लिए।
गुरजिएफ ने लिखा है अपने संस्मरणों में कि मेरा पिता मर रहा था। उसके
एक वचन ने मेरी पूरी जिंदगी बदल दी। मरता था पिता। गुरजिएफ तो बहुत छोटा था। घर में सबसे छोटा लड़का था। बाप तो बहुत बूढ़ा था। सब बेटों को बाप ने अपने पास बुलाकर कान में मरते वक्त कुछ कहा। सबसे छोटे बेटे को भी बुलाया। उसको कहा कि झुक आ मेरे पास और एक बात तुझसे कह जाता हूं, वह भर स्मरण रखना। मेरे पास तुझे देने को और कोई संपत्ति नहीं है। भोला लड़का, उसने कान झुका

लिया। बाप ने उससे कहा कि एक बात का वचन मुझे दे दे कि जब भी कोई बुरा काम करने का सवाल उठे, तो तू चौबीस घंटे रुककर करना। करना जरूर। लेकिन चौबीस घंटे रुक जाना। वह मेरे से वायदा कर। क्रोध करना हो, बिल्कुल करना। मैं मना नहीं करता हूं। लेकिन चौबीस घंटे रुककर करना। किसी की हत्या करनी हो, बिल्कुल करना। लेकिन चौबीस घंटे रुककर करना। उसके बेटे ने पूछा, लेकिन इसका मतलब क्या है? तो उसके बाप ने कहा कि इससे तू अच्छी तरह से कर सकेगा। चौबीस घंटे रुक जाएगा तो ठीक से नियोजना, योजना बना सकेगा, प्लानिंग कर सकेगा। और भूल-चूक कभी नहीं होगी, यह मेरी जिंदगी का अनुभव है। इसको मैं तुझे दे जाता हूं।
गुरजिएफ ने लिखा है कि वह एक बात मेरी जिंदगी बदल गई। क्योंकि चौबीस घंटे के बाद तो बहुत देर की बात हो गई, चौबीस क्षण भी अगर कोई बुराई करने में ठहर जाए, तो नहीं कर पाता है। चौबीस क्षण भी।
क्रोध जब आपको आए, आप घड़ी देखने लगें, और कहें कि एक मिनट घड़ी देख लूं, फिर करूंगा। एक मिनट घड़ी का कांटा देख लें। जब सेकेंड का कांटा पूरे साठ सेकेंड का चक्कर लगा ले, तब घड़ी नीचे करके क्रोध शुरू कर दें। आप क्रोध नहीं कर पाएंगे। स्मरण आ गया, पिछले किए हुए... उस एक साठ सेकेंड के बीच में पिछले किए हुए क्रोधों की सारी झलक और प्रतिबिंब लौट आएगा। वे सारे पश्चात्ताप, वे सारी कसमें जो खाई थीं, वे सब निर्णय कि अब नहीं करूंगा, वे सब दोहर जाएंगे।
लेकिन बुराई करने में हम इतना नहीं रुकते। हां, भलाई करने में हम जरूर रुकते हैं।
एक मित्र को संन्यास लेना है। वह आज आए थे। वह कहने लगे कि मेरा जन्मदिन आ रहा है दो-तीन महीने बाद--तब। अगर क्रोध करना हो तो जन्मदिन तक कोई नहीं रुकता, संन्यास लेना हो तो जन्मदिन तक! मैंने उनसे कहा कि पक्का है? ऐसा तो नहीं होगा कि अगली बार तुम कहो कि मृत्युदिन जब आएगा तब लूंगा! जन्मदिन का भरोसा है कि वह मृत्युदिन नहीं बन जाएगा? एक पल का भरोसा है? लेकिन भलाई को हम पोस्टपोन करते हैं। बुराई को हम तत्काल करते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि समय चूक जाए और बुराई न हो पाए।
बुराई को स्थगित करना, भलाई को तत्काल कर लेना। क्योंकि पल का भरोसा नहीं है। भलाई एक क्षण भी चूक गई, फिर जरूरी नहीं कि होने का मौका मिलेगा। और पलभर भी बुराई के लिए रुक गए तो मैं कहता हूं कि फिर कभी न कर पाएंगे। क्योंकि उतना रुकने में जो समर्थ है, वह बुराई करने में असमर्थ हो जाता है। ध्यान रखें, एक पल बुराई को रोकने में जो समर्थ है, वह बुराई करने में असमर्थ हो जाता है। वह बड़ा सामर्थ्य है--एक क्षण रुक जाने का सामर्थ्य। जब आंख में खून उतरने लगे और हाथ की मुट्ठियां भिंचने लगें, तब एक क्षण क्रोध में रुक जाने का सामर्थ्य इस जगत में बड़े से बड़ा सामर्थ्य है।
इस सूत्र को इसलिए ऋषि ने कहा है--खुद के व्यंग्य के लिए भी और आप सबके व्यंग्य के लिए भी। आप सबकी भी खूब हंसी है उसमें।
एक सूत्र और ले लें? नहीं, आज के लिए इतना ही।
दो-तीन बातें ध्यान के संबंध में समझ लें, फिर हम ध्यान के लिए बैठेंगे। और कह दूं सबसे पहले कि ध्यान को स्थगित मत करना--पल भर के लिए भी। यह मत सोचना कि कल कर लेंगे। ध्यान को करना अभी। दो-तीन बातें समझ लें, फिर उठें। अभी बैठे रहें।
एक तो, जो लोग मेरे पीछे बैठे हैं, जिनको मैंने कल कहा कि पीछे बैठें, उनसे यह नहीं कहा है कि बैठे रहें। उनसे यह नहीं कहा है कि बैठे रहें। कुछ ऐसा समझ गए मालूम होता है कि बैठे रहो! नहीं, बैठकर करने को कहा है। मैंने पीछे कल लौटकर देखा तो मुश्किल से आठ-दस लोग कर रहे थे, बाकी लोग बैठे हुए थे।
बैठे होने से कुछ भी न चलेगा। और कभी-कभी मुझे हैरानी होती है, इतने लोग कर रहे हैं, इतने लोग आंदोलित हैं, इतने लोग आनंदमग्न होकर नाच रहे हैं, क्या आपके भीतर पत्थर है हृदय नहीं है, जिसमें जरा सी भी कोई चहल-पहल नहीं होती! इतने लोगों को आनंदित देखकर आपका कोई रोआं नहीं कंपता!
नहीं, मुझे लगता है कि रोआं तो कंपता होगा, आप बड़े समझदार हैं, उसको दबाकर बैठे रहते होंगे कि कहीं कंप न जाए। कृपा करके अपने को छोड़ें। लेट

गो! इतने शरीर जहां नाच रहे हैं, इतने लोग जहां मुक्त-मन से, सरल-चित्त से बच्चों जैसे सरल हो गए हैं, वहां अपनी कठोरता को लिए बैठे मत रहें। कठोरता को छोड़ें। आंदोलित हों।
और ध्यान रखें, कुछ मित्रों को ऐसा ख्याल है कि जब अपने से होगा तब करेंगे। सौ में से नब्बे प्रतिशत लोगों को तो अपने से हो जाएगा, दस प्रतिशत लोगों को नहीं होगा। और दस प्रतिशत वे ही लोग हैं जिनको समझदार होने का भ्रम होता है। उनको कुछ तोड़ना पड़ेगा अपनी तरफ से।
तो मैं आपसे कहूंगा कि जिनको अपने से न होता हो, वे करना शुरू करें। दो क्षण करेंगे, तीसरे क्षण स्पांटेनियस, सहज आविर्भाव हो जाएगा। एक दफा झरना टूट जाए, गति आ जाए, तो सहज स्फुरणा शुरू हो जाती है।
आज तो--एक दिन और बचा है--इसलिए मैं चाहूंगा कि कोई भी वंचित न रहे। इसलिए सारे लोग सम्मिलित हों। नीचे जो लोग हैं, वे खड़े हो जाएं। ऊपर से भी जिनको खड़े होकर करना है वे नीचे चले जाएं!

ईशावास्य उपनिषद
बारहवां प्रवचन

असतो मा सद्गमय

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम।। 18।।

हे अग्ने! हमें कर्म फल भोग के लिए सन्मार्ग से ले चल। हे देव! तू समस्त ज्ञान और कर्मों को जानने वाला है। हमारे पाखंडपूर्ण पापों को नष्ट कर। हम तेरे लिए अनेकों नमस्कार करते हैं।। 18।।

पर्वतों से उतरते हुए झरनों को हमने देखा है। सागर की ओर बहती हुई नदियों से हम परिचित हैं। जल सदा ही नीचे की ओर बहता है--और नीची जगह, और नीची जगह खोज लेता है। गड्ढों में ही उसकी यात्रा है। अधोगमन ही उसका मार्ग है। उसकी प्रकृति है नीचे, और नीचे, और नीचे। जहां नीची जगह मिल जाए वहीं उसकी यात्रा है।
अग्नि बिल्कुल ही उलटी है। सदा ही ऊपर की तरफ बहती है। ऊर्ध्वगामी उसका पथ है। आकाश की ओर ही दौड़ती चली जाती है। कहीं भी जलाएं उसे, कैसे भी रखें उसे, उलटा भी लटका दें दीए को, तो भी ज्योति ऊपर की तरफ भागना शुरू कर देती है।
अग्नि का यह ऊर्ध्वगमन अति प्राचीन समय में भी ऊर्ध्वगामी चेतनाओं को ख्याल में आ गया। चेतना दोनों तरह से बह सकती है। पानी की तरह भी और अग्नि की तरह भी। साधारणतः हम पानी की तरह बहते हैं। साधारणतः हम भी नीचे गड्ढे और गड्ढे खोजते रहते हैं। हमारी चेतना नीचे उतरने को रास्ता पा जाए तो हम ऊपर की सीढ़ी तत्काल छोड़ देते हैं। साधारणतः हम जल की तरह हैं। होना चाहिए अग्नि की तरह कि जहां जरा सा अवसर मिले ऊपर बढ़ जाने का, हम नीचे की सीढ़ी छोड़ दें। जहां जरा सा मौका मिले पंख फैलाकर आकाश की तरफ उड़ जाने का, हम तैयार हों।
अग्नि इसलिए प्रतीक बन गया, देवता बन गया। ऊर्ध्वगमन की जिनकी अभीप्सा थी, ऊपर जाने का जिनका इरादा था, आकांक्षा थी जिनकी निरंतर श्रेष्ठतर आयामों में प्रवेश करने की, उनके लिए अग्नि प्रतीक बन गया, देवता बन गया।
एक और कारण से अग्नि प्रतीक बना और देवता बना। जैसे ही व्यक्ति ऊपर की यात्रा पर निकलता है, ऊपर की यात्रा साथ ही साथ भीतर की यात्रा भी है। और ठीक वैसे ही नीचे की यात्रा साथ ही साथ बाहर की यात्रा भी है। गहरे अर्थों में बाहर और नीचे पर्यायवाची हैं। भीतर और ऊपर पर्यायवाची हैं। जितने भीतर जाएंगे, उतने ऊपर भी चले जाएंगे। जितने बाहर जाएंगे, उतने नीचे भी चले जाएंगे। या जितने नीचे जाएंगे, उतने बाहर चले जाएंगे। जितने ऊपर जाएंगे, उतरे भीतर चले जाएंगे।
अस्तित्व की दृष्टि से ऊपर और भीतर एक ही अर्थ रखते हैं, भाषा की दृष्टि से नहीं। अनुभव की दृष्टि से बाहर और नीचे एक ही अर्थ रखते हैं, भाषा की दृष्टि से नहीं। पर्यायवाची हैं। जिन लोगों ने भी ऊपर की यात्रा करनी चाही, उन्हें भीतर की यात्रा करनी पड़ी। और जैसे-जैसे भीतर प्रवेश हुआ, वैसे-वैसे अंधेरा कम हुआ और ज्योति बढ़ी, प्रकाश बढ़ा। अंधकार क्षीण हुआ और आलोक बढ़ा। अग्नि इसलिए भी प्रतीक बन गई अंतर्यात्रा की।
और भी एक कारण से अग्नि प्रतीक बन गई और उसका स्मरण बड़ी ही श्रद्धा से किया जाने लगा। वह था यह कि अग्नि की एक और खूबी है, उसका एक और स्वभाव है। शुद्ध को बचा लेती है, अशुद्ध को जला देती है। डाल दें सोने को तो अशुद्ध जल जाता है, शुद्ध निखर आता है। तो अग्नि-परीक्षा बन गई--अशुद्ध को जलाने के लिए और शुद्ध को बचाने के लिए। अग्नि-परीक्षा, वस्तुतः कोई सीता को किसी अग्नि में डाल दिया हो, ऐसा नहीं है। अग्नि-परीक्षा एक प्रतीक बन

गया। वह प्रतीक हो गया इस बात का कि अग्नि उसको जला देगी जो अशुद्ध है और उसे बचा लेगी जो शुद्ध है। वह अग्नि का स्वभाव है। शुद्ध को बचा लेने की उसकी आतुरता है। अशुद्ध को नष्ट कर देने की उसकी आतुरता है।
बहुत कुछ है जो अशुद्ध है हमारे भीतर। इतना ज्यादा है कि सोने का तो पता ही नहीं चलता। कहीं होगा छिपा हुआ। कोई ऋषि कभी घोषणा करता है स्वर्ण की। हम तो मिट्टी और कचरे को ही जानते हैं। कोई ज्ञानी कभी पुकारता है कि भीतर स्वर्ण भी है तुम्हारे। हम तो खोजते हैं, तो कंकड़-पत्थर के सिवाए कुछ पाते नहीं हैं। तो स्वर्ण को भी अग्नि में डालना है।
स्वर्ण को अग्नि में डालना ही तप का अर्थ है। तप ताप से ही बना है, अग्नि से ही बना है। तप का अर्थ ऐसा नहीं है कि कोई धूप में खड़ा हो जाए, तो तप कर रहा है। तप का अर्थ है, इतनी अंतर-अग्नि से गुजरे कि उसके भीतर जो भी अशुद्ध है, वह जल जाए; और जो भी शुद्ध है, वह रह जाए।
अग्नि में एक-दो बातें और ख्याल में ले लेनी जरूरी हैं, तब उसके दिव्य रूप का स्मरण करना आसान हो जाएगा। तब उस ऋषि की बात समझनी सुविधाजनक हो जाएगी कि हे देवता, हे अग्नि, मुझे सन्मार्ग पर ले चल। यह ख्याल में आ सकेगा कि अग्नि से ऐसी प्रार्थना क्यों की जा सकी।
अग्नि को देखा है। पानी को भी देखा है। पानी कितने ही नीचे उतरे, मौजूद रहता है। पहाड़ से उतर आए खाई में, मिट नहीं जाता। अग्नि उठती है आकाश की तरफ, लेकिन जरा ही उठी कि विलीन हो जाती है। असल में जो भी ऊपर की तरफ जाएगा, वह विलीन भी होगा। वह विलीन भी होता जाएगा। वह प्रतिपल लीन होगा। जल्दी ही उसकी अस्मिता खो जाएगी, वह नहीं होगा। आकाश के साथ एक हो जाएगा। अग्नि थोड़ी दूर तक ही दिखाई पड़ती है। अग्नि का पथ थोड़ी दूर तक ही दृश्य है, फिर अदृश्य हो जाता है। आप देख भी नहीं पाते कि गई, शून्य में खो गई। पानी कितना ही नीचे उतरे, मौजूद रहेगा। नीचे की यात्रा पर अस्मिता मौजूद ही रहेगी। और अगर बहुत नीचे उतर जाए, तो पानी बर्फ बन जाएगा। और अगर अहंकार बहुत नीचे उतर जाए, तो पत्थर की तरह सख्त हो जाएगा।
ध्यान रखें, जितना नीचे उतरते हैं, उतना अहंकार मजबूत, फ्रोजन, सख्त, क्रिस्टलाइज होता है। जितने ऊपर जाते हैं, उतना विरल, क्षीण, विलीन। अग्नि की ज्योति को देखते रहें, थोड़ी देर में पता चलेगा कि गई। कहां गई? बुद्ध से ठीक उनके महानिर्वाण के समय में कोई पूछता है कि जब आप नहीं होंगे--अभी थोड़ी देर बाद आप कहते हैं, आप नहीं हो जाएंगे--तो फिर आप कहां होंगे? तो बुद्ध कहते हैं, दीए को देखना। और जब दीए की ज्योति आकाश में खो जाए, तो पूछना कि ज्योति कहां चली गई। ऐसे ही मैं भी थोड़ी देर में खो जाऊंगा। अब आ गई है वह घड़ी, जहां से ज्योति महाआकाश में लीन हो जाएगी।
एक और भी गहरा रहस्य अग्नि के साथ है। और वह रहस्य यह है कि अग्नि सब कुछ जला देती है। सब कुछ जलाती है, अंत में स्वयं को भी जला लेती है। ईंधन को जलाती है, फिर ईंधन जल जाता है, तो अग्नि बचती नहीं ईंधन को जलाकर। ईंधन जला--अग्नि भी जली। सब कुछ जल जाता है। अंततः अग्नि पीछे बच नहीं रहती, अग्नि भी खो जाती है।
दूसरे को जलाकर जो बच रहे, तब तो हिंसा है। लेकिन दूसरे को विलीन करके
जब स्वयं भी कोई लीन हो जाए, तो प्रेम है। दूसरे को जलाकर कोई बच रहे, तो वायलेंस है। लेकिन दूसरे को शून्य करके स्वयं भी शून्य हो जाए, तो प्रेम है--तो ही प्रेम है।
तो अग्नि दुश्मन नहीं है ईंधन की, प्रेमी है। नहीं तो ईंधन को तो जला डालती और खुद बच जाती। जलाती ही इसलिए है कि खुद बच जाए। लेकिन ईंधन को जलाकर स्वयं भी जलती है और शांत हो जाती है। मजे की बात है कि ईंधन तो जलकर भी पीछे राख की तरह बच रहता है, अग्नि उतनी भी नहीं बच रहती। इतनी शुद्ध है कि पीछे कोई राख नहीं छोड़ती। असल में राख अशुद्धि से बनती है। अग्नि शुद्धतम अस्तित्व मात्र है। पीछे कुछ रूपरेखा भी नहीं छूट जाती।
ये सारे ख्याल, यह सारी स्मृति जिन ऋषियों को आई, वे किसी प्रतीक की तलाश में थे। बड़ी कठिन खोज है। भीतर जो घटित होता है साधक को, उसके लिए बाहर प्रतीक खोजना बड़ी कठिन खोज है। लेकिन अब तक जो श्रेष्ठतम प्रतीक खोजा जा सका है, वह अग्नि है। वह चाहे पारसियों के मंदिर में सतत जलती हो, चाहे ऋषियों के यज्ञ में जलती हो, चाहे हवन में जलती हो, चाहे मंदिर के दीए

में जलती हो। लेकिन अब तक जो श्रेष्ठतम प्रतीक खोजा जा सका है, निकटतम भीतर की घटना के, ऊर्ध्वगमन की घटना के, वह अग्नि है। इसलिए अग्नि को देवता कह सके वे लोग।
देवता किसे कहते हैं? देवता सिर्फ उसे नहीं कहते जो दिव्य है, क्योंकि
इस अर्थ में तो सभी देवता हैं। सभी कुछ दिव्य है, क्योंकि सभी कुछ दिव्य से निकला है। साधारणतः शब्दकोश में खोजने जाएंगे तो देवता का अर्थ होगा--जो दिव्य है--वन हू इ.ज डिवाइन, जो दिव्य है। लेकिन दिव्य तो सभी हैं। किन्हीं को पता होगा, किन्हीं को पता नहीं होगा। दिव्य कौन है जो नहीं है। पत्थर भी दिव्य है। वृक्ष भी दिव्य है। नदी, पहाड़, आकाश सभी दिव्य हैं। कण-कण दिव्य है। फिर देवता का यह मतलब नहीं हो सकता कि जो दिव्य है। क्योंकि दिव्य तो सभी हैं। फिर विशेष रूप से किसी को देवता कहने का क्या अर्थ है?
देवता कहने का अर्थ है, जो दिव्य है इतना ही नहीं, जो दिव्य की ओर ले जाता है। दिव्य है इतना ही नहीं, दिव्य तो प्रत्येक वस्तु है। जो दिव्य की ओर ले जाता है, जो दिव्य की ओर उन्मुख करता है--वह देवता है। जो दिव्य की ओर फिराता है, जो दिव्य की ओर इंगित करता है, जो दिव्य की ओर इशारा करता है, जो दिव्य की ओर मुख को मोड़ देता है, जो दिव्य की ओर गति दे देता है--वह देवता है।
इसीलिए तो ऋषि कह सके कि गुरु देवता है। और कोई कारण नहीं है। दिव्य
तो सभी हैं। इसलिए जहां-जहां से दिव्यता की ओर इशारा मिले सके, वह सब देवता हो गया। अगर आकाश की तरफ देखकर निराकार का स्मरण आ जाए, तो आकाश देवता हो गया।
हमें कठिनाई होती है। जो लोग पढ़ते हैं... आज वेद को पढ़ेंगे, तो उन्हें बड़ी कठिनाई होती है कि आकाश देवता है, इंद्र देवता है, सूरज देवता है! यह सब क्या पागलपन है! और जब पश्चिम के लोगों ने पहली बार वेद के अनुवाद किए, तो उनको बड़ी कठिनाई पड़ी। उन्होंने कहा, यह पैन्थिइज्म है। यह सर्वेश्वरवाद है। हर चीज में देवता को देखने की वृत्ति है।
नहीं, ऐसा नहीं है। जहां से भी दिव्यता की ओर स्मरण मिलता है, जहां से
भी चोट पड़ती है, आघात पड़ता है, जहां से भी हृदय की वीणा का तार झंकृत हो जाता है और दिव्य की ओर यात्रा शुरू होती है--वही देवता है।
देखें आकाश को थोड़ी देर तक। तो आकाश को देखते-देखते, देखते-देखते आकार क्षीण होगा, निराकार प्रगाढ़ हो जाएगा। तो निराकार की ओर आकाश ने इशारा किया। तो क्या इतने कृतघ्न होंगे कि धन्यवाद भी न दें कि हे देवता, धन्यवाद! कि तूने निराकार की ओर स्मरण दिलाया!
अग्नि को देखते रहें बैठकर। यज्ञ का वही अर्थ था। हवन का वही अर्थ था। करना उतना महत्वपूर्ण नहीं है हवन में कि आप कुछ कर रहे हैं, कि कुछ डाल रहे हैं कि नहीं डाल रहे हैं, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है। बल्कि अग्नि के निकट बैठकर, अग्नि की ऊर्ध्वगमन की यात्रा के साथ आत्मसात हो रहे हैं। और आग भागी जा रही है ऊपर की तरफ, उसकी लपट खोई जा रही है महाशून्य में। आप भी उसके पास बैठकर एकाग्रचित्त हो, ध्यानमग्न हो, उस लपट के साथ एक हो निराकार की तरफ भाग रहे हैं, खो रहे हैं, शून्य में जा रहे हैं। तो फिर अग्नि देवता हो गया।
जहां से भी दिव्यता की ओर इशारा है, पुकार है; जहां से भी दिव्यता की
ओर भीतर की प्यास को चोट है; जहां से भी दिव्यता की ओर भीतर सोए हुए बीज को तोड़ने की चेष्टा है--वहीं देवता है।
इसलिए ऋषि कहता है कि हे देव, हे अग्नि, मुझे सन्मार्ग पर ले चल। मुझे कुछ पता नहीं कि क्या रास्ता है! मुझे कुछ पता नहीं कि क्या रास्ता है! मुझे यह भी पता नहीं है कि क्या शुभ है, क्या अशुभ है! मैं अज्ञानी हूं। तू मुझे ले चल।
एक बात यहां बहुत गहरे में ख्याल में ले लेने जैसी है, वह यह है कि जिसने यह पुकारा कि मुझे सन्मार्ग की तरफ ले चल--यह पुकार ही सन्मार्ग की तरफ जाने का मूल आधार बन जाती है। यह पुकार साधारण नहीं है, यह पुकार बहुत असाधारण है। क्योंकि हमारी प्रत्येक वृत्ति, हमारी प्रत्येक वासना, हमारी प्रत्येक इच्छा असद मार्ग की तरफ ले जाती है। उसके लिए प्रार्थना नहीं करनी पड़ती है। उसके लिए पुकारना भी नहीं पड़ता। उसके लिए प्रकृति ने

हमें काफी उपकरण दिया है, वह अपने आप हमें ले जाती है। नीचे की तरफ उतरना हो तो किसी पुकार की, किसी प्रार्थना की कोई भी जरूरत नहीं है। अंधेरे की तरफ जाना हो तो प्रकृति आपको ले ही जाती है, ले ही जा रही है। आपके ही अपने कर्म लिए जा रहे हैं। आपकी ही अपनी आदतें और संस्कार लिए जा रहे हैं। सब लिए जा रहा है।
यह बड़े मजे की बात है कि आज तक पृथ्वी पर किसी ने यह प्रार्थना नहीं की
कि हे प्रभु, मुझे असद मार्ग पर ले चल। इसमें प्रभु की कोई जरूरत नहीं पड़ी। आदमी खुद ही काफी समर्थ है। इसमें प्रभु की सहायता की कोई भी जरूरत नहीं है। इसमें तो प्रभु को भी असद मार्ग पर ले जाना हो तो आदमी ले जा सकता है। और बड़े मजे की बात है कि असद मार्ग बहुत संकटपूर्ण है। फिर भी कोई प्रार्थना नहीं करता। करनी चाहिए। कि मैं असद मार्ग पर जा रहा हूं, हे प्रभु! सहायता करना, सुरक्षा करना। असद मार्ग बहुत संकट की अवस्था है। बहुत पीड़ा में, बहुत दुख में जाना है। बहुत विक्षिप्तता में, पागलपन में उतरना है। अपने ही हाथों उपद्रव को निमंत्रण है। तो प्रभु की सहायता मांगनी चाहिए कि मेरा ख्याल रखना, लेकिन कोई नहीं मांगता। क्योंकि प्रत्येक जानता है कि हम पर्याप्त हैं। हम ही निपट लेंगे।
आदमी असद में इतना समर्थ है! लेकिन जहां सन्मार्ग का सवाल है, जहां सद
की यात्रा है, वहां आदमी अचानक पाता है कि असमर्थ हूं। उसकी असमर्थता का कारण है। सारी वासनाएं उसे खींचती हैं नीचे की तरफ और कोई बिल्ट इन, कोई प्रकृति की तरफ से दी गई ऐसी वासना नहीं है, जो उसे सहज ऊपर की तरफ ले जाती हो। अगर वह कुछ न करे और खड़ा रहे, तो अपने आप नीचे जाता रहेगा। अगर वह कुछ न करे, खड़ा रहे, तो अपने आप उतरता रहेगा। उतार से, ढलान से नीचे लुढ़कता रहेगा। प्रकृति की कशिश काफी है, वह उसे खींचती जाएगी--नीचे, और नीचे, और नीचे। और हर कदम पर लगेगा कि और थोड़ा नीचे उतर जाऊं। यह पूरे प्राण कहेंगे कि और थोड़े नीचे उतर चलो। और सुख है नीचे। अगर दुख पा रहे हो तो इसीलिए पा रहे हो कि और थोड़े नीचे नहीं उतर पा रहे हो।
तथाकथित ईमानदार आदमी मुझे मिलते हैं, तो वे कहते हैं कि देख रहे हैं आप, बेईमान कितना सुख उठा रहे हैं! तथाकथित ईमानदार कहता हूं मैं उन्हें। क्योंकि जिसको बेईमान में सुख दिखाई पड़ता है, वह ज्यादा देर ईमानदार रह नहीं सकता। गहरे में तो होगा ही नहीं। और अगर ईमानदार दिखाई पड़ता है, तो सिर्फ भयभीत होगा, इसलिए दिखाई पड़ता है। बेईमान होने के लिए भी साहस चाहिए। बेईमान होने के लिए भी हिम्मत चाहिए। वह हिम्मत उसमें नहीं है। कमजोर आदमी है, कायर है। बेईमानी कर नहीं सकता, लेकिन बेईमान रस ले रहे हैं, बेईमान सफल हो रहे हैं, बेईमान सुख पा रहे हैं, यह जरूर उसकी पूरी वासनाएं उससे कहे जा रही हैं कि तू चूक रहा है।
नीचे की पुकार सब ओर से है। भीतर से भी प्रकृति का सारा उपकरण कहता है, नीचे उतरो। क्यों? क्योंकि जितने आप नीचे उतरते हैं, उतने प्राकृतिक हो जाते हैं। जितने ऊपर उठते हैं, उतने प्रकृति के अतीत होते हैं, उतने प्रकृति के पार होते हैं। स्वाभाविक है कि प्रकृति कहे कि और नीचे उतर आओ, यहां बहुत विश्राम है। अगर बिल्कुल पत्थर हो जाओ, तो पूरा विश्राम है। उतर आओ, छोड़ दो चेतना। चेतना ही तुम्हारा दुख है। वृत्तियां कहती हैं, वासनाएं कहती हैं कि छोड़ दो चेतना। चेतना ही तुम्हारा दुख है, मूर्च्छित हो जाओ। इसलिए आदमी शराब खोजता है, नशे खोजता है। बेहोश होने की हजार तरकीबें खोजता है कि उतर जाए नीचे, और नीचे।
तो नीचे उतरने का तो पूरा इंतजाम है, ऊपर उठने का कोई इंतजाम नहीं है।
और ऊपर उठे बिना कोई आनंद नहीं, कोई शांति नहीं। यह दुविधा है। कहें कि यह ह्यूमन पैराडाक्स, यह ह्यूमन डायलेमा है। यह मनुष्य का द्वंद्व है कि नीचे जाने का सब उपाय है और ऊपर जाए बिना कोई उपाय नहीं है। ऊपर पहुंचे बिना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। नीचे जाने के लिए सब सुविधाएं उपलब्ध हैं, ऊपर जाने के लिए कोई मार्ग नहीं। और ऊपर जाए बिना सिवाय भटकाव के कुछ हाथ में लगता नहीं। तो ऐसी असहाय अवस्था है आदमी की, ऐसी हेल्पलेसनेस। इस हेल्पलेसनेस से उठती है प्रार्थना। इस असहाय अवस्था के बोध से उठती है प्रार्थना।
तो ऋषि कह रहा है कि हे देवता, मुझे सन्मार्ग की तरफ ले चल।

ऐसा नहीं है कि कोई देवता आपको सन्मार्ग की तरफ ले जाएगा। यह भी समझ लें। क्योंकि उससे बड़ी भ्रांतियां फैली हैं। ऐसा नहीं है कि कोई देवता आपको सन्मार्ग की तरफ ले जाएगा। सन्मार्ग की तरफ तो जाना है आपको ही। लेकिन यह प्रार्थना आपको जाने में समर्थ बनाएगी। यह प्रार्थना आपके भीतर एक ब्रेक थ्रू, एक द्वार तोड़ देगी। आपके भीतर यह प्रार्थना अगर सघन हो जाए, घनीभूत हो जाए, अगर प्यास और पुकार बन जाए और रोयां-रोयां चिल्लाने लगे, श्वास-श्वास कहने लगे कि ले चल मुझे प्रभु, हे दिव्य अग्नि, मुझे ले चल ऊर्ध्वगमन में ऊपर, जहां सब खो जाए, मैं भी खो जाऊं, वही रह जाए, जो मैं नहीं था तब था और जब मैं नहीं रहूंगा तब रहेगा। यह प्रार्थना--देवता नहीं कोई-- यह प्रार्थना ही जब आपके भीतर सघन होनी शुरू होती है, तो आपको सन्मार्ग पर ले जाने का कारण बनती है। क्योंकि हम वहीं चले जाते हैं, जहां जाने की हम तीव्र आकांक्षा पैदा कर लेते हैं। हमारे विचार ही हमारे कृत्य बन जाते हैं।
एडिंग्टन ने एक बहुत अदभुत वाक्य लिखा है, और एडिंग्टन जैसे आदमी ने लिखा है, इसलिए और अदभुत है। एडिंग्टन पिछले पचास वर्षों के श्रेष्ठतम वैज्ञानिकों में एक, नोबल प्राइज विनर। जीवन के अंतिम समय में अपने संस्मरणों में लिखा है कि जब मैंने वैज्ञानिक खोज शुरू की और जब मैं युवा था, तो मैं सोचता था, जगत वस्तुओं का समूह है। लेकिन जैसे-जैसे मैं खोज में गहरा गया और जैसे-जैसे मैं प्रकृति के रहस्यों का साक्षात्कार किया, अब मैं अपने जीवन के अंत में टेस्टामेंट करता हूं, इस बात की वसीयत करता हूं कि दि युनिवर्स रिजेम्बल्स मोर ए थाट दैन ए थिंग। यह जो विश्व है, यह एक विचार की तरह ज्यादा है, बजाय एक वस्तु की तरह। रिजेम्बल्स मोर ए थाट, एक विचार की भांति ज्यादा।
बुद्ध ने धम्मपद के पहले वचन में कहा है, तुम जो सोचोगे, वही हो जाओगे। इसलिए सोच-समझ कर सोचना। क्योंकि कल किसी और को जिम्मेदार नहीं ठहरा पाओगे। और जो तुम आज हो गए हो, वह तुमने कल सोचा था, उसका परिणाम है। हमारी ही नासमझियां फलीभूत हो जाती हैं। हमारे ही गलत भाव सघन होकर आचरण बन जाते हैं। हमारे ही विचार केंद्रीभूत होकर जीवन बन जाते हैं। उठती है विचार की सूक्ष्म तरंग, चल पड़ी यात्रा पर, आज नहीं कल वस्तु बन जाएगी। सभी वस्तुएं विचार के सघन रूप हैं, कंडेस्ड थाट्स हैं। हम जो हैं, हमारे विचार का फल हैं।
तो अगर कोई प्रार्थना इतनी सघन हो जाए कि प्राण का रोयां-रोयां कंपित होने लगे, हृदय की धड़कन-धड़कन आंदोलित होने लगे; रात के स्वप्न भी उससे प्रभावित हो जाएं, दिन की विचारणा भी उसमें डूबे; रात की निद्रा में भी वह आपके प्राणों में सरकने लगे; वह आपके जीवन की धुन बन जाए, तो परिणाम आ जाएगा। कोई देवता नहीं आएगा आपकी सहायता को। लेकिन दिव्य जहां-जहां हमें दिखाई पड़ता है, उससे की गई प्रार्थना हमें तैयार करेगी।
इस भेद को समझ लेना जरूरी है। अगर आपके ख्याल में यह है कि हम प्रार्थना करें और निश्चिंत हो गए, क्योंकि अब देवता सम्हालेगा। जैसा कि अधिक लोग समझ बैठे हैं कि ठीक है, हमने प्रार्थना कर दी, अब काफी ओब्लाइज कर दिया देवता को, काफी अनुग्रह किया कि हमने प्रार्थना कर दी, अब बाकी तुम करो। न करो, तो कल हम शिकायत लेकर खड़े हो जाएंगे। अगर और बिल्कुल न किया, तो कल हम कहेंगे कि कोई देवता नहीं है। सब झूठ है।
नहीं, प्रार्थना का यह अर्थ नहीं है कि हम किसी और पर छोड़ रहे हैं काम। प्रार्थना का यही अर्थ है कि हम प्रार्थना के बहाने--प्रार्थना एक डिवाइस है--हम प्रार्थना के बहाने अपने रोएं-रोएं तक को कंपित कर रहे हैं। और ध्यान रहे, प्रार्थना सर्वाधिक रोओं तक प्रवेश पाती है। अगर कोई पूरे भाव से प्रार्थना में रत हो जाए, तो कण-कण शरीर का पुकारने लगता है। कोई विचार इतना गहरा नहीं जाता, जितनी प्रार्थना गहरी जाती है। कोई वासना भी इतनी गहरी नहीं जाती, जितनी प्रार्थना जाती है। लेकिन प्रार्थना करने की क्षमता... ।
ऐसी कोई भी वासना नहीं है जिसके बाहर आप न छूट जाते हों। आप बाहर छूट
ही जाते हैं। सेक्स जैसी कामवासना, जो कि गहनतम वासना है, उसके भी बाहर आप छूट जाते हैं। उसके भीतर भी आप पूरे नहीं होते। उसके भी आप बाहर होते हैं।

कोई हिस्सा--गहन हिस्सा तो चेतना का बाहर ही रह जाता है। कामवासना में भी ज्यादा से ज्यादा शरीर प्रवेश करता है। जो बहुत कामातुर हैं, उनके मन का छोटा सा हिस्सा प्रवेश करता है। लेकिन चेतना और आत्मा तो बिल्कुल बाहर रह जाती है। टोटल आप उसमें नहीं हो पाते। वही तो कामवासना की पीड़ा है। कामवासी मन कहता है कि पूरा इसमें डूब जाऊं और रस ले लूं, लेकिन पूरा कभी डूब नहीं पाता। हमेशा पाता है कि डूबा, नहीं डूब पाया। गया एक सीमा तक, और वापस लौट आया। डूबने का क्षण आया था कि टूटने का क्षण आ गया।
प्रार्थना अकेली एक घटना है, जिसमें आदमी पूरा डूब पाता है--पूरा। जिसमें कुछ भी बाहर शेष नहीं रह जाता। प्रार्थना करने वाला भी बाहर शेष नहीं रह जाता, तभी प्रार्थना पूरी होती है। अगर प्रार्थना करने वाला मौजूद है और प्रार्थना आप कर रहे हैं, तो प्रार्थना एक बाहरी कृत्य है। वह आपको छुएगा नहीं। आप अछूते रह जाएंगे। लेकिन प्रार्थना इतनी गहरी हो जाती है--हो सकती है--कि प्रार्थना करने वाला पीछे बचता ही नहीं, प्रार्थना ही बचती है। तब उस प्रार्थना के आंदोलन में, उस प्रार्थना के कंपन में घटना घटती है और सन्मार्ग की यात्रा शुरू हो जाती है। रुख बदल जाता है। नीचे की यात्रा की तरफ से चेहरा फिर जाता है, ऊपर की तरफ चेहरा हो जाता है।
अग्नि को इसीलिए पुकारते हैं कि वह ऊर्ध्वगामी है। अग्नि को इसीलिए पुकारते हैं कि वह अशुद्धि को जला देने वाली है। अग्नि को इसीलिए पुकारते हैं कि उसमें कोई अस्मिता नहीं है, वह बहुत जल्दी आकाश में लीन हो जाती है। जब कोई प्रार्थना से भरता है पूरा, तो अग्नि की एक लपट बन जाता है--ए फ्लेम। और एक ऐसी लपट, जिसमें धुआं नहीं होता। पहले तो होता है। पहले जब कोई प्रार्थना शुरू करता है, तो अग्नि सीधी नहीं होती, धुआं बहुत होता है। क्योंकि ईंधन हमारा बड़ा गीला होता है। जितनी ज्यादा वासनाएं होती हैं, उतना ईंधन गीला होता है। जैसे लकड़ी पर पानी पड़ा हो, तो आग लग भी जाए तो धुआं ही धुआं पैदा होता है। इसलिए घबरा मत जाना। प्रार्थना की यात्रा पर निकले व्यक्ति को पहले अग्नि का साक्षात्कार नहीं होता, धुएं का ही साक्षात्कार होता है। क्योंकि हमारे पास ईंधन बहुत गीला है।
इसलिए दूसरी बात ऋषि ने उसमें कही है कि मेरे पिछले किए हुए कर्म, उनको भी तू जला दे।
क्योंकि वे पिछले किए हुए कर्म ही हमारा ईंधन है। और वे बड़े गीले हैं। कर्म सूखा कब होता है और गीला कब होता है? किस कर्म को गीला कहें और किस कर्म को सूखा कहें?
सूखा कर्म अगर हो तो ऊपर की यात्रा बड़ी आसान हो जाती है, क्योंकि वह ठीक ईंधन बन जाता है। और गीला कर्म अगर हो तो ऊपर की यात्रा मुश्किल हो जाती है। क्योंकि गीला ईंधन कैसे जले! धुआं ही पैदा होता है। सूखा कर्म क्या है? गीला कर्म क्या है?
जिस कर्म को करके आप उसके बिल्कुल बाहर हो जाते हैं, वह कर्म सूखा होता है। जिस कर्म को करके भी आप उसके भीतर जुड़े रह जाते हैं, वह गीला होता है। जिस कर्म को करते समय आप साक्षी हो पाते हैं, विटनेस हो पाते हैं, वह सूखा हो जाता है। और जिस कर्म को करते वक्त आप साक्षी नहीं हो पाते, कर्ता बन जाते हैं, वह गीला हो जाता है। जिस कर्म के करते वक्त अहंकार खड़ा हो जाता है और कहता है, मैं कर रहा हूं, कर्म गीला हो जाता है। जिस कर्म को करते वक्त आप कहते हैं, परमात्मा करवा रहा है, प्रकृति करवा रही है; मैं तो देख रहा हूं--ऐसा कहते ही नहीं हैं, ऐसा जानते हैं, ऐसा जीते हैं, ऐसा अनुभव करते हैं--तो कर्म सूखा हो जाता है।
जिनके पास सूखे कर्मों का ईंधन है, उनकी जीवन की ज्योति, उनकी जीवन की लपट तत्काल ब्रह्म में छलांग लगा लेती है। जिनके पास गीले कर्मों का ईंधन है, उन्हें कठिनाई होती है। ऋषि जानता है कि बहुत कर्म गीले हैं। बहुत कर्म गीले हैं। हम सबके बहुत कर्म गीले हैं।
तो एक तो कर्म को सूखा करने की कोशिश करना, क्योंकि अकेली प्रार्थना
से कुछ भी न होगा। कर्म को सूखा करने की कोशिश करना। अतीत के कर्मों से भी अपने अहंकार को तोड़ लेना। आज के कर्मों से तो तोड़ ही डालना। आने वाले कल के कर्मों से तो अपने को जोड़ना ही मत। तो कर्म सूखे हो जाएंगे। और अगर

प्रार्थना की लपट जोर से पकड़ ले, तो प्रार्थना की अग्नि उन्हें जला देगी, भस्मीभूत कर देगी।
लेकिन आप यह स्मरण सदा ही रखना कि कोई और आकर आपकी प्रार्थना को पूरा नहीं कर जाएगा। आपकी प्रार्थना के करने में ही आप बदल जाते हैं। प्रार्थना करना ही रूपांतरण है। रूपांतरण पीछे से आता नहीं। प्रार्थना में ही फलित हो जाता है। इसलिए प्रार्थना का फल मत देखना, प्रार्थना स्वयं फल है। प्रार्थना करके चुपचाप भूल जाना। प्रार्थना स्वयं ही फल है। आप कर सके, यही बड़ी बात है।
लेकिन हमारे ख्याल गलत हैं। हम सोचते हैं कि प्रार्थना कर दी हमने, अब कोई प्रार्थना को पूरा करेगा। तो अब हमें प्रतीक्षा करनी है। तो हमने कह दिया, अब हमें प्रतीक्षा करनी है।
प्रार्थना बहुत जीवंत क्रिया है--आग ही जैसी। प्रार्थना के तीन पहलू हैं, वह मैं आपको कह दूं, तभी ख्याल में आ सकेगा। एक, जब आप प्रार्थना करते हैं, तब आप अहंकार को विदा देते हैं। क्योंकि अहंकार के रहते प्रार्थना नहीं हो सकती। जब ऋषि कहता है, हे अग्नि, हे देवता, मुझे सन्मार्ग दिखा, क्योंकि मुझे कुछ पता नहीं है, तब उसने अपने अहंकार को विदा दे दी। तो जब तक आपका अहंकार है, आप प्रार्थना न कर पाएंगे। तो जब आप प्रार्थना करेंगे, तब आपको अहंकार को विदा देनी पड़ेगी। प्रार्थना अपनी ह्यूमिलिटी, अपनी विनम्रता की पूर्ण स्वीकृति है। आप प्रार्थना नहीं कर सकते, प्रार्थना करने में आपको मिटना पड़ेगा। आप मिटेंगे तो ही प्रार्थना हो सकेगी।
तो पहली बात, प्रार्थना करना इस बात की सूचना है कि मैं अपनी हंबलनेस को, अपनी विनम्रता को स्वीकार करता हूं। अपनी असहाय अवस्था को, हेल्पलेसनेस को स्वीकार करता हूं। मैं कहता हूं कि मुझसे कुछ नहीं हो सकता। मैं घोषणा करता हूं कि मैं कुछ भी करने में समर्थ नहीं। मैं अंगीकार करता हूं कि जो भी मैंने किया वह नीचे ले गया। जो भी मैंने किया उससे मैं उलझा और उलझन में पड़ा। मेरा किया हुआ ही मेरा नर्क बन गया है। मेरे किए हुए कर्मों के जाल ने ही मेरी छाती के ऊपर पत्थर रख दिए हैं। अब मैं और नहीं करता। अब मैं कहता हूं, हे देवता, हे प्रभु, अब तू ही कर। अब तू मुझे ले चल। फिर भी मैं कहता हूं कि इसका यह मतलब नहीं है कि देवता आपको ले जाएगा।
यह प्रार्थना ही अगर पूरे हृदय से की गई और अहंकार निशेष हो गया, तो ले जाएगी। यह प्रार्थना ही ले जाएगी।
तो पहला सूत्रः अहंकार नहीं।
दूसरा सूत्रः अपने पर भरोसा बहुत कर लिया... ।
एक आदमी किसी फकीर के पास जाकर, इकहार्ट के पास जाकर कह रहा था, इकहार्ट से कह रहा था कि आई एम ए सेल्फमेड मैन। मैं ऐसा आदमी हूं, जिसने खुद ही अपने को निर्मित किया है। इकहार्ट ने उसकी बात सुनी, आकाश की तरफ हाथ जोड़े और कहा, हे परमात्मा, बहुत सी जिम्मेदारियों से तू मुक्त हो गया-- यू आर फ्री आफ मच रिस्पांसिबिलिटी। यह आदमी सेल्फमेड है, यह अच्छा है। नहीं तो मैं यही सोच रहा था कि हे भगवान, ऐसे-ऐसे आदमी तू कैसे बना देता है! लेकिन तू सेल्फमेड है, तेरी बड़ी कृपा है। कम से कम भगवान अपराधी होने से बच गया। नहीं तो जिम्मा भगवान पर ही जाता।
हम सब अपने पर बहुत भरोसा करते हैं। हममें से अधिक लोग अपने को सेल्फमेड मानते हैं। अपने को सेल्फमेड मानना, अपने को अपने द्वारा निर्मित मानना वैसे ही है, जैसे कोई अपना बाप होने की कोशिश करे। करते हैं सभी लोग। पूरी जिंदगी यही चेष्टा है कि हम सिद्ध कर दें कि हम अपने बाप हैं। या ऐसी चेष्टा है कि कोई अपने जूते के बंद को पकड़कर अपने को उठाने की कोशिश करे। करते हैं हम सब। थक जाते हैं, बंद टूट जाते हैं, हाथ-पैर टूट जाते हैं। कोई उठा नहीं पाता अपने को। जूते के बंद से पकड़कर अपने को उठाना! लेकिन यह अपने पर भरोसा छोड़ना प्रार्थना है। छोड़ें यह भरोसा कि मैं खुद ही उठा लूंगा। छोड़ें यह भरोसा कि मैं खुद ही उठा लूंगा। छोड़ें यह भरोसा कि मैं खुद ही खोज लूंगा। छोड़ें यह भरोसा कि सन्मार्ग मैं बना लूंगा, मैं पहुंच जाऊंगा। छोड़ें यह भरोसा कि मंदिर की यात्रा मुझसे हो सकती है। फिर भी मैं कहता हूं, यात्रा आपसे ही होगी। कोई और यात्रा करवाने

वाला नहीं है। लेकिन इस भरोसे के छोड़ते ही यात्रा शुरू हो जाती है। यह भरोसा ही बाधा है।
जटिल मालूम पड़ेगा थोड़ा सा। जटिल जरा भी नहीं है। यह भरोसा ही बाधा है।
यह अपने पर भरोसा छोड़ें। और अपने पर भरोसा छोड़ते ही आपकी ऊर्जा मुक्त हो जाती है। अपने पर भरोसा छोड़ते ही आपकी ऊर्जा परमात्म-प्रतिष्ठित हो जाती है। अपने पर भरोसा छोड़ते ही आप ही देवता हो जाते हैं। अपने पर भरोसा छोड़ते ही। कोई और अग्निदेवता नहीं है, जो आपको ले जाएगा। आपके ही भीतर छिपी हुई अग्नि काफी है। आपके भीतर ही दिव्यता काफी छिपी है, वही यात्रा शुरू कर देगी।
लेकिन जितना अहंकार उतनी ही वह दिव्यता संकुचित हो जाती है। जितना अहंकार उतना ही उस दिव्यता को मार्ग नहीं मिलता। जितना अहंकार उतने ही द्वार-दरवाजे बंद। जितना अहंकार उतनी ही वह दिव्यता लाख उपाय करे तो ऊपर नहीं जा सकती। क्योंकि अहंकार पत्थर की तरह गले में लटका होता है। और अहंकार डुबाता है नदी में। छोड़ें भरोसा। उस पत्थर को, जिसको गले में बांधे हैं, उसे अलग करें। आप तैर जाएंगे। आप ही तैर जाएंगे।
कभी आपने देखा है, नदी में एक बड़ी अदभुत घटना घटती है। लेकिन हम अंधे हैं, हम कुछ देखते ही नहीं। नदी में जिंदा आदमी डूब जाते हैं, मुर्दा तैर जाते हैं। मुर्दा बड़ा अदभुत है। जिंदा तो डूब गया और मुर्दा ऊपर है। मुर्दे को जरूर कोई सीक्रेट पता है, जो जिंदे को पता नहीं है। कोई राज, कोई रहस्य, कोई कुंजी तैरने की, पानी की छाती पर होने की, न डूबने की। मुर्दे को डुबाए नदी तो हम जानें! मुर्दे को कोई नदी नहीं डुबा पाती। बड़े-बड़े सागर नहीं डुबा पाते। मुर्दा लहरों पर आ जाता है। राज क्या है? मुर्दे को कौन सी बात पता है, जो जिंदों को पता नहीं?
मुर्दे को कुछ पता नहीं है। सिर्फ मुर्दा नहीं है। वही राज है। और जब कोई जिंदा रहते हुए मुर्दे की तरह हो जाता है, तो डूबना असंभव है। नीचे उतरना असंभव है। तैर जाता है। कोई देवता नहीं तैरा जाता, आपके अहंकार का पत्थर ही हट जाता है, तो आप हल्के हो जाते हैं, वेटलेस हो जाते हैं, निर्भार हो जाते हैं। फिर कोई डुबाए भी तो कैसे डुबाए!
डूबते हम अपने हाथों से हैं। अपने पर भरोसा ही डुबाता है। अपने अहंकार का ही आग्रह डुबाता है। मैं ही सब कर लूंगा, बस, यात्रा हो गई नर्क की। एक ही यात्रा हो पाएगी, नर्क पहुंच जाएंगे।
इसलिए ये प्रार्थनाएं बड़ी अदभुत हैं।
ध्यान रहे, मेरी अपनी कठिनाई है। जब मैं इस ऋषि की प्रार्थना को अदभुत कहता हूं, तो आप जो प्रार्थनाएं घरों में करते रहते हैं, चाहे ईशावास्य पढ़कर ही करते हों, उनको अदभुत नहीं कह रहा हूं। बिल्कुल बोगस हैं। अग्नि जलाए हुए लोग बैठे हैं, हवन-कीर्तन कर रहे हैं--बिल्कुल नानसेंस है। कोई अर्थ नहीं, कोई अभिप्राय नहीं। क्योंकि कहीं भी तो, वह जो अग्नि को जलाकर बैठा हुआ आदमी है, रूपांतरित नहीं होता। वही तो प्रमाण है, और तो कोई प्रमाण नहीं है।
वह जिंदगीभर से एक आदमी हवन कर रहा है, चालीस साल से हवन कर रहा है, वह आदमी वही का वही है। कहीं कोई फर्क नहीं पड़ा। हवन हुआ ही नहीं। एक आदमी रोज मंदिर जा रहा है, मस्जिद जा रहा है, रोज प्रार्थना कर रहा है, रोज आ रहा है। आदमी वही का वही है। मस्जिद को भला थोड़ा-बहुत नुकसान पहुंचा हो, उनको कोई नुकसान नहीं हुआ। मस्जिद भला उनसे डरने लगी हो कि ये सज्जन चालीस साल से परेशान कर रहे हैं, लेकिन वह जरा परेशान नहीं हैं। वह वही के वही हैं। नहीं, प्रार्थना हो नहीं रही है। मस्जिद में प्रवेश नहीं हो रहा है, मंदिर में प्रवेश नहीं हो रहा है। वह प्रवेश इतना स्थूल नहीं है, जैसा हम सोचते हैं।
ऋषि की प्रार्थना को मैं कह रहा हूं कि सार्थक है। बड़ी विनम्र है, बड़ी सरल है, बड़ी सहज है।
हे अग्नि, ले चल मुझे सन्मार्ग पर, क्योंकि मुझे पता नहीं।
बस, इतना जो कह सके पूरे भाव से।
हे आकाश, ले चल मुझे निराकार की तरफ, क्योंकि मुझे पता नहीं।

और अचानक आप पाएंगे कि मार्ग खुल गया। जिसने कहा, मुझे पता नहीं, उसके ज्ञान का मार्ग खुला। जिसने कहा, मैं अज्ञानी हूं, उसने ज्ञान की तरफ पहला कदम उठाया। जिसने कहा, मैं ज्ञानी हूं, उसने कहीं और थोड़ा रंध्र-वंध्र रहा हो, मकान में कोई छेद-वेद रहा हो, जहां से रोशनी आ जाए, उसको भी बंद किया। प्रार्थना सिर्फ अपने अज्ञान की स्वीकृति है। सिर्फ अज्ञान की ही नहीं, असहाय अवस्था की भी। अज्ञान ही नहीं है, बड़े असहाय हैं। कोई कूल नहीं दिखता, कोई किनारा नहीं दिखता, कोई नाव नहीं दिखती, कुछ नहीं दिखता। सागर अनंत दिखता है। गहराई भयंकर है। सामर्थ्य नहीं है बिल्कुल। आंख बंद करके समझे चले जाते हैं कि नाव में हैं--कागज की नावें हैं! आंख बंद करके समझे चले जाते हैं कि ठीक है सब, तट पर खड़े हैं। बड़ी असहाय--बिल्कुल हेल्पलेस है।
प्रार्थना में अज्ञान की स्वीकृति है, साथ ही स्वीकृति है इस बात की
कि मैं असहाय हूं। कोई उपाय नहीं, निरुपाय हूं। और जिसने यह की घोषणा कि मैं निरुपाय हूं, उसके हाथ आया उपाय। यह निरुपाय होने की घोषणा ही उपाय है। यह असहाय होने की पूर्ण स्वीकृति ही परम सहारे को उपलब्ध हो जाना है। जिसने छोड़ा अपने को, उसने पाया प्रभु को। जिसने कहा, अब से तू ही चला
तो मैं चलूंगा, तू ही उठा तो मैं उठूंगा, अब तू जहां ले जाए वहीं मैं जाऊंगा। जिसने इतनी सरलता से, अनकंडीशनल, बेशर्त समर्पण से, सरेंडर से अनंत के प्रति ज्ञापन किया, उसके भीतर का द्वार खुला।
ये प्रार्थनाएं द्वार खोलने की कुंजियां हैं। ये छोटी-छोटी प्रार्थनाएं बड़ी गहरी हैं। ये बड़ी दूरगामी हैं।
इस प्रार्थना को स्मरण रखें। उठते, बैठते, सोते, चलते, क्षणभर को मौका मिले, तो कहें अपने से, नहीं कुछ जानता हूं, असहाय हूं। प्रभु, तू ले चल। फिर भी मैं कहता हूं, जोर देकर कहता हूं कि कोई आपको ले जाने वाला नहीं आएगा। लेकिन यह प्रार्थना आपको ले जाएगी। आप ही समर्थ हो जाएंगे प्रार्थना के करते ही। प्रार्थना शक्ति है, बड़ी महत शक्ति है।
छोटे से अणु में अगर विराट ऊर्जा छिपी है, तो छोटी सी प्रार्थना में अनंत अणुओं से भी ज्यादा विराट ऊर्जा छिपी है। करें और देखें। तत्क्षण परिणाम है, तत्क्षण। एकदम हल्के हो जाएंगे। पंख निकल आएंगे और उड़ने की तैयारी हो जाएगी। भार गया। भार है ही हमारी अस्मिता में, अहंकार में, ईगो में। और हम ऐसे कुशल हैं कि हम प्रार्थना तक से अहंकार को भर लेते हैं। देखें, मंदिर एक आदमी प्रार्थना करके लौटता है, तो चारों तरफ देखता लौटता है कि पापी जा रहे हैं। क्योंकि वह प्रार्थना करके आ रहा है। मोहम्मद एक दिन एक युवक को कहे कि कभी मेरे साथ प्रार्थना को चल। मोहम्मद ने कहा था तो वह टाल न सका। जैसे कि मैं आपसे कभी कहता हूं कुछ, तो आप नहीं टाल पाते हैं। नहीं टाल सका। मोहम्मद ने कहा, सोचा कि चलो, नहीं मानते, चले चलें। पहुंच गया सुबह। मोहम्मद तो नमाज में खड़े हो गए, वह भी अपना कुछ-कुछ गुन-गुन करता रहा खड़ा होकर। गुन-गुन ही कर सकता था। मोहम्मद बड़े बेचैन हुए कि इस आदमी को गलत ले आए। लेकिन अब कोई उपाय न था।
नमाज पूरी की, वापस लौटे। सुबह का वक्त, गर्मी के दिन हैं, लोग अभी भी सोए हुए हैं। उस युवक ने मोहम्मद से कहा, देखते हैं हजरत, इन लोगों का क्या होगा? नमाज का वक्त, अभी तक बिस्तरों पर पड़े हैं! क्या ख्याल है आपका? ये लोग नर्क जाएंगे?
मोहम्मद ने कहा, भाई, ये कहां जाएंगे मुझे पता नहीं, मुझे वापस मस्जिद जाना है। तो क्या हो गया आपको? उन्होंने कहा, मेरी पहली नमाज तो बेकार गई। तुझे मैंने नुकसान पहुंचाया। तुझे मैंने नुकसान पहुंचाया। नमाज नहीं करने के पहले तू कम से कम विनम्र था, कम से कम इनको पापी नहीं समझता था। यह तो और उपद्रव हो गया। तू मुझे माफ कर और दुबारा मस्जिद मत आना। और मैं जाऊं, फिर से नमाज पढूं, वह पहली नमाज तो बेकार गई। मैंने तुझे नुकसान पहुंचाया। तेरी अकड़ और भारी हुई। प्रार्थना से अकड़ टूटनी चाहिए। तो वह और भारी हो गई।
तिलक, चंदन-वंदन लगाकर देखा, आदमी कैसा अकड़कर चलता है! चोटी-वोटी बढ़ाकर देखा आदमी... ! जैसे परमात्मा से कोई लाइसेंस उनको मिल गया है। वे कुछ

सगे-संबंधी हो गए, अब वह भाई-भतीजों में उनकी गिनती है परमात्मा के। अब वे सारी दुनिया को नर्क भेजे बिना नहीं मानेंगे।
प्रार्थना भी अहंकार को भर जाती है, तो आदमी अदभुत है। चालाकी की कोई सीमा नहीं है। प्रार्थना की शर्त ही अहंकार-विसर्जन है। धार्मिक आदमी कह भी न सकेगा अपने मुंह से कि मैं धार्मिक हूं। क्योंकि इतने अधर्म का उसे बोध होगा अपने में कि वह कहेगा कि मुझसे अधार्मिक और कौन है? धार्मिक आदमी कह भी न सकेगा कि मैं पुण्यात्मा हूं। क्योंकि पुण्य में भी उसे पाप की रेखा दिखाई पड़ेगी, वह अहंकार खड़ा हुआ दिखाई पड़ेगा। वह कहेगा, मुझसे पापी और कौन?
इसलिए वह ऋषि कहता है कि न मालूम कितने कर्म किए हैं, जो भारी पड़ेंगे।
न मालूम कितने पाप किए हैं, जो भारी पड़ेंगे। योग्य तो मैं बिल्कुल नहीं हूं। पात्र तो मैं बिल्कुल नहीं हूं। दावेदार मैं हो नहीं सकता। क्लेम मैं कर नहीं सकता कि मुझे मिल जाए। सिर्फ प्रार्थना कर सकता हूं।
ध्यान रहे, इसलिए तीसरा सूत्र आपसे कहता हूंः प्रार्थना दावा नहीं है, क्लेम नहीं है, पात्रता की घोषणा नहीं है, अपात्रता की स्वीकृति है। मैं कुछ हकदार हूं, ऐसा भाव भी आ गया, तो प्रार्थना विषाक्त हो गई। मैं हकदार तो बिल्कुल नहीं हूं।
इसीलिए प्रार्थना करने वाले को जब मिलता है कुछ, तो वह कहता है कि तेरी कृपा से मिला, मेरी योग्यता से नहीं। इसलिए प्रार्थना करने वालों ने प्रभु-प्रसाद शब्द खोजा है। वे कहते हैं, जो मिलता है वह प्रभु-प्रसाद है, डिवाइन ग्रेस। हम कहां पात्र थे। हमसे ज्यादा अपात्र तो खोजना मुश्किल था।
फिर भी मैं कहता हूं कि मिलता है आपकी पात्रता से। आपकी अपात्रता से नहीं मिलता। लेकिन अपनी अपात्रता का बोध ही प्रार्थना की पात्रता है। अपनी अपात्रता का बोध ही प्रार्थना की पात्रता है। अपने ना-कुछ होने का बोध ही प्रार्थना का दावा है। दावा न करना ही प्रार्थना का रहस्य है।
प्रार्थना भेजती है। न आए, तो हम कहेंगे, हम इस योग्य कहां थे कि आए। आ जाए, तो हम कहेंगे, उसकी कृपा है।
यद्यपि उसकी कृपा से नहीं मिलता, क्योंकि उसकी कृपा सब पर बराबर है। अगर उसकी कृपा से मिलता हो, तो उसका मतलब यह हुआ कि वहां भी भाई-भतीजावाद कुछ चलता होगा। क्योंकि एक आदमी ने घंटे बजाकर मंदिर में प्रार्थना कर ली और कहा कि हे भगवान, तू पतित-पावन है, कि तू महान है... । जैसे कोई राजा के दरबार में कुछ कह देता हो--दरबारी लोग होते हैं न--और राजा प्रसन्न हो जाता हो। ऐसे ही लोग प्रार्थना किए चले जाते हैं कि शायद परमात्मा प्रसन्न हो जाए। इसलिए हमने सब प्रार्थनाएं राजाओं के दरबारों में बोले गए वचनों के आधार पर निर्मित की हैं--दरबारी! हां दरबारी भी कहीं कोई प्रार्थना हो सकती है? खुशामदें हैं। खुशामद को संस्कृत में कहते हैं स्तुति। खुशामद है।
नहीं, परमात्मा महान है, यह नहीं कहना है, यह तो खुशामद हो जाएगी। मैं कुछ नहीं हूं, इतना निवेदन काफी है। तू महान है, यह नहीं। क्योंकि मैं कितना ही महान कहूं, मुझ क्षुद्र से तेरी महानता की घोषणा भी कैसे हो सकेगी! और मेरे द्वारा बताई गई तेरी महानता कितनी महानता होगी! और मैं कितना तुझे नाप पाऊंगा! कितनी तेरी महानता का हिसाब लगा पाऊंगा! नहीं, तेरी महानता के लिए मेरे पास कोई मापदंड नहीं हो सकता। मैं अपनी क्षुद्रता को ही माप लूं उतना काफी है। इतना ही मैं कह पाऊं प्रार्थना के क्षण में कि मैं कुछ भी नहीं हूं, काफी है।
और उसकी कृपा से नहीं मिलता कुछ, यह मैं आपसे कह दूं। यद्यपि जब भी किसी को मिलता है, तो वह जानता है, उसकी कृपा से मिला है। जब भी किसी को मिला है, तो उसने घोषणा की है हृदयपूर्वक, नाचकर गांव-गांव खबर कर दी है लोगों को कि उसकी कृपा से मिला है। उसका प्रसाद है। यद्यपि उसकी कृपा से किसी को कुछ नहीं मिलता है। क्योंकि कृपा तो वही कर सकता है जो अकृपा भी कर सकता हो। उसकी कृपा तो शाश्वत है। उसकी कृपा तो बरस ही रही है।
बुद्ध कहते थे, बरस रहा है अमृत, लेकिन कुछ हैं, जो अपने घड़ों को उलटा रखे बैठे हैं। जिस दिन घड़ा सीधा होगा, उस दिन अमृत बरसने लगेगा, ऐसा नहीं

है। अमृत तो उस दिन भी बरस रहा था, जिस दिन आप घड़ा उलटा किए थे। वहां भी बरस रहा था, जहां कोई घड़ा न था। कोई आप पर विशेष कृपा नहीं हो जाएगी कि जब आप अपनी मटकी सीधी करेंगे, तो कोई अमृत आप पर बरसने आ जाएगा कि चलो इसकी मटकी सीधी है, बरस जाएं! अमृत तो बरस ही रहा है।
परमात्मा की कृपा उसका स्वभाव है। अस्तित्व का अमृत उसका स्वभाव है।
वह बरस ही रहा है। वह सतत बरस रहा है। हमारी मटकी उलटी हम रखकर बैठे हैं। अहंकार मटकी को उलटा रखकर बैठता है और भरने की कोशिश करता है। मटकी को सीधी रखने का मतलब है, मैं ना-कुछ हूं, इसकी घोषणा। जब मटकी सीधी होती है, तो उसके भीतर का खालीपन ही तो प्रगट होता है, और क्या प्रगट होता है? जब मटकी उलटी होती है, तो खालीपन छिपा होता है, और क्या होता है?
उलटी मटकी अपने भरे होने का भ्रम पैदा कर लेती है, क्योंकि खालीपन दिखाई नहीं पड़ता, एंपटीनेस दबी होती है। इसीलिए तो हम मटकी को उलटा रखे रहते हैं। सीधी होकर मटकी को पता चलता है कि मैं तो सिवाय खालीपन के और कुछ भी नहीं हूं। सिर्फ एक जगह हूं, जिसमें कुछ भर सकता है। भरा हुआ मुझमें कुछ भी नहीं है।
जिसने जाना कि मैं ना-कुछ हूं, उसकी मटकी हो गई सीधी। जिसने अपनी मटकी
की सीधी, गया प्रार्थना में, कृपा बरस रही है, वह भर जाएगी। जब भरेगी, तब वह कहेगा कि उसकी कृपा। यद्यपि आप मटकी सीधी न करते, तो उसकी कृपा हो नहीं सकती थी। आपकी ही कृपा है कि आपने मटकी सीधी रखी।
अपने पर कृपा करना प्रार्थना है। अपने पर करुणा करना प्रार्थना है।
अपने पर क्रूर होना अहंकार है। अपने साथ ज्यादती करना अहंकार है।
अपने साथ हिंसा करना अहंकार है।
इतना ही सुबह के लिए। फिर हम सांझ... ।
अब हम चलें, कृपा करें, मटकी सीधी रखें।

ईशावास्य उपनिषद
तेरहवां प्रवचन

ओम् शांतिः शांतिः शांतिः

ओम पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
ओम शांतिः शांतिः शांतिः।

ओम वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की ही उत्पत्ति होती है। तथा पूर्ण का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही बच रहता है।
ओम शांति, शांति, शांति।

जीवन का शाश्वत नियम है, जहां से होता है प्रारंभ, वहीं होती है परिणति। जो है आदि, वही है अंत। जीवन के इसी शाश्वत नियम के अंतर्गत ईशावास्य जिस सूत्र से शुरू होता है, उसी सूत्र पर पूर्ण होता है। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। सभी यात्राएं वर्तुल में हैं। दि फर्स्ट स्टेप इज़ दि लास्ट आलसो। पहला कदम आखिरी कदम भी है।
जो ऐसा समझ लेते हैं कि पहला कदम आखिरी कदम भी है, वे व्यर्थ की दौड़-धूप से बच जाते हैं। जो जानते हैं, जो प्रारंभ है वही अंत भी है, वे व्यर्थ की चिंता से बच जाते हैं। पहुंचते हैं हम वहीं, जहां से हम चलते हैं। यात्रा का जो पहला पड़ाव है, वही यात्रा की अंतिम मंजिल है। इसलिए बीच में हम बिल्कुल आनंद से चल सकते हैं। क्योंकि अन्यथा कोई उपाय नहीं है। हम वहां नहीं पहुंचेंगे जहां हम नहीं थे। हम वहां पहुंचने की कितनी ही चेष्टा करें, हम वहां नहीं पहुंचेंगे जहां हम नहीं थे। हम वहीं पहुंचेंगे, जहां हम थे।
इसे ऐसा समझें कि हम वही हो सकते हैं, जो हम हैं ही। अन्यथा कोई उपाय नहीं है। जो हममें छिपा है, वही प्रगट होगा। और जो प्रगट होगा, वह वापस लुप्त हो जाएगा। बीज वृक्ष बनेगा, वृक्ष फिर बीज बन जाते हैं। ऐसा ही जीवन का शाश्वत नियम है। इस नियम को जो समझ लेते हैं, उनकी चिंता क्षीण हो जाती है। उनके त्रिविध ताप शांत हो जाते हैं। कोई फिर कारण नहीं है। न दुख का, न सुख का। दुखी होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि हम अपनी मंजिल अपने साथ लेकर चलते हैं। सुखी होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि हमें ऐसा कुछ भी नहीं मिलता, जो हमें सदा से मिला हुआ ही नहीं है।
इसलिए इस महानियम की सूचना के लिए ही उपनिषद शुरू होता है ईशावास्य
के जिस मंत्र से, उसी मंत्र पर पूरा होता है। बीच में हमने जो यात्रा की, वे भी उसी मंत्र तक पहुंचने के अलग-अलग द्वार थे। प्रत्येक मंत्र पुनः-पुनः उसी महासागर की स्मृति को जगाने के लिए सूचना थी। और प्रत्येक घाट और प्रत्येक तीर्थ उसी सागर में नाव छोड़ देने के लिए पुकार, आमंत्रण, आह्वान था। इस सूत्र को अगर आपने ख्याल रखा हो, तो हर सूत्र के प्राणों में यही अनुस्यूत था। इसीलिए इसे पहले ही घोषणा कर दी थी और अब अंत में उसकी निष्पत्ति की घोषणा है। मैंने पहले ही दिन इस सूत्र का अर्थ आपको कहा था, आज इसका अभिप्राय कहूंगा।
पूछेंगे आप, अर्थ और अभिप्राय में क्या फर्क होता होगा?
अर्थ तो बहुत प्रगट बात है, अभिप्राय बहुत गुप्त। अर्थ तो शरीर है, अभिप्राय आत्मा। अर्थ तो बुद्धि से भी समझा जा सकता है, अभिप्राय सिर्फ हृदय से। स्वभावतः प्राथमिक रूप से अर्थ ही कहा जा सकता था, अभिप्राय नहीं। लेकिन अब हमने बहुत-बहुत द्वारों से भी झांककर देखा उस मंदिर में, जिस मंदिर के लिए यह सूत्र घोषणा करता है। न केवल हमने समझा, बल्कि ध्यान में उतरकर भी देखने की कोशिश की।
एक अर्थ में यह घटना अनूठी है। उपनिषद पर बहुत टीकाएं हुई हैं। लेकिन ध्यान के साथ कभी कोई टीका हुई हो, यह पृथ्वी पर पहला मौका है। उपनिषद के शब्दों का अर्थ हुआ है, लेकिन अभिप्राय में छलांग लगाने की जीवंत चेष्टा भी हुई हो, यह पहला मौका है। अभिप्राय में अर्थ लगाने की जीवंत चेष्टाएं

भी हुई हैं। लेकिन अर्थ के साथ अभिप्राय की दोहरी खोज एक साथ हुई हो, यह पहला मौका है।
मेरी दृष्टि में, जो मैं बोल रहा था, वह सिर्फ इसीलिए था कि जब आप छलांग लगाएंगे, तो उसके लिए जंपिंग बोर्ड बन जाए। लेकिन प्रयोजन छलांग ही था। इसलिए हर सूत्र के बाद हम ध्यान में कूदते रहे। शब्द जिसे जाना था, उसे छलांग लगाकर अनुभव से भी जानने की चेष्टा की। इसलिए अब मैं अभिप्राय कह सकता हूं। क्योंकि अब आपने शब्द भी सुन लिए हैं और शब्द को समझकर पर्याप्त नहीं माना, शब्द के बाद कुछ और भी किया है-- निःशब्द में पहुंचने के लिए। अर्थ तो केवल वे ही जान पाते हैं, वे भी जान लेते हैं, जो शब्द को जानते हैं। लेकिन अभिप्राय केवल वे ही जानते हैं और जान पाते हैं, जो निःशब्द को जान लेते हैं। अगर थोड़ी भी झलक निःशब्द की मिली होगी, तो अब मैं जो अभिप्राय कहता हूं, वह समझ में आ सकेगा।
इस सूत्र का अभिप्राय क्या है? इस सूत्र के अभिप्राय में पहली बात तो आपसे यह कह दूं, यह सूत्र घोषणा करता है कि जीवन अतर्क्य है, इल्लाजिकल है। कहीं भी इस सूत्र में कहा नहीं है कि जीवन अतर्क्य है। इशारा है यह। जो कहा है, उसका अर्थ मैंने कह दिया। जो नहीं कहा है, उसका अर्थ आप से कहता हूं। जो सिर्फ इशारा है।
विट्गिंस्टीन ने इस सदी में लिखी गई संभवतः सर्वाधिक कीमती किताब में--.इन पूरे सौ वर्षों में लाखों किताबें लिखी गई हैं, लेकिन विट्गिंस्टीन की किताब अनूठी है। किताब का नाम है-- ट्रेक्टेटस। इस ट्रेक्टेटस में विट्गिंस्टीन ने एक बात कही है-- दैट व्हिच कैन नाट बी सेड, मस्ट नाट बी सेड। जो नहीं कहा जा सकता, उसे कभी नहीं कहना चाहिए। उसे अनकहा छोड़ देना चाहिए। एक बात और कही है कि दैट व्हिच कैन नाट बी सेड, कैन बी शोड। जो नहीं कहा जा सकता है, वह भी बताया जा सकता है।
ऐसा समझें, जो नहीं कहा जा सकता है, उसकी तरफ भी इशारा किया जा सकता है। जो कहा जा सकता था, वह मैंने पहले सूत्र के अर्थ में आपसे कहा। जो नहीं कहा जा सकता है और न ही कहे जाने का जिसका उपाय है, वह इस सूत्र का अभिप्राय है। वह मैं अब आपसे इशारा करता हूं।
पहला इशाराः जीवन अतर्क्य है। इसलिए जो लोग तर्क से जीवन को खोजने जाएंगे, वे केवल मृत्यु के आसपास भटकेंगे, जीवन को कभी नहीं जान पाएंगे। क्यों, इस सूत्र से अतर्क्य की तरफ, इररेशनल की तरफ इशारा क्यों मिलता है? क्योंकि सूत्र कहता है, पूर्ण से पूर्ण निकल आता है।
पहली तो बात पूर्ण से पूर्ण निकलेगा कैसे? क्योंकि पूर्ण के बाहर कोई जगह भी नहीं होती, जिसमें पूर्ण निकल आए। पूर्ण का मतलब ही है एब्सोल्यूट, जिसके पार कुछ भी नहीं है। अगर कुछ भी हो, तो उतना तो अपूर्ण हो जाएगा इसके भीतर। पूर्ण के बाहर कुछ भी नहीं होता। जगह भी नहीं होती, स्पेस भी नहीं होती, आकाश भी नहीं होता। तो पूर्ण के बाहर पूर्ण निकलेगा कैसे? निकलेगा तो कहां जाएगा निकलकर? निकलने की कोई भी सुविधा नहीं है।
लेकिन यह सूत्र कहता है, पूर्ण से पूर्ण निकाल लो। न केवल इतना कहता है, बल्कि और एक अतर्क्य बात कहता है कि फिर पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। एक तो निकल नहीं सकता पूर्ण से पूर्ण, क्योंकि निकलेगा कहां? और अगर निकल आए, पूर्ण ही निकल आए, तो पीछे शेष कैसे रह जाएगा? पीछे तो सब शून्य हो जाएगा।
यह तथ्य तर्क का नहीं है, तर्क से कोई सोचेगा तो यह किसी पागल का वक्तव्य है। गणित से कोई सोचेगा, तो यह सूत्र बिल्कुल गलत है। यह किसी ने होश में नहीं लिखा है, कोई नशे में रहा होगा। मस्तिष्क ठीक न रहा होगा, तब कहा होगा। अगर कोई तर्क और गणित से सोचेगा तब।
लेकिन जो तर्क और गणित से सोचता है, वह वैसी ही भूल करता है, जैसी एक बार एक बगीचे में हो गई।
एक माली ने अपने एक मित्र को निमंत्रण दे दिया कि गुलाब में बहुत खूबसूरत फूल आए हैं। आओ बगीचे में! लेकिन मित्र तो था सुनार। तो वह अपने सोने के कसने की कसौटी साथ ले आया। और जब गुलाब के फूल उसने देखे, तो उसने कहा, ऐसे मैं न मानूंगा। मुझे तुम धोखा न दे पाओगे। मैं कोई बच्चा नहीं हूं। मैं सोने तक को परख लेता हूं, इस फूल का क्या वश! इसको भी परख लूंगा।

उस माली ने कहा, फूल को परखोगे कैसे? उसने कहा, मैं सोने को कसने की कसौटी साथ ले आया हूं। माली घबराया कि गलती हो गई इस आदमी को निमंत्रण देकर।
लेकिन तब तक तो उस आदमी ने फूल को तोड़कर और पत्थर की कसौटी पर घिस डाला था।
घिसकर फूल को नीचे फेंक दिया था और कहा कि सब झूठ है। फूल सच नहीं है।
कसौटी कहती है।
जैसा उस माली को लगा होगा, वैसे ही अगर कोई तर्क और गणित से इस सूत्र
को समझने जाए, तो इस सूत्र के ऋषि को लगेगा। फूल सोने को कसने की कसौटियों पर नहीं कसे जाते। और कसे जाएं तो इसमें फूलों की गलती नहीं है, कसने वाले की नासमझी है।
यह सूत्र-- इस ईशावास्य में कहे गए सभी सूत्र, और विशेषकर यह सूत्र-- आत्म-अनुभव में खिला हुआ फूल है। इसे तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। और इस सूत्र में पूरी खबर है कि तर्क की कसौटी पर कसना मत, क्योंकि सूत्र इशारा कर रहा है। वह यह कह रहा है कि हम कुछ ऐसी बात कहने जा रहे हैं, जो अतर्क्य है। जो हो नहीं सकती है, लेकिन होती है। जो होनी नहीं चाहिए, फिर भी घटित होती है। जिसके घटने का कोई आधार नहीं मिलता, खोजने से कोई उपाय नहीं मिलता, फिर भी है।
जीवन अतर्क्य है, इसका क्या अर्थ हुआ? इसका अर्थ हुआ कि जो जीवन को नियम, गणित, तर्क, न्याय, विधि, व्यवस्था से सोचेंगे, वे जीवन के रहस्य, मिस्ट्री से वंचित रह जाएंगे। एक फूल को सुनार ने कस लिया पत्थर पर। इसी फूल को अगर वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में ले जाएंगे और कहेंगे, बहुत सुंदर है, तो वह भी इस फूल के एक-एक टुकड़े को काटकर देखेगा कि सौंदर्य कहां है? वह भी इस फूल के एक-एक तत्व को निकालकर बिखरा लेगा, एक-एक केमिकल को अलग कर लेगा और कहेगा, सौंदर्य कहां है? इसमें रस है, खनिज हैं, केमिकल है, सब है, सौंदर्य कहीं भी नहीं है। वह एक-एक बोतल में निकालकर अलग-अलग चीजें रख देगा और कहेगा कि ये सब चीजें हो गईं, फूल पूरा हो गया, सब बोतलों में सब चीजों के लेबल लगा दिए, लेकिन सौंदर्य कहीं भी मिलता नहीं है।
फूल का कोई कसूर नहीं है कि वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में सौंदर्य न मिले। वैज्ञानिक का भी कसूर नहीं है, क्योंकि उसके पास जो प्रयोगशाला है, वह सौंदर्य को मापने के लिए नहीं है। सौंदर्य को मापने का आयाम दूसरा है। जीवन को जो लोग गणित की तरह सोचते हैं, वे लोग जीवन को कभी नहीं माप पाते। क्योंकि जीवन मूलतः एक रहस्य है। कितना ही हम जान लें, हमारा सब जाना हुआ, और गहरे अज्ञान पर खड़ा होता है। कितना ही हम जान लें, हमारा सब जाना हुआ, और भी जानने को शेष है, उसकी तरफ इंगित मात्र करता है। कितना ही हम जान लें। और जितना हम जानते हैं, उतना ही पता चलता है कि आदमी का अज्ञान गहन है।
जीवन को हम खोल नहीं पाते हैं। खोलते हैं तो और उलझ जाता है। हमारे जीवन को खोलने की सब कोशिश वैसी ही है, जैसा मैंने सुना है, ईसप ने एक कहानी कही है। कहा है कि एक सेंटीपीड, एक शतपदी जानवर गुजरता है एक रास्ते से। एक खरगोश ने देखा, बहुत चकित हुआ। खरगोश की दिक्कत यह हुई-- खरगोश किसी तर्क की पाठशाला में शिक्षा पाया होगा-- उसकी कठिनाई यह हुई कि यह शतपदी जानवर, सौ पैर वाला जानवर, पहले कौन सा पैर उठाता होगा? फिर कौन सा उठाता होगा? फिर कौन सा उठाता होगा? कैसे हिसाब रखता होगा कि कौन सा पैर उठ गया, कौन सा नहीं उठा! सौ पैर हैं, लड़खड़ा जाते होंगे, दिक्कत में पड़ जाता होगा! चलता कैसे होगा?
रोका। कहा कि रुको! एक जवाब देते जाओ। मैं जरा एक तर्क का विद्यार्थी हूं। मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूं। चार पैर चलाते हैं हम, तब तो समझ में आता है, हिसाब रह जाता है। सौ पैर चलाते होओगे, हिसाब कैसे रखते हो? शतपदी जानवर ने कहा, अब तक चलता रहा हूं भलीभांति, हिसाब रखने की जरूरत नहीं पड़ी। अब तक कभी सोचा भी नहीं इस भांति कि कौन सा पैर पहले उठता है, कौन सा पीछे उठता है। लेकिन तुम कहते हो तो अब मैं सोचकर तुम्हें बताऊंगा।
खरगोश वहीं बैठा रहा। शतपदी ने पैर उठाने की कोशिश की, लड़खड़ाकर गिर गया। सौ पैर, कौन सा उठाऊं! वह भी मुश्किल में पड़ गया। दयनीय मन से उसने खरगोश से कहा, मेरे मित्र! तुम्हारे तर्क ने मुझे मुश्किल में डाल दिया है। तुम कृपा करके अपने तर्क को अपने पास रखना। और शतपदी यहां से कोई

गुजरे तो तुम यह प्रश्न मत पूछना। हम बड़े मजे से जी रहे थे। कभी पैरों ने कोई दिक्कत न दी थी। कभी पैरों ने कोई सवाल न उठाया और कोई तर्क खड़ा न किया था। और कभी हमने सोचा न था कि कौन सा पहले उठता है, कौन सा पीछे उठता है। पता नहीं, कौन पहले उठता था, कौन पीछे उठता था। इतना तय है कि हम अब तक चले हैं। अब तुमने मुझे मुश्किल में डाल दिया।
आदमी की सबसे बड़ी मुश्किल यही है कि वह शतपदी जानवर की हालत में है और सवाल किसी खरगोश ने नहीं पूछा, आदमी खुद ही पूछ लेता है। खुद ही पूछ-पूछकर उलझता चला जाता है। खुद ही सवाल पूछ लेता है और खुद ही जवाब निर्मित कर लेता है। सवाल तो गलत होते ही हैं, जवाब उनसे भी गलत हो जाते हैं। हर जवाब नए सवाल उठा देता है। फिर सवालों की भीड़ और जवाबों की भीड़ और आदमी उलझता चला जाता है। और वह घड़ी आ जाती है, जब उसे कुछ भी पता नहीं रहता है कि क्या- क्या है-- व्हाट इज़ व्हाट। हम सब उस हालत में हैं।
संत अगस्तीन से किसी ने पूछा कि एक सवाल मेरे मन को बड़ा परेशान करता है। मुझे जवाब दे दें तो मुझे बड़ी राहत मिले। सुना है, आप ज्ञानी हैं। अगस्तीन ने कहा कि सुना होगा तुमने कि ज्ञानी हूं, लेकिन जब से मैंने सुना है, तब से मैं जरा मुश्किल में पड़ गया हूं। उस आदमी ने पूछा कि आपकी क्या मुश्किल है? मुश्किल हम अज्ञानियों की होती है। अगस्तीन ने कहा, मैं इसलिए मुश्किल में पड़ गया हूं कि जब से मैं सुन रहा हूं कि मैं ज्ञानी हूं, तब से मैं बहुत खोजता हूं अपने भीतर कि ज्ञान कहां है, कहीं पाता नहीं। पहले तो भूल-चूक से मैं भी मानता था। अब? अब मानना कठिन है। फिर भी तुम्हारा सवाल क्या है? जब तुम इतनी दूर चलकर आ गए हो तो सवाल पूछ ही लो। भला मैं जवाब न दे सकूं, तुम्हें कम से कम राहत तो रहेगी कि सवाल पूछ लिया है। और चाहे मैं जवाब दे भी दूं, जवाब कोई दे दे, सवालों के जवाब कहीं किसी को मिलते हैं? इसलिए तुम पूछ तो लो ही।
उस आदमी ने पूछा कि मैं यही जानना चाहता हूं कि समय क्या है-- व्हाट इज़ टाइम? अगस्तीन ने कहा कि बस, वही सवाल पूछ लिया, जो मैं सोचता था और डरता था कि तुम पूछ न लो। कुछ ऐसे सवाल हैं कि जब तक तुम न पूछो, हमें पता होता है-- अगस्तीन ने कहा-- कि मतलब क्या है। और पूछा कि हम मुश्किल में पड़े। मुझे पक्की तरह पता है कि समय क्या है। लेकिन तुमने पूछा कि मुश्किल में डाला। आपसे भी कोई पूछे कि समय क्या है? भलीभांति आप जानते हैं। वक्त पर ट्रेन पकड़ लेते हैं, बस पकड़ लेते हैं, दफ्तर पहुंच जाते हैं, दफ्तर से घर आ जाते हैं। समय का आपको भलीभांति पता है, लेकिन कोई पूछे भर न आपसे कि समय क्या है, नहीं तो शतपदी जानवर की हालत हो जाए।
समय क्या है? जन्मे, तारीखें पता हैं, घड़ियां पास में हैं, कैलेंडर लटके हैं, सब पता है, फिर भी समय क्या है? अभी तक कोई उत्तर नहीं दे सका है। और जितने उत्तर दिए गए हैं, वे सब अंधेरे में टटोलने जैसे हैं, जिनसे कुछ हल नहीं होता है।
पूछे कोई, आत्मा क्या है? है आपके पास। जन्मे, उस दिन से है। जो जानते हैं, वे कहते हैं, जन्मे उसके पहले से है। इतने दिन हो गए, आत्मा आपके पास है, अभी तक पता नहीं लगा पाए कि क्या है। कोई न पूछे तो सब ठीक है। कोई पूछे तो अड़चन खड़ी हो जाती है।
प्रेम क्या है, कोई पूछे। करते हैं सब। नहीं भी करते, तो भी करते हुए बताते हैं। कितनी प्रेम की कहानियां हैं! सभी कहानियां प्रेम की हैं। और इसीलिए प्रेम की हैं, क्योंकि प्रेम आदमी अब तक कर नहीं पाया। कहानी लिख-लिखकर मन को समझाता है। सब कविताएं प्रेम की हैं। जिस आदमी की भी जिंदगी में प्रेम नहीं होता, वह प्रेम की कविता लिखने लगता है। कविता लिखना बहुत आसान है, प्रेम करना बड़ा कठिन है। कविता तो तुक बांध लेने से बंध जाती है, प्रेम तो सब तुक तोड़ने से बनता है। कविता के तो छंद और नियम हैं, प्रेम तो बिल्कुल निश्छंद है-- छंदहीन। कहां शुरू होता है, कहां अंत होता है, कुछ पता नहीं। कोई मात्रा नहीं, कोई ठिकाना नहीं। तो कविता तो सीखी जा सकती है, बनाई जा सकती है। प्रेम को बनाने और सीखने का कोई उपाय नहीं है। लेकिन प्रेम की हम चौबीस घंटे बात करते हैं और कोई पूछ ले कि प्रेम क्या है?
इस सदी के एक बहुत बड़े विचारक, और कहना चाहिए सबसे बड़े तार्किक आदमी जी.ई.मूर ने एक किताब लिखी है। इन पचास वर्षों में जिस आदमी ने मनुष्य जाति

के मन को सर्वाधिक तार्किक रूप से प्रभावित किया है, वह जी.ई.मूर है। उसने एक किताब लिखी है। किताब का नाम है, प्रिंसिपिया इथिका-- नीति-शास्त्र के सिद्धांत। बड़ी किताब है, बड़ी मेहनत की है। और एक ही सवाल पर मेहनत की है-- व्हाट इज़ गुड? शुभ क्या है, अच्छाई क्या है, भलाई क्या है?
और इस बड़े ग्रंथ में इतना श्रम किया है कि मैं मानता हूं कि किसी दूसरे आदमी ने मनुष्य जाति के पूरे इतिहास में किसी प्रश्न पर इतना श्रम नहीं किया है। और इतनी मेहनत के बाद यह तर्कशास्त्री, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी का सबसे ज्यादा विचारशील व्यक्ति, इतनी बड़ी किताब को, वर्षों की मेहनत के बाद-- एक-एक इंच सरककर किताब लिखी गई है, और एक-एक शब्द तौलकर लिखा गया है-- आखिर के नतीजे में कहता है, गुड इज़ इनडिफाइनेबल। वह जो शुभ है, उसकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती। और आखिर में कहता है कि शुभ ऐसा ही है, जैसा कि कोई मुझसे पूछे, व्हाट इज़ यलो-- पीला रंग क्या है? तो मैं क्या कहूं? पीला रंग पीला है, यलो इज़ यलो! और क्या कहिएगा? कि पीला रंग पीला है। लेकिन यह कोई कहना हुआ! यह तो हमें भी पता है कि पीला रंग पीला है। हम
यह पूछते हैं कि पीला रंग है क्या? आप क्या करोगे? तोड़कर ले आना एक फूल। कहना कि यह है। लेकिन वह जी.ई.मूर कहता है कि यह पीला फूल है, पीला रंग नहीं। एक पीली दीवार है रंगी हुई। लेकिन वह पीली दीवार है, पीला रंग नहीं। एक पीला कपड़ा है। लेकिन वह पीला कपड़ा है, पीला रंग नहीं है। हम यह पूछते हैं कि पीले फूल में, पीले कपड़े में, पीली दीवार में जो पीलापन है, वह क्या है-- व्हाट इज़ यलोनेस? आप क्या कहिएगा? आप कहेंगे कि यह रही, इससे ज्यादा और बकवास न करो।
मूर भी यही कहता है। मूर भी यही कहता है इतनी मेहनत के बाद कि ज्यादा
से ज्यादा हम कह सकते हैं कि दिस इज़ यलोनेस। हम इशारा कर सकते हैं, व्याख्या नहीं कर सकते। क्या व्याख्या करिएगा? अगर पीले रंग की व्याख्या नहीं हो सकती तो परमात्मा की करिएगा? कोई जी.ई.मूर से जाकर कहे-- अब तो वह मर गया बेचारा, जिंदा होता तो मैं सोचता था उससे कहूं; या फिर कभी आगे यात्रा में मिल जाए, तो उससे कहूं-- कि जब पीले रंग को भी तुम पाते हो कि उसकी व्याख्या नहीं हो सकती, तो परमात्मा की व्याख्या हो सकेगी?
जीवन के क्षुद्रतम तथ्य भी अव्याख्य हैं। जब मैं कहता हूं, जीवन अतर्क्य है, तब मैं कह रहा हूं कि जीवन अव्याख्य, इनडिफाइनेबल है। आप उसकी व्याख्या नहीं कर सकते। जी सकते हैं, कह नहीं सकते, क्या है। और जब भी कहने जाएंगे, तो ऐसी ही गलती हो जाएगी, जैसी इस सूत्र का ऋषि कहकर पड़ गया गलती में। कहता है, पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। यह तो पहेली हुई।
यह तो पहेली ऐसी हुई, जैसा कि एक झेन फकीर था रिंझाई। और ये फकीरों को बड़ा मजा आता है पहेलियां खड़ी करने में। क्योंकि उनसे इशारे किए जा सकते हैं। जब भी कोई उसके पास आता सत्य की खोज करने, तो वह कहता, सत्य पीछे खोज लेना। मैं जरा एक मुश्किल में पड़ा हूं। पहले वह तुम मेरी हल कर दो। तो कोई भी पूछता कि क्या मुश्किल है? जो सत्य खोजने आया था, वह भी यह भूल जाता कि मैं सत्य खोजने आया हूं, मैं दूसरे की मुश्किल क्या हल करूंगा! लेकिन जब रिंझाई कहता कि तुम जरा पीछे पूछ लेना, मेरी जरा एक मुसीबत है, वह तुम हल कर दो। तो वह भी आदमी पूछता कि आपकी क्या मुश्किल है?
शिष्य बनने आया आदमी भी गुरु बनने की कोशिश करता है। वह भूल ही गया कि
हम पूछने आए थे। कहना था कि हम पूछने आए हैं, हम तुम्हारी मुश्किल क्या हल करेंगे! हम खुद मुसीबत में पड़े हैं। लेकिन रिंझाई ने लिखा है कि जिंदगी में हजारों लोगों से मैंने यह कहा और हर बार यही हुआ कि उस आदमी ने पूछा, कौन सी मुश्किल है, बोलिए? कि यह आदमी खोजने मेरे पास आया। पर उसने तरकीब बना रखी थी। मुश्किल ऐसी थी कि वह हल होने वाली नहीं थी।
असल में तो सभी मुश्किलें ऐसी हैं कि हल होने वाली नहीं हैं। कोई मुश्किल हल होने वाली नहीं है। क्योंकि मुश्किल कोई आदमी की बनाई हुई नहीं है, एक्झिस्टेंशियल है, अस्तित्व में है। आदमी की बनाई हुई हो, तो हम हल कर लें। पहेलियां आदमी की बनाई हुई हों, तो हम हल कर लें।
बच्चों की किताब होती है गणित की, तो ऊपर सवाल लिखा रहता है, पन्ना उलटाकर पीछे जवाब लिखा रहता है। जिंदगी में ऐसा कहीं किताब उलटाने का

उपाय नहीं कि उलटा लो जिंदगी की किताब, पीछे देख लो कि उत्तर क्या है।
इसीलिए तो जिंदगी में नकल नहीं चलती। जिंदगी में नकल का कोई उपाय नहीं है।
करिएगा कहां? किसकी नकल करिएगा? और उलटाकर देखने की कोई स्थिति नहीं है कि जिंदगी की किताब को उलटा लो और देख लो कि उत्तर क्या है! प्रश्न ही हैं, उत्तर कुछ है नहीं।
उसने एक सवाल बना रखा था। वह कहता कि सुनो, मेरी तकलीफ हल कर दो, तो मैं तुम्हारी कर दूंगा। आदमी आश्वस्त होता कि चलो ठीक है, एक आदमी तो मिला, जो कहता है, मैं तुम्हारी हल कर दूंगा। लेकिन उसे पता नहीं कि वह एक बड़ी कंडीशन साथ में रख रहा है कि पहले तुम मेरी तकलीफ हल कर दो, तो मैं तुम्हारी कर दूंगा।
तकलीफ यह थी, रिंझाई कहता है कि मैंने एक बोतल में एक मुर्गी का अंडा
रख दिया था। अंडा फूट गया। मुर्गी बड़ी होने लगी। मैं उसको बोतल के मुंह से खाना खिलाता रहा। अब मुर्गी बहुत बड़ी हो गई है। बोतल का मुंह छोटा है। मुर्गी को बाहर निकालना है और बोतल को तोड़ना नहीं है। कुछ रास्ता बताओ। बोतल तोड़नी नहीं है, बोतल कीमती है। और मुर्गी बड़ी हो गई है, फंस गई है बोतल में बिल्कुल। और मुंह बड़ा छोटा है। मुंह से निकल नहीं सकती, ध्यान रखना। मुंह बहुत छोटा है। वह हम सब कोशिश कर चुके, इसलिए यह मत कहना कि मुंह से निकाल लो। मुंह से निकलती नहीं है, बोतल तोड़नी नहीं है। और मुर्गी अगर ज्यादा देर रह गई तो मर जाएगी, जिम्मेदार तुम रहोगे। है कोई उत्तर?
वह आदमी कहता कि आप कैसी बातें कर रहे हैं!
अगर कोई आदमी कहता कि मैं कोशिश करूंगा, सोचता हूं, विचारता हूं, तो रिंझाई कहता कि बगल के कमरे में चले जाओ। ध्यान करो-- मेडीटेट। मुर्गी बंद है, जान संकट में है, देर मत लगाना। ध्यान तेजी से करना, गहरा करना। क्योंकि जान संकट में है, मुर्गी किसी भी क्षण मर सकती है। मुंह छोटा है, बोतल तोड़नी नहीं है! ध्यान करो।
कमरे के उस तरफ भी उसने एक दरवाजा रख छोड़ा था। जब आधा घंटे बाद वह दरवाजा खोलता, तो दूसरे दरवाजे से आदमी भाग गया होता। उनकी भी मजबूरी है। लौटकर रिंझाई दूसरों से कहता, दि गूज़ इज़ आउट। मुर्गी भाग गई। मुर्गी बोतल के बाहर निकल गई। बोतल खाली पड़ी है।
सिर्फ एक आदमी ने रिंझाई को एक दफा उत्तर दिया। लेकिन वह आदमी वह नहीं था, जो रिंझाई से कुछ पूछने आया हो। एक दिन सुबह एक आदमी आकर बैठ गया रिंझाई के पास। रिंझाई ने कहा, कुछ पूछना है? उस आदमी ने कहा कि तुम्हें कुछ बताना है? रिंझाई थोड़ा डरा। उसने कहा, हमें कुछ नहीं पूछना। हम तो उस आदमी की तलाश में हैं, जो कोई कुछ बताने को उत्सुक हो तो बता दे। रिंझाई डरा, यह आदमी खतरनाक है। या तो मुर्गी मार डालेगा या बोतल तोड़ देगा। फिर भी कोई उपाय न था। रिंझाई की इतनी पुरानी आदत थी कि उसने कहा, नहीं, कुछ बताना नहीं है। हम खुद एक मुसीबत में हैं। उसने कहा, बोलो! कही अपनी कथा उसने पूरी। जब पूरी कह चुका, तो उस आदमी ने रिंझाई की गर्दन पकड़ ली। रिंझाई ने कहा कि मुर्गी मेरे भीतर नहीं है, मुर्गी बोतल के भीतर है। उस आदमी ने कहा, मैं मुर्गी को निकाले देता हूं। उस आदमी ने कहा, मुर्गी बोतल के बाहर है, बोलो! रिंझाई ने कहा, है।
जीवन कोई पहेली नहीं है। जो उसे पहेली बनाते हैं, वे ही मुश्किल में
पड़ जाते हैं। जिंदगी कोई प्रश्न नहीं है। जो प्रश्न बनाते हैं, उन्हें उत्तर खोजना पड़ता है। सब उत्तर उलझाते चले जाते हैं।
जीवन एक खुला रहस्य है-- ओपन सीक्रेट। ध्यान रहे, दोहरे शब्द उपयोग करता हूं, ओपन सीक्रेट-- खुला रहस्य। जीवन बिल्कुल खुला है, आंख के सामने है, चारों तरफ। कहीं भी छिपा नहीं है। कोई पर्दा नहीं है। फिर भी रहस्य है। रहस्य और पहेली में फर्क होता है। पहेली का मतलब होता है, जो खुल सकती है। रहस्य का मतलब होता है, जो खुला हुआ है और फिर भी-- फिर भी खुला हुआ नहीं है। रहस्य का मतलब है, जो बिल्कुल खुला हुआ है और फिर भी इतना गहरा है कि तुम अनंत-अनंत यात्रा करो, फिर भी पाओगे कि सदा शेष रह गया। पूर्ण से पूर्ण बाहर भी निकल आए, तो भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। पूर्ण में पूर्ण लीन भी हो जाए, तो भी, तो भी पूर्ण उतना ही रहता है, जितना था।

इस रहस्यमयता, इस मिस्टीरियसनेस की सूचना देने वाला यह सूत्र है। यह इशारा है। यह इशारा है इस बात का कि जो इस सूत्र को राजी हो जाएगा, वह जीवन में प्रवेश कर सकता है। जो इस सूत्र को कहेगा कि नहीं, यह नहीं हो सकता, वह दरवाजे के बाहर ही रह जाएगा। वह दरवाजे के भीतर प्रवेश नहीं कर सकता। रहस्य है जीवन। रहस्य का मतलब है तर्कातीत। तर्क के नियम आदमी ने अपनी बुद्धि से खोजे हैं। तर्क के नियम कहीं प्रकृति में लिखे हुए नहीं हैं। प्रकृति तर्क के नियम सप्लाई नहीं करती। प्रकृति कोई तर्क का नियम नहीं देती। तर्क के नियम आदमी निर्मित करता है। कामचलाऊ हैं। लेकिन भूल जाते हैं हम कि कामचलाऊ हैं।
हमारे सब नियम ऐसे ही हैं, जैसे हमारे खेल के नियम होते हैं-- रूल्स आफ
दि गेम। शतरंज का खेल है-- घोड़ा है, हाथी है, सब हैं। सबकी चालें बंधी हैं। भारी गंभीरता से खिलाड़ी खेलते हैं। सच तो यह है कि शतरंज के खेल में जितने गंभीर लोग दिखाई पड़ते हैं, उतने शायद असली जिंदगी में भी दिखाई नहीं पड़ते। तलवारें खिंच जाती हैं। लकड़ी के घोड़े बिछाए हुए हैं। लकड़ी के हाथी बनाए हुए हैं। लकड़ी के प्यादे, राजा बनाए हुए हैं। मगर जब खेल में लीन होते हैं, तो यह बिल्कुल भूल जाते हैं कि यह बच्चों का काम कर रहे हैं। कोई घोड़ा नहीं है, कोई हाथी नहीं है, कोई राजा नहीं है, कोई प्यादा नहीं है, सब माना हुआ है। सब अज़म्शंस हैं।
ठीक जिंदगी के भी सब तर्क के नियम ऐसे ही हैं। सब माने हुए नियम हैं। कोई नियम नहीं है, जो प्रकृति ने हमें दिया है, जो जीवन ने हमें दिया है। हमने थोपे हैं। हमारे नियम वैसे ही हैं, जैसे सड़क पर चलने के, ट्रेफिक के नियम होते हैं। बाएं चलो, कि दाएं चलो। हिंदुस्तान में लोग बाएं चलते हैं, अमरीका में लोग दाएं चलते हैं। उनका नियम है कि दाएं चलो। अमरीका में बाएं चलो तो पुलिस का आदमी पकड़कर थाने ले जाएगा। इधर दाएं चले तो पुलिस का आदमी पकड़कर-- .। बड़े अजीब लोग हैं। लेकिन एक बात पक्की है कि कहीं न कहीं चलना पड़ेगा, दाएं चलो कि बाएं चलो। कोई भी नियम बनाओ। लेकिन एक नियम बनाना पड़ेगा, क्योंकि रास्ते पर भीड़ है और चलना है। धीरे-धीरे, बाएं चलते-चलते ऐसा लगता है कि बाएं चलने में कोई अल्टीमेटनेस, कोई आत्यंतिकता है; कि बाएं चलने में कोई बड़ी गहरी कोई व्यवस्था है। कोई व्यवस्था नहीं है। हमारी व्यवस्था है। ह्यूमन अरेंजमेंट है।
हमारे सब तर्क के नियम भी ऐसे ही हैं। हमारी व्यवस्था है। काम चलाने
के लिए बिल्कुल जरूरी हैं, यूटिलिटेरियन हैं। लेकिन धीरे-धीरे हम इतने फंस जाते हैं उनमें कि उनको पूरी जिंदगी के रहस्य पर फैलाने की कोशिश करते हैं। कोशिश करते हैं इस बात की कि जिंदगी हमारे नियम मानकर चले। और जिस दिन कोई आदमी जिंदगी को अपने नियम मनवाने लगता है, उसी दिन पागल हो जाता है। पागलपन का एक ही लक्षण है।
स्वस्थ मनुष्य मैं उसे कहता हूं, जो जिंदगी के रहस्य को मानकर चलता है। और पागल आदमी उसको कहता हूं, जो अपने नियमों को जिंदगी पर थोपने की कोशिश कर रहा है। फिर कठिनाई खड़ी होनी शुरू होती है। हमने सब थोपे हुए हैं हमारे नियम।
तर्क के एक-दो नियमों को हम समझ लें, तो इस सूत्र को समझने में आसानी
हो जाएगी।
तर्क के कुछ बुनियादी नियम हैं, जिसमें एक नियम उदाहरण के लिए। तर्क
का एक बुनियादी नियम है, अ अ है और अ ब नहीं हो सकता-- ए इज़ ए, ए कैन नाट बी बी। ठीक है। बिल्कुल ठीक है। अ अ है, अ ब नहीं हो सकता। लेकिन जिंदगी में ऐसी कोई चीज नहीं है, जो अपने से भिन्न में न बदल जाती हो। और जिंदगी में ऐसी कोई चीज नहीं है, जो अपने से विपरीत में भी न बदल जाती हो। जिंदगी में सब चीजें लिक्विड हैं, फिक्स्ड नहीं हैं, सब चीजें बदलती हैं। रात दिन बन जाती है, दिन रात हो जाता है। बचपन जवानी बन जाता है, जवानी बुढ़ापा हो जाती है। जिंदगी मौत बन जाती है। जहर अमृत हो जाता है कभी। सब औषधियां जहर हैं। बीमार के लिए अमृत बन जाती हैं।
जिंदगी में तरलता है, नियमों में होती है सख्ती। क्योंकि नियम जिंदा
तो होते नहीं। अगर एक-- .इस कमरे में हम इतने लोग बैठे हैं। अगर घंटेभर बाद मैं आऊं और मैं यह आशा करूं कि आप मुझे वहीं बैठे मिलेंगे जहां छोड़ गया था,

तो या तो मैं पागल हूं, या आप पागल होंगे। अगर लौटकर मैं आपको वहीं बैठा पाऊं, तो कुछ गड़बड़ है। या तो मुर्दा आदमी बैठे होंगे। जिंदा आदमी तो बदल गए होंगे।
एक गांव में ऐसी एक बार दिक्कत हो गई। एक तर्कशास्त्री-- और तर्कशास्त्रियों से जैसी दिक्कतें होती हैं उनके हिसाब लगाने बड़े मुश्किल हैं-- गया था सुबह-सुबह नाई की दुकान पर बाल बनवाने। बाल तो बनवा लिए। रुपया पूरा था। आठ आने दाम होते थे। नाई ने कहा कि कल ले जाना। तर्कशास्त्री ने सोचा कि कल! अगर यह आदमी बदल जाए, तो प्रमाण क्या है? स्वभावतः तर्कशास्त्री प्रमाण-- .। अगर यह आदमी कल बदल जाए, तो प्रमाण क्या है? अगर यह आदमी कल अपना धंधा ही बदल ले, समझ लो कि मिठाई की दुकान खोल ले, नाईबाड़ा बंद कर दे, तो अगर मैं किसी से कहूं भी कि मैंने इस आदमी से बाल बनवाए थे, तो लोग हंसेंगे, कहेंगे कि यह मिठाई वाला है! तो कुछ ऐसी तरकीब करूं कि यह आदमी न बदल पाए।
उसने बहुत खोजबीन की। देखा कि एक भैंस नाईबाड़े के सामने बैठी है। उसने कहा कि ठीक है। भैंस को समझाना बहुत मुश्किल है। भैंस काफी थिर चीज है। तर्क के नियमों जैसी। जमकर बैठती है। सड़क के कानून नहीं मानती, कोई नियम नहीं मानती। इसको नाई शायद ही समझा पाए। तर्कशास्त्री नहीं समझा पाए, तो नाई क्या समझा पाएगा! ठीक, पक्का निशान लगाकर कि भैंस सामने बैठी है, चला गया।
दूसरे दिन आया। देखा, अपनी भैंस खोजी, भैंस बैठी थी। सामने देखा, बोला
कि हो गई वही शरारत, जो होनी थी। सामने मिठाई की दुकान थी। दौड़कर मिठाई वाले की गर्दन पकड़ ली और कहा कि मुझे कल ही शक हो गया था, इसलिए इंतजाम मैं पक्का करके गया था। हद कर दी तूने भी, आठ आने के पीछे जाति तक बदल डाली! तर्कशास्त्री को पता नहीं कि भैंस तर्क के नियम नहीं मानती, फिक्स्ड नहीं है, रातभर में चल गई, मिठाई वाले के सामने बैठ गई। भैंस को क्या पता? तर्क के नियम तो मुर्दा हैं। मरे हुए हैं। जिंदगी जीवंत धारा है। जो उनको, तर्क के नियमों को, ऊपर बिछाकर जिंदगी को पकड़ने की कोशिश करता है, उसके हाथ में मरी हुई चीजें आती हैं। गलत चीजें आ जाती हैं।
नहीं, तर्क के जाल को तोड़कर जो जिंदगी में कूदता है, वही जिंदगी के रहस्य को जान पाता है, नहीं तो नहीं जान पाता। इसलिए यह सूत्र कहता है, तर्क के सब जाल तोड़ दो। यह सूत्र का इशारा मैं कह रहा हूं-- अभिप्राय-- अर्थ नहीं कह रहा हूं। अर्थ तो मैंने आपसे कहा। अभिप्राय है कि तर्क के सब नियम तोड़ दो। तर्क के नियम मानना हो, तो जिंदगी में जाना मुश्किल होगा। प्लेटो, यूनान का बहुत बड़ा तर्कशास्त्री हुआ। कहना चाहिए पिता। बड़ी एकेडेमी थी उसकी, जहां वह लोगों को तर्क सिखाता था। डायोजनीज नाम का एक फकीर-- बहुत मस्त फकीर, कम ही लोग-- .महावीर जैसा आदमी, नग्न ही रहता था-- वह भी एक दिन घूमता हुआ एकेडेमी में पहुंच गया। वहां क्लास चलती थी। प्लेटो समझा रहा था। प्लेटो बड़ा तर्कशास्त्री था।
हमारे मुल्क में प्लेटो के लिए जो नाम प्रचलित है, वह है अफलातून। इसलिए अगर कोई आदमी बहुत तर्क-वर्क की बात करने लगे, तो लोग कहते हैं कि बड़े अफलातून हो गए। अफलातून प्लेटो का नाम है। प्लेटून से अफलातून बन गया। बड़े अफलातून हो गए आप। प्लेटो इतना बड़ा तार्किक था कि अगर कोई भी तर्क करे-- गांव में भी-- तो लोग कह देते हैं कि बड़े अफलातून हो गए हो। उसे भी पता नहीं कि अफलातून किसका नाम है। वह तो एथेंस में हुआ है, ढाई हजार साल पहले।
डायोजनीज पहुंच गया एक दिन घूमता हुआ प्लेटो की एकेडेमी में, जहां वह तर्कशास्त्र पढ़ाता था। वह पढ़ा रहा था। एक विद्यार्थी ने खड़े होकर पूछा-- डायोजनीज पीछे खड़ा सुन रहा था-- एक विद्यार्थी ने खड़े होकर पूछा कि आदमी की परिभाषा क्या है? हाऊ यू डिफाइन मैन? आदमी की क्या व्याख्या करते हैं? तो प्लेटो ने कहा कि आदमी बिना पंखों वाला दो पैर का जानवर है, टू लेग्ड एनिमल विदाउट फीदर्स। व्याख्या तो हो गई। पंख नहीं हैं, दो पैर वाला जानवर है, बिना पंख के।
डायोजनीज खिलखिलाकर हंसा। प्लेटो ने पूछा कि आप क्यों हंस रहे हैं? उसने कहा कि मैं अभी तो इस परिभाषा का उत्तर भेजता हूं। वह बाहर गया। उसने

एक मुर्गे को पकड़ा। उसके सारे पंख नोचकर अलग फेंक दिए। मुर्गे को भेज दिया और कहा कि दिस इज़ योर डेफिनीशन आफ मैन-- टु लेग्ड एनिमल विदाउट फीदर्स। पंख नहीं हैं, दो पैर का जानवर है। प्लेटो से कहा उसने, परिभाषा फिर बदलो। और जब तुम दूसरी परिभाषा बनाओ तो मुझे भेज देना। मैं दूसरी परिभाषा का उत्तर भेजूंगा। तुम परिभाषा बनाओ मैं उत्तर भेजूंगा।
कहते हैं, प्लेटो ने फिर परिभाषा नहीं बनाई। यह झंझट का आदमी, मुर्गे
के पंख तोड़कर भेज दिए, और पता नहीं क्या करे! डायोजनीज कई बार उसके दरवाजे पर दस्तक देता था कि प्लेटो, कोई परिभाषा बनी? प्लेटो कहता, भई! अभी नहीं बना पाया। आखिर एक दिन प्लेटो घबरा गया और डायोजनीज से कहा कि मुझे माफ करो, गलती हो गई कि मैंने वह परिभाषा की। तुम कब तक मेरा पीछा करोगे! डायोजनीज ने कहा, मैं यही सुनना चाहता था कि माफी मांग लो। आदमी की क्या, पत्थर के टुकड़े की भी परिभाषा नहीं हो सकती, इनडिफाइनेबल। जीवन अव्याख्य है। इसमें किसी चीज की कोई व्याख्या नहीं हो सकती। इतना तुम स्वीकार कर लो, मैं जाऊं। नाहक मुझे भी परेशान होना पड़ रहा है तुम्हारी व्याख्या की वजह से।
तर्क के नियम तो होते हैं थिर, फिक्स्ड। जीवन होता है तरल, बहता हुआ।
एक तरंग दूसरी तरंग में बदल जाती है। जब तक तुम व्याख्या करो, तब तक कुछ और हो गया। जिस आदमी को तुमने क्रोधी कहा, जब तक तुमने क्रोधी कहा, वह क्षमा कर रहा है। फिर क्या करोगे? सच तो यह है कि जब तक तुमने कहा, यह आदमी क्रोधी है, तब तक क्रोध जा चुका होगा। इस जिंदगी में टिकता क्या है? तब तक क्रोध उतार पर होगा। तुम्हारी व्याख्या गलत हो जाएगी।
व्याख्या सब अतीत की होती है और जिंदगी सदा वर्तमान है। जिंदगी सदा बदल जाती है। सदा बदल जाती है। प्रतिपल बदल रहा है सब। और व्याख्याएं तो ठहर जाती हैं जमकर। व्याख्याओं में कोई ग्रोथ तो होती नहीं, कोई बदलाहट तो होती नहीं।
व्याख्याएं तो ऐसी हैं, जैसे हम फोटोग्राफ ले लेते हैं। मेरा किसी ने फोटोग्राफ ले लिया, तो व्याख्या फोटोग्राफ जैसी चीज है। मैं तो बूढ़ा होता जाऊंगा, फोटोग्राफ वैसा का वैसा ही बना रहेगा। जिंदगी तो जिंदा आदमी जैसी है, बदलती जाएगी। और व्याख्या पकड़कर जकड़ बन जाती है। वह रुक जाती है।
यह सूत्र कहता है, नहीं कोई व्याख्या है जीवन की, नहीं कोई तर्क है जीवन का। जीवन एक रहस्य है।
तर्तूलियन एक ईसाई फकीर हुआ। तो किसी ने तर्तूलियन को पूछा कि तुम ईश्वर को क्यों मानते हो? तुम्हारा कारण क्या है? तर्तूलियन ने कहा, कारण! जब मैंने जिंदगी में देखा कि कोई कारण किसी चीज के लिए नहीं है, तब मैंने सोचा कि ईश्वर को मानने में अब कोई हर्जा नहीं रहा। अकारण जब जिंदगी है पूरी, तो ईश्वर को भी अकारण माना जा सकता है। और अगर तुम नहीं मानते, पूछते ही हो मुझसे, तो मैं ईश्वर को इसलिए मानता हूं कि ईश्वर बिल्कुल तर्कशून्य है, एब्सर्ड है। जो शब्द उसने उपयोग किया। उसने कहा कि ईश्वर बिल्कुल एब्सर्ड है, इसलिए मैं भरोसा करता हूं कि वह ठीक होगा। क्योंकि मैंने सब नियम देखे छान-बीनकर, गलत पाए। सब तर्क के मैंने हिसाब देखे, गलत पाए। जितनी व्याख्याएं खोजीं, गलत पाईं। जिन-जिन बातों को मैंने बुद्धि से समझा, ठीक हैं, आखिर में गलत निकलीं। अब मैंने बुद्धि छोड़ दी। अब मैं निर्बुद्धि होकर मानता हूं।
श्रद्धा का यही अर्थ है। यह सूत्र श्रद्धा का सूत्र है, श्रद्धा का, फेथ का। श्रद्धा का अर्थ है, जंपिंग इनटु दि अननोन। श्रद्धा का अर्थ है, अज्ञात में छलांग। श्रद्धा का अर्थ है, समस्त नियमों, समस्त व्याख्याओं, समस्त परिभाषाओं को, समस्त गणनाओं को छोड़कर अमाप में, इम्मेजरेबल में, असीम में छलांग। बुद्धि को छोड़कर निर्बुद्धि में छलांग।
ध्यान रहे, जीवन का सत्य जिन्होंने बुद्धि से खोजा, वे तो हैं फिलासफर्स, दार्शनिक। वे कुछ नहीं खोज पाए आज तक। हजारों किताबें लिखी हैं दार्शनिकों ने, कोरे शब्दों का जाल। कुशल हैं वे शब्दों में। वे जाल भी फैलाते हैं कुशलता से। वे जाल इतना बड़ा फैलाते हैं कि आपको मुश्किल हो जाता है उसके बाहर निकलना। लेकिन कुछ भी उन्हें पता नहीं है-- कुछ भी उन्हें पता नहीं है।

जिन्होंने जीवन के सत्य को जाना, वे दूसरे लोग हैं-- वे हैं संत, वे हैं ऋषि। वे वे लोग हैं, जिन्होंने कहा कि शब्द में हम नहीं उतरते, हम तो अस्तित्व में ही उतरते हैं। क्यों हम जाएं पता लगाने कि गंगा क्या है? जब गंगा बह रही है, तो हम गंगा में ही क्यों न डूबकर देख लें कि गंगा क्या है? शास्त्र में लिखा होगा कि गंगा क्या है। ग्रंथालय में किताबें रखी होंगी, जिनमें लिखा होगा कि गंगा क्या है। लेकिन हम गंगा को ग्रंथालय में खोजने क्यों जाएं? जब गंगा ही मौजूद है, तो हम गंगा में ही उतरकर स्नान क्यों न कर लें! हम गंगा को गंगा में ही क्यों न जान लें!
दो रास्ते हैं जानने के। अगर मुझे प्रेम के संबंध में जानना हो, तो मैं पुस्तकालय में भी जा सकता हूं। वहां प्रेम के संबंध में बहुत कुछ लिखा हुआ रखा है। वह सब मैं जान ले सकता हूं। एक रास्ता और है कि मैं प्रेम में ही उतरूं। निश्चित ही पहला रास्ता सुगम है। इसलिए कमजोर लोग पुस्तकालय का रास्ता पकड़ लेते हैं। सुगम है। किताब में प्रेम को पढ़ना, कोई बड़ी कठिन बात है? बच्चे भी पढ़ सकते हैं। लेकिन प्रेम को जानना तो बड़ी आग से गुजरना है-- बड़ी तपश्चर्या से, बड़ी अग्नि-परीक्षा से।
पर प्रेम को जानना एक बात है और प्रेम के संबंध में जानना बिल्कुल दूसरी बात है। दोनों का कोई संबंध नहीं है। प्रेम को जानना एक बात है, प्रेम के संबंध में जानना बिल्कुल दूसरी बात है। सत्य को जानना एक बात है, सत्य के संबंध में जानना बिल्कुल दूसरी बात है। सत्य के संबंध में जो भी जाना जाता है, सब उधार, सब बासा है। सत्य को जानना एक और ही बात है। सत्य को जिन्हें जानना है, उन्हें अपनी बुद्धि से छलांग लगानी पड़ेगी।
एक मित्र दो दिन पहले मेरे पास आए। उन्होंने कहा कि मैं जो भी.ज़ो भी चीज सुनता हूं, उस पर ही मुझे शक होता है, संदेह होता है। आप भी जो कहते हैं, मुझे संदेह होता है। आप आगे भी जो कहेंगे, मैं अभी से कह देता हूं कि मुझे उस पर संदेह होगा। फिर भी मैं कुछ प्रश्न लाया हुआ हूं, इनके आप उत्तर दें। मैंने कहा कि फिर उत्तर लेकर क्या करोगे? क्योंकि तुम कहते हो कि जो
भी मैं कहूंगा, उस पर तुम्हें संदेह होगा। तुम अपने संदेह से रत्तीभर हिलोगे नहीं, तो मुझे क्यों परेशान करते हो? तुम अपने संदेह में जीयो। मुझसे पूछने क्यों आए हो? अगर संदेह ही करना है, तो किसी से पूछने मत जाओ। क्योंकि दूसरे से पूछोगे, तो दूसरा अपना जानना कहेगा, वह तुम्हारा जानना बन नहीं सकता, उस पर तुम्हें संदेह होगा। तुम मुझसे पूछने क्यों आए हो? जिंदगी चारों तरफ फैली है-- फूल खिले हैं, पक्षी नाच रहे हैं, आकाश में बादल उड़ रहे हैं, सूरज निकला है, तुम्हारे भीतर प्राण धड़क रहे हैं-- बाहर जीवन का अनंत विस्तार है। कूदो, जाओ, वहां जानो। मुझसे पूछने क्यों आए हो? और जब तुम कहते हो कि पूछकर भी संदेह तो मैं करूंगा ही, तो पूछना व्यर्थ है।
और एक बात कहना चाहूं उनसे कि संदेह करते रहोगे, बहुत अच्छा है। लेकिन
वह दिन कब आएगा, जब अपने संदेह पर संदेह करोगे? जब यह संदेह आएगा कि यह संदेह कहीं ले जाएगा कि नहीं? जिस आदमी को संदेह ही करना है, तो फिर पूरा कर ले-- देन डाउट दि डाउट इटसेल्फ। तब आखिर में अपने संदेह पर भी संदेह करो कि यह जो मैं संदेह कर रहा हूं, इससे कुछ मिलेगा? छोड़ो, मिलेगा कि नहीं। इतने दिन संदेह किया है, कुछ मिला? अगर इतने दिन संदेह करके कुछ नहीं मिला और संदेह पर संदेह पैदा नहीं होता, तो फिर संदेह पूरा नहीं कर रहे हो।
और ध्यान रहे, श्रद्धा दो तरह से आती है। या तो संदेह ही मत करो, जो कि अति कठिन है। या फिर संदेह पर भी संदेह करो। दो ही रास्ते हैं। या तो संदेह ही मत करो, कूद आओ। और या फिर संदेह ही करते हो, तो गहरा संदेह करो कि संदेह पर भी संदेह आ जाए। संदेह संदेह को काट दे और तुम संदेह से खाली हो जाओ। लेकिन किसी भी तरह-- चाहे कोई संदेह न करके, या कोई संदेह बहुत करके-- जिस दिन भी संदेह के बाहर जाता है, उसी दिन बुद्धि के बाहर जाता है। बुद्धि संदेह का सूत्र है।
ऐसा नहीं है कि आपकी बुद्धि संदेह करती है। बल्कि ऐसा है कि आपकी बुद्धि संदेह है। इट इज़ नाट दैट योर इंटलेक्ट डाउट्स, योर इंटलेक्ट इज़ दि डाउट। वह बुद्धि ही संदेह है।
जो सरल हों, वे इस सूत्र को समझकर संदेह न करें। जो जटिल हों, वे इस सूत्र को समझकर पूरा संदेह करें-- टोटल डाउट। दोनों स्थितियों में

श्रद्धा उपलब्ध हो जाएगी। दोनों स्थितियों में छलांग लग जाएगी और फेथ, श्रद्धा का जन्म हो जाएगा।
यह सूत्र श्रद्धा का सूत्र है। इसे वे समझेंगे, जो श्रद्धा को समझेंगे। जो तर्क को समझेंगे, वे नहीं समझ पाएंगे, क्योंकि तर्क तो इसमें कहीं बैठेगा नहीं। पूर्ण से पूर्ण निकल आता है, पीछे पूर्ण बच जाता है! यह नहीं हो सकता। यह कैसे होगा? तर्क नहीं मानेगा कि यह हो सकता है। हां, श्रद्धा मान लेगी।
पर श्रद्धा बड़ी सरलता है। श्रद्धा अति सरलता है। श्रद्धा ट्रस्ट है, अस्तित्व के ऊपर भरोसा है। कि जिस अस्तित्व ने मुझे जन्म दिया, जिस अस्तित्व ने मुझे बड़ा किया, जिस अस्तित्व ने मुझे शक्ति दी, सोच-विचार दिया, प्रेम दिया, हृदय दिया; जिस अस्तित्व ने मुझे इतना दिया, उस अस्तित्व पर थोड़ा भरोसा मैं भी दे सकता हूं या नहीं! जिस अस्तित्व ने मुझे जीवन दिया, उसको मैं श्रद्धा भी नहीं दे सकता? जिसने मुझे प्राण दिए, जिसने मुझे होश दिया, जिसने मुझे चेतना दी, उसको मैं थोड़ा सा मैत्रीपूर्ण भरोसा भी नहीं दे सकता? एक फ्रेंडली ट्रस्ट भी नहीं दे सकता? तो फिर कृतघ्नता की सीमा आ गई। तो फिर अनग्रेटफुलनेस की सीमा आ गई। फिर अकृतज्ञ होने की हद हो गई।
यह सूत्र पढ़कर जिसको यह ख्याल न आए कि यह श्रद्धा की मांग करता है, इशारा करता है कि श्रद्धा से ही वह जीवन का अनंत द्वार खुलेगा, श्रद्धा से ही उस जीवन के शिखर पर पहुंचना होगा। यह इसका अभिप्राय है। इसका अंतिम सूत्र अभिप्राय का।
क्यों, पूर्ण की क्यों बात? शुरू में पूर्ण की बात, अंत में पूर्ण की बात, पूर्ण की यह बात क्यों? जिंदगी में तो सब अपूर्ण मालूम पड़ता है, सब अपूर्ण। अच्छा होता कि अपूर्ण की बात करते, तो वह तथ्य होता-- रिअलिस्ट, यथार्थवादी होता। जीवन में तो कहीं कुछ पूर्ण मिलता नहीं। न कोई व्यक्ति पूर्ण दिखाई पड़ता है, न कोई प्रेम पूर्ण दिखाई पड़ता है, न कोई शक्ति पूर्ण दिखाई पड़ती है, न कोई आकार पूर्ण दिखाई पड़ता है। जीवन में तो सब अपूर्ण है। और ईशावास्य के ऋषि को क्या सूझा कि पूर्ण से चर्चा शुरू करता है और पूर्ण पर ही चर्चा पूरी करता है! इसलिए जो यथार्थवादी हैं, वे कहेंगे, अनरियलिस्टिक, यह कोई यथार्थवादी बात नहीं है। यह काल्पनिक आदर्श में, आकाश में उड़ने वाले लोगों की बातें हैं। कहां है पूर्ण?
नहीं, लेकिन यह इशारा है। यह इशारा इस बात का है कि जहां भी आपको अपूर्ण दिखाई पड़ता हो, अपूर्णता आपकी दृष्टि में होगी, अपूर्ण कहीं भी नहीं है। अपूर्ण कहीं है ही नहीं। और अपूर्ण हमें सब जगह दिखाई पड़ता है। अपूर्णता हमारी दृष्टि में है।
हमारी हालत ऐसी है, जैसे कोई आकाश को एक खिड़की से देखे, अपने घर की खिड़की से। हम सभी देखते हैं। घर की खिड़की से कोई आकाश को देखे, तो आकाश भी खिड़की के आकार में कटा हुआ मालूम होगा। स्वभावतः, खिड़की का ढांचा आकाश का ढांचा हो जाएगा। स्वभावतः, खिड़की की सीमा आकाश की सीमा बन जाएगी। और अगर किसी ने खिड़की के बाहर निकलकर, द्वार-दरवाजे के बाहर निकलकर कभी खुले आकाश को न देखा हो, तो अगर वह यह कहे कि आकाश चौखटा है, तो कुछ गलती है? कोई गलती तो नहीं है। सदा आकाश चौखटा दिखाई पड़ा है। अपनी खिड़की से देखा तभी चौखटे में कसा हुआ दिखाई पड़ा।
लेकिन यह ख्याल आपको आना मुश्किल होगा कि आकाश पर कोई चौखटा नहीं है। चौखटा आपकी खिड़की पर है। आकाश के ऊपर कोई फ्रेम नहीं है। फ्रेम आपका दिया हुआ है। आकाश तो बिल्कुल निराकार है।
लेकिन नहीं, मकान के बाहर जाकर भी आकाश निराकार कहां दिखाई पड़ता है! चौखटा जरा बड़ा हो जाता है, पूरी पृथ्वी का हो जाता है। घर के बाहर भी निकलकर आकाश निराकार नहीं दिखाई पड़ता। सिर्फ चौखटा बड़ा हो जाता है, पृथ्वी का हो जाता है, इसलिए आकाश चारों तरफ पृथ्वी को घेरे हुए गोल दिखाई पड़ता है-- गुंबज की भांति।
मंदिरों के गुंबज उसी आधार पर बनाए गए हैं। फिर चौखटा। अब भी आप खिड़की
के भीतर खड़े हैं। खिड़की बड़ी हो गई, पृथ्वी की हो गई। जाएं, बढ़ें आगे, आकाश कहीं पृथ्वी को छूता नहीं। घूमें पूरी पृथ्वी के चारों ओर, आकाश कहीं

पृथ्वी को छूता नहीं। कहीं कोई गोल चौखटा नहीं है। कोई क्षितिज, कोई हॉराइजन है नहीं। हॉराइजन बिल्कुल वैसा ही झूठ है, जैसे कि आपकी खिड़की का चौखटा आकाश का चौखटा नहीं है, झूठ है।
पर छोड़ें पृथ्वी को भी। अंतरिक्ष यान में ऊपर उठ जाएं। तब भी जो आप देखेंगे, वह भी एक स्थिति का दर्शन होगा-- फ्राम ए स्टेट। एक जगह से देखेंगे आप। वह जगह ही उसकी सीमा बन जाएगी। वह जगह कितनी ही बड़ी हो, वह जगह उसकी सीमा बन जाएगी।
फिर कहां जाएं, जहां से निराकार का दर्शन हो, पूर्ण का दर्शन हो?
उपनिषद के ऋषि कहते हैं, एक ही जगह है, वह अपने भीतर, जहां कोई खिड़की नहीं है, जहां कोई चौखटा नहीं है। छोड़ें सब इंद्रियों को, क्योंकि जहां इंद्रियां रहेंगी, वहां चौखटा रहेगा। क्योंकि इंद्रियां चौखटा निर्मित करती हैं। इंद्रियां खिड़कियां हैं। उन खिड़कियों से हम देखेंगे कहीं भी, खिड़की कितनी ही बड़ी कर लो, आंख के ऊपर चश्मा लगा लो, चश्मे के ऊपर दूरबीन लगा लो, सब कुछ करो, लेकिन खिड़की बड़ी होती जाती, खि.ड़की समाप्त नहीं होती। लेकिन आंख बंद कर लो। भीतर चले जाओ। आंख को छोड़ो, रहित हो जाओ आंख के। कान को छोड़ो, रहित हो जाओ कान के। छोड़ो हाथ-पैर को, रहित हो जाओ शरीर के। भीतर चले जाओ, वहां भीतर फिर निराकार, पूर्ण का अनुभव होता है।
यह ऋषि ने जो पूर्ण की बात कही है, यह भीतर के पूर्ण को जानकर ही पता चलता है कि सही है। और जिसे भीतर का पूर्ण पता चल गया, फिर वह कहीं भी चला जाए, कैसी ही खिड़कियों के भीतर चला जाए-- .। जिसने बाहर निकलकर आकाश एक दफा देख लिया, एक दफा, वह कैसी ही छोटी खिड़की के पीछे खड़ा हो जाए, वह भलीभांति जानता है कि जो आकाश चौखटे में दिखाई पड़ रहा है, वह चौखटा मेरी खिड़की का है, आकाश का नहीं है। एक बार जिसने भीतर के पूर्ण को देख लिया, उसे सब जगह पूर्ण दिखाई पड़ने लगता है। कितने ही चौखटों में बंद, कितने ही कारागृहों में बंद। वह जानता है कि कारागृह ऊपर से बैठे हुए हैं, भीतर निराकार मौजूद है।
इसलिए ऋषि पूर्ण से बात शुरू करता है और पूर्ण पर ही समाप्त करता है। लेकिन हम तो अपूर्ण में ही जीते हैं, अपूर्ण में ही शुरू करते, अपूर्ण में ही समाप्त करते हैं। इसलिए हमारा इस सूत्र से तालमेल कहां बैठेगा! हम तो पीठ करके खड़े हैं, छत्तीस के आंकड़े की तरह। उपनिषद के ऋषि खड़े हैं, उनसे हम पीठ लगाए हुए खड़े हैं। उनके शब्द हमें सुनाई पड़ जाते हैं, उनके शब्द हम कंठस्थ कर लेते हैं। लोग सुबह उठकर सूत्र पढ़ लेते हैं। मगर पीठ ऋषि से लगी रहती है। फिर जो अर्थ निकलते हैं, वे व्यर्थ हो जाते हैं।
मैं अंतिम बात आपसे यह कहना चाहता हूं कि यह पूर्ण की बात ठीक ही कही है। यही है सच, यही है सत्य। पूर्ण ही है सब ओर। सभी कुछ पूर्ण है। अपूर्ण के होने का उपाय नहीं है। अपूर्ण होगा कैसे? अपूर्ण करेगा कौन? वही है अकेला, कोई दूसरा नहीं है, जो अपूर्ण कर सके। वही है अकेला, सीमित कोई करेगा कौन? सीमा सदा दूसरे से बनती है।
आपके घर की सीमा, आप सोचते होंगे, आपके घर से बनती है। तो समझ लेना, गलत सोचते हैं। आपके घर की सीमा आपके पड़ोसी के घर से बनती है, आपके घर से नहीं बनती। सीमा सदा दूसरे से बनती है। चूंकि परमात्मा अकेला। अस्तित्व एक। जीवन की धारा एक। अन्य तो कोई भी नहीं है। दूसरा कोई भी नहीं है। कौन बनाएगा सीमा? कौन करेगा अपूर्ण?
नहीं, असीम है अस्तित्व, पूर्ण है अस्तित्व-- एब्सोल्यूट, निरपेक्ष।
पर इसे हम जान पाएंगे तभी, जब भीतर इस पूर्ण की झलक मिल जाए। तब इसकी झलक सब जगह मिलने लगती है। एक बूंद को भी जिसने अपने भीतर जान लिया उस पूर्णता की, वह फिर उसके अनंत-अनंत सागरों के रहस्य को पा जाता है।
पूर्ण से निकलता है पूर्ण। पूर्ण में ही लीन हो जाता है। बीच में आता
है अपूर्ण, हमारी बुद्धि के चौखटों, इंद्रियों के चौखटों से निर्मित होकर। छोड़ें उन चौखटों को। हटें थोड़ा उनके पार। पीछे सरकें, दूर, अतीत हों, ट्रांसेंड करें, अतिक्रमण करें, और पूर्ण में प्रतिष्ठा हो जाती है। और जिसकी है पूर्ण में प्रतिष्ठा, वही समझ पाएगा अर्थ ईशावास्य का कि सब कुछ प्रभु है, सब कुछ प्रभु का है। मैं नहीं हूं, तू ही है।
आज इतना ही।

अब हम अंत में भीतर की यात्रा पर निकलेंगे। दो मिनट रुक जाएं। दो-तीन बातें-- अंतिम दिन है-- इसलिए ध्यान के लिए आपसे कह दूं। आखिरी दिन है, दो- तीन बातें।
एक तो, छह दिन के प्रयोग ने उस जगह आपको ला दिया है कि आज मैं इस प्रयोग में एक छोटी सी बात और जोड़ना चाहता हूं। उसके जोड़ते ही बहुत विस्फोट होगा। बहुत एक्सप्लोजन होगा। उसके लिए तैयार रहें। वह छोटी सी बात है, आज जब आप मेरी तरफ देखेंगे, तो मेरी तरफ देखें भी-- अपलक, पलक नहीं झपनी है-- नाचें भी, और हू, हू, हू की हुंकार भी करें।
यह हुंकार आपके भीतर सोई हुई कुंडलिनी पर गहरी चोट करती है। सूफियों
ने अल्लाहू का बड़ा गहरा प्रयोग किया है। अल्लाहू से शुरू करेंगे वे, फिर धीरे-धीरे अल्ला छूट जाएगा और हू, हू, हू, रह जाएगा।
इतने जोर से हू कहें-- .ख्याल करें, जैसे ही आप हू कहेंगे, वैसे ही आपकी नाभि सिकुड़ जाएगी और नाभि के नीचे जोर से चोट पड़ेगी। हू-- पूरी नाभि सिकुड़कर चोट करेगी। वहीं कुंडलिनी का वास है। उस पर जोर से धक्का पड़ेगा। अब हम इस हालत में हैं-- करीब-करीब नब्बे प्रतिशत मित्र-- कि उन्होंने इसकी चोट की, कि उनके भीतर से ऊर्जा तेजी से ज्योति की लपट की तरह ऊपर की ओर उठेगी। जब लपट की तरह ऊपर की ओर उठेगी ज्योति, तब मैं आपको हाथ से इशारा करूंगा। मेरे इशारे के साथ बिल्कुल पागल हो जाना है। जब मैं नीचे से ऊपर की तरफ हाथ ले जाऊं, तब अपने भीतर अनुभव करना कि ऊर्जा उठती है, लपट की तरह आग ऊपर जा रही है। सारे प्राण ऊपर उठ रहे हैं। ऊर्ध्वगमन हो रहा है। चिल्लाना हू, नाचना, कूदना, पूरी शक्ति लगाना।
और जब मुझे लगेगा कि आप उस जगह आ गए बहुत से मित्र, जहां से शक्तिपात
हो सकता है, कि परमात्मा की शक्ति भी आप पर उतर सकती है, तब मैं ऊपर हाथ उठाकर नीचे की तरफ करूंगा। जब मैं ऊपर हाथ उठाकर नीचे की तरफ करूं, तब जितनी सामर्थ्य आपमें हो, उसमें से रत्तीभर बचाना मत, पूरी लगा देना।
जो मित्र ऊपर बैठे रहते हैं, उनको बैठे नहीं रहना है, उनके बैठने से हमें बाधा पड़ती है। क्योंकि उन्हें बैठे देखकर बाकी लोग शिथिल होते हैं।